हिंदी साहित्य : कुछ विचार

लेखक
डॉ० प्रेमनारायण टंडन, पी-एच० डी०,
लखनऊ विश्वविद्यालय

सितंबर, १९५७

प्रथम संस्करण : ५५० प्रतियाँ
मूल्य—साढ़े सात रुपए

प्रकाशक—हिंदी साहित्य भंडार,
गंगाप्रसाद रोड, लखनऊ

मुद्रक—विद्यामंदिर प्रेस
रानीकटरा, लखनऊ

उसे

जिससे साहित्य-साधना की प्रेरणा मिलती है

और

जो कितने निकट होकर भी कितनी दूर है।

निवेदन

प्रस्तुत संकलन के लेख पिछले सत्रह-अठारह वर्षों में, समय-समय पर विभिन्न अभिनंदन-ग्रंथों, पत्र-पत्रिकाओं अथवा पुस्तकों में प्रकाशित होकर हिंदी-जगत के सामने आ चुके हैं। आरंभ में इनके प्रकाशन से आत्माभिव्यंजन-वृत्ति को सहज शांति मिली थी; आज, इस संकलित रूप में, अध्ययनशील पाठक को यदि ये हिंदी-साहित्य का परिचय कराने में अथवा अध्येता में तत्संबंधी रुचि जाग्रत करने में, कुछ भी सहायक हो सके, तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

रानीकटरा,
लखनऊ

प्रे० ना० टंडन

हिंदी साहित्य : कुछ विचार

प्रथम भाग

हिंदी कविता

लेख-सूची

प्रथम भाग : हिंदी कविता

द्वितीय भाग : हिंदी गद्य

व्रजभाषा की विशेषताएँ

भाषा की व्यंजना-शक्ति-वृद्धि के लिए विशाल शब्द-भांडार के अतिरिक्त कुछ और विशेषताएँ भी अपेक्षित होती हैं। पंद्रहवीं शताब्दी की व्रजभाषा-रचनाओं में ही हमें इस भाषा की उन विशेषताओं के बीज विद्यमान मिलते हैं और ज्यों-ज्यों उसका क्षेत्र विस्तृत होता गया, कवियों द्वारा उसका व्यापक प्रयोग किया जाने लगा, त्यों-त्यों उसका रूप निखरता आया और उसके आकर्षण की वृद्धि होती गयी। सूक्ष्म से सूक्ष्म मनोभावों और व्यापारों की व्यंजना में तो वह समर्थ हो ही गयी, आंतरिक शक्ति-संपन्नता के साथ-साथ उसका वाह्य सौंदर्य भी विकसित हुआ। सगुण भक्ति के तत्कालीन आंदोलन ने उसके इस विकास में महत्वपूर्ण योग दिया। श्रीकृष्ण की भक्ति के साथ ही उनकी लीला-भूमि की जन-भाषा का आदर करना भी उनके भक्तों, उपासकों और चरित-गायक कवियों के लिए स्वाभाविक ही था। आगे चल कर तो पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दियों की धार्मिक और सांस्कृतिक विचार-धाराओं के अध्ययन के लिए व्रजभाषा-साहित्य ही एकमात्र रोचक और उपयोगी, सरस और प्रामाणिक साधन रह गया। यहाँ, संक्षेप में, व्रजभाषा की उन विशेषताओं की चर्चा की जायगी जिनके कारण वह लगभग पाँच सौ वर्ष तक, केवल व्रजप्रदेश की ही नहीं, सारे उत्तरी भारत की सबसे व्यापक भाषा बनी रही और जिनसे आकृष्ट होकर व्रजप्रदेशीय अथवा कृष्णभक्त कवियों ने ही नहीं, सुदूरवर्ती और भिन्न भाषा-भाषी सहस्रों कवियों ने उसे अभिव्यक्ति के माध्यम-रूप में ससम्मान और सहर्ष स्वीकार किया। इन सबके सत्प्रयत्न के फलस्वरूप व्रजभाषा का साहित्य, संस्कृत और तामिल को छोड़ कर, कदाचित् समस्त भारतीय भाषाओं के साहित्यों से अधिक व्यापक और समृद्ध है। स्थूल रूप से, व्रजभाषा के इन गुणों की संख्या छह मानी जा सकती है—लचीलापन, ग्रहणशीलता, समृद्धि, माधुर्य, संगीतमयता और संक्षेपता।

(क) लचीलापन—

भाषा की प्रमुख आवश्यकता शब्द-समूह-संबंधी होती है। जातीय विकास और नित्य नूतन संबंधों के कारण सभी भाषा-भाषियों का परिचय नये-नये भावों और नवीन उक्तियों से होता है जिनको अधिक से अधिक स्पष्टता और सुबोधता के साथ अभिव्यक्त करनेवाले शब्दों की आवश्यकता पड़ती रहती है। भाषा का लचीलापन वह गुण है जो ऐसे अवसर पर देशी-विदेशी भाषाओं के शब्दों को स्व-भाषिक संपत्ति बनाने में सहायक होता है। प्राय: सभी भाषाओं की प्रकृति मूलत: भिन्न होती है और उनके शब्दों का निर्माण, स्थानीय वातावरण से प्रभावित रहने के कारण, भिन्न रीति से होता है। वर्णमाला की कुछ ध्वनियों का विविध देशों में अलग-अलग रूप से उच्चरित होना वातावरण के इसी प्रभाव का परिणाम है। लचीलेपन के गुण से युक्त भाषा, नये नये उपयोगी और आवश्यक शब्दों का विदेशी अथवा विभाषीपन निकाल कर उन्हें अपनी प्रकृति के अनुरूप बनाने में सहज ही समर्थ हो जाती है। इस गुण की सहायता से शब्दों को तोड़ने-मोड़ने की, भाषा का रूप बिगाड़नेवाली क्रिया में तो मुक्ति मिल ही जाती है, पर्यायवाची या असमर्थ समानार्थक शब्दों के प्रयोग की विवशता से भी वह बच जाती है और अपनी दीनता दिखा कर समवर्गियों के सम्मुख उसे हाथ भी नहीं फैलाना पड़ता। इस प्रकार दूसरी भाषा के ऋण या उपकार के बोझ से सर्वदा बची रह कर वह अपना शब्द-भांडार सतत भरा करती है।

यह तो हुई विभाषीय शब्दों की बात। अपने ही शब्दों को आवश्यकतानुसार छोटे-बड़े, सरल-मधुर रूप देने में भी किसी भाषा का लचीलापन बहुत काम आता है। व्रजभाषा के कवियों को भक्ति, धर्म और दर्शन-संबंधी मूल ग्रंथों का अध्ययन करने के लिए मुख्यत: संस्कृत भाषा का आश्रय लेना पड़ता था। अपनी भाषा की व्यंजना-शक्ति की वृद्धि और शब्द-भांडार की पूर्ति संस्कृत के तत्सम शब्दों का आश्रय लेने पर ही संभव है, इस बात का अनुभव भी वे बराबर कर रहे थे। परंतु उनके सामने समस्या यह थी कि अनेक बड़े-बड़े, क्लिष्ट और कठोर उच्चारणवाले तत्सम शब्दों को, अपनी भाषा की मधुरता और सुगमता की रक्षा करते हुए किस प्रकार अपनाया जाय। अंत में जन-साधारण में प्रचलित उनके अर्द्धतत्सम और तद्भव रूपों को अपनाकर, और अपनी भाषा के लचीलेपन के सहारे, वैसे ही अनेक शब्दों को सुगम और कर्णप्रिय रूप देकर, व्रजभाषा - कवियों ने यह समस्या हल की। व्रजमंडल के

निकटवर्ती प्रदेशों की विभाषाओं और बोलियों के अनेक उपयोगी शब्दों को अपनाने में भी इसी लचीलेपन का सहारा लिया गया जिसके फलस्वरूप ब्रजभाषा का शब्द-कोश शीघ्र ही बढ़ने लगा।

काव्य के रचयिता को छंद के नियमों की दृष्टि से एक ही शब्द के छोटे-बड़े लघ्वंत और दीर्घांत रूपों की समय-समय पर आवश्यकता पड़ती है। तत्सम शब्दों के स्थान पर अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग करने की उक्त प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप एक-एक शब्द के अनेक-अनेक रूप प्रयोग-कर्त्ता को सहज ही प्राप्त हो जाते हैं, जैसे 'कृष्ण' के कान्ह, कान्हर, कान्हा, कन्हैया, कन्हवा; 'यशोदा' के जसुदा, जसो, जसोदा, जसोवै; 'हृदय' के हिउ, हिय, हियरा, ही, हीय; 'नवनीत' के नवनी, नैनू, नौनी, लवनी, लौनी आदि। ब्रजभाषा में कारक-चिह्नों की विविधता भी इस प्रकार के अनेक रूप-निर्माण में प्रायः सहायक होती है।

(ख) ग्रहणशीलता—

साहित्यिक भाषा का प्रतिष्ठित पद प्राप्त करने के पश्चात् भाषा का क्षेत्र क्रमशः विकसित होने लगता है। अपने सीमित भू-प्रदेश से बाहर निकलने पर स्वभावतः निकट और दूरवर्ती विभाषाओं से उसका संपर्क ही नहीं, कभी-कभी संघर्ष भी होता है। जिन विभाषाओं की अभिव्यंजना-शक्ति पर्याप्त विकसित नहीं होती, वे तो एक प्रकार के स्वार्थ के कारण किसी समर्थ भाषा के विस्तार का प्रायः स्वागत ही करती हैं; परंतु जो विभाषा साहित्यिक भाषा की विशेषताओं से युक्त होती है, वह सहज ही किसी समर्थ भाषा की अधीनता नहीं स्वीकार करती। ऐसी स्थिति में, अपना क्षेत्र विस्तृत करने के लिए उसी विकासोन्मुख भाषा को सफलता मिलती है जिसमें इतनी उदारता हो कि संपर्क में आनेवाली साहित्यिक भाषाओं की ही नहीं, सामान्य विभाषाओं और जन-बोलियों की भी वे विशेषताएँ ग्रहण करने को प्रस्तुत रहे जो उसकी प्रकृति से मेल खाती हों, जिनका उसमें अभाव हो अथवा जो विद्यमान प्रयोगों को विशिष्टतायुक्त बना सकती हों। ब्रजभाषा आरंभ से ही ग्रहणशीलता की ऐसी नीति में उदार रही है। कन्नौजी के क्रिया के भूतकालिक रूप में 'यो' के स्थान पर 'ओ'— जैसे 'गयो-गओ'; बुंदेलखंडी के अनुस्वारयुक्त सर्वनाम-रूप और 'ड़' के स्थान

पर 'र' का प्रयोग; अवधी के 'बी' से समाप्त होनेवाले तथा अनेक लब्धंत रूप; पंजाबी के 'प्यारी' (महँगी) जैसे प्रांतीय प्रयोग और अरबी-फारसी जैसी विदेशी भाषाओं के अनेक शब्द व्रजभाषा ने सहज ही ग्रहण कर लिये। इनमें जो शब्द और प्रयोग व्रजभाषा की प्रकृति से मेल खाते थे, वे ज्यों के त्यों गृहीत हो गये और शेष को उदारतापूर्वक व्रजभाषा ने ऐसा रूप दे दिया कि वे उसी की संपत्ति बन गये, उसी के व्याकरण से शासित होने लगे। साहित्यिक रचनाओं में स्वतंत्रतापूर्वक प्रयुक्त होने पर इतरता या भिन्नता से रहित होकर ऐसे विदेशी या विभाषीय शब्द व्रजभाषा के रंग में उसी प्रकार रँग गये, जिस प्रकार हिंदू और अहिंदू देशी-विदेशी मतावलंबी अनेक व्यक्ति श्रीकृष्ण की भक्ति में लीन होकर एक ही संप्रदाय के अभिन्न अंग बन गये थे।

इस प्रसंग में व्रजभाषा की एक विशेषता यह भी है कि उदारता-जन्य ग्रहणशीलता के अनुरूप सदैव आचरण करने पर भी वह अपने निजत्व को सुरक्षित रख सकी; उसका रूप आवश्यकतानुसार किंचित परिवर्तित या विकसित भले ही हो गया हो, उसके व्यावहारिक नियमों के कुछ अपवाद भले ही मिलते हों, परंतु वह वस्तुतः विकृत नहीं हो पाया। और इसी का यह शुभ परिणाम था कि काव्य-ग्रंथों के आधार पर ही उसका अध्ययन और प्रयोग करनेवाले सुदूरप्रदेशीय कवि भी ठेठ व्रजभाषा-भाषी साहित्यकारों-जैसी भाषा लिखने में समर्थ हो सके और उन्होंने अपनी मातृभाषा के शब्दों और प्रयोगों को व्रजभाषिक प्रवृत्ति के अनुरूप बनाने में महत्वपूर्ण योग भी दिया।

(ग) समृद्धि—

व्रजभाषा मूल रूप में उस भू-भाग की जन-भाषा थी जो उसके आविर्भाव के लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व से भारतीय संस्कृति, धर्म और साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योग देता रहा था। संस्कृत, शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश का पर्याप्त साहित्य यहीं रचा गया था। फलतः आरंभ से ही व्रजभाषा का शब्द-कोष समृद्ध रहा, उसकी पद-योजना, वाक्य-विन्यास तथा शैली परिष्कृत ही नहीं, सुगम भी रही। उसके इस गौरवपूर्ण उत्तराधिकार को सदैव सम्मान की दृष्टि से देखा गया है। उक्त तीनों पूर्ववर्ती भाषाओं के साथ-साथ कन्नौजी; बुंदेलखंडी, राजस्थानी, अवधी आदि निकटवर्ती स्व-देशीय और अरबी-फारसी

जैसी विदेशी भाषाओं के अनगिनती शब्द और प्रयोग मिलजुलकर उसकी समृद्धि की निरंतर वृद्धि करते रहे। अतएव व्रजभाषा में सभी प्रकार के भावों को लेकर यथोचित रूप में वांछनीय प्रभाव डालनेवाली रचना आरंभ ही से हो सकी। शृंगार, करुण और शांत रसों की सरस और सुकोमल भावनाओं की व्यंजना द्वारा पाठक को रस-मग्न करने में जहाँ वह समर्थ को सकी, वहीं कठोर और परुष ओजत्व-व्यंजक तथा प्रभावोत्पादक पद-योजना-द्वारा वीर और रौद्र जैसे उद्भट रसों की ओजस्विनी कृतियाँ प्रस्तुत करने में भी उसे अभीष्ट सफलता मिली। आशय यह कि अवसर और विषय के अनुकूल भावों की अभिव्यक्ति में समर्थ होना ही भाषा की समृद्धि की प्रधान कसौटी है और व्रजभाषा इसमें सर्वथा खरी उतरती है।

(घ) माधुर्य—

भागीरथी की जलधारा के समान वाक्धारा का प्रवाह भी आदि काल से चला आ रहा है। उद्गम के समीपवर्ती प्रदेश के ऊबड़खाबड़ मार्ग के अगणित प्रस्तर-खंड, एक दूसरे को ठोकर देते हुए, जलधारा के साथ बहते हैं और सैकड़ों मीलों की यात्रा के पश्चात् समतल भूमि में आते-आते बहुत चिकने, आकर्षक और उपयोगी हो जाते हैं। शब्दों का इतिहास भी इन प्रस्तर खंडों की गाथा से मिलता-जुलता है। शताब्दियों तक जो शब्द प्रयोग में आते रहते हैं, उनकी कर्णकटुता और दुरूहता अप्रत्यक्ष रूप से दूर होती रहती है। विद्वानों की कोई समिति बैठकर इनको कोमल और श्रुतिमधुर बनाने के लिए प्रस्ताव नहीं पास करती; यह कार्य लेखकों और कवियों द्वारा व्यक्तिगत रूप से ही नहीं, जन-साधारण द्वारा सामूहिक रूप से भी, परंतु सर्वथा अलक्षित गति से, बराबर होता रहता है। दैवी प्रतिभा की भाँति श्रवण और नेत्रेंद्रिय की विशेष शक्ति भी कुछ लोगों को वरदान-रूप में प्राप्त रहती है। जिनकी श्रवणशक्ति तीव्र और विशिष्टतायुक्त होती है, वे शब्दों की कर्णकटुता आदि दूर करने में सदैव लगे रहते हैं।

व्रजभाषा का प्रारंभिक रूप 'पिंगल' नाम से प्रसिद्ध था। बारहवीं, तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों में जब डिंगल में हिंदी का वीर-काव्य रचा जा रहा था, तब अन्य रसों की अधिकांश रचनाएँ पिंगल में रची जाती थीं। व्रजभाषा

का यह प्रारंभिक रूप भी मधुरता के लिए प्रसिद्ध हो चला था[1] और इसका यह गुण भारतीयों को ही नहीं, विदेशियों को भी आकृष्ट करने में सहज ही समर्थ हो गया था। यों तो सभी व्यक्तियों को अपनी मातृभाषा मधुर लगती है; परंतु वस्तुतः किसी भाषा की मधुरता तभी सर्वसिद्ध कही जायगी, जब उसके लिए आत्मीयता की भावना न रखनेवाले अपरिचित श्रवणों में भी उसकी सामान्य शब्दावली रस घोल सके; जैसे कोकिल की काकली उससे सर्वथा अपरिचितों को भी रस-मग्न कर देती है। 'माय री माय, साँकरी गलिन पग काँकरी गरतु हैं'—जैसी मधुर और सुकुमार उक्ति अबोध व्रजबालिका के मुख से सुनकर, व्रज की बोली का माधुर्य परखने आया हुआ, फारसी के अद्भुत माधुर्य पर मुग्ध, इस भाषा का परम विद्वान अलीहजी पूर्णतया संतुष्ट होकर, यह कहता हुआ लौट गया कि ऐसी सरस और सौकर्ययुक्त भाषा को अप्रतिम माधुर्य प्रदान करने में तो सामान्य कवि भी सहज ही सफल हो सकते हैं, फिर महाकवियों का तो कहना ही क्या है! दूसरी बात यह कि संप्रदाय-विशेष से संबंध न रखनेवाले पूर्वागत अथवा नवागत अभारतीयों ने जब व्रजभाषा में ही काव्य-रचना आरंभ की, तब स्पष्ट है कि वे उसकी किसी विशेषता पर ही रीझे होंगे और इस भाषा की यह विशेषता, स्थूल रूप से, इसकी मधुरता ही हो सकती है।

व्रजभाषा की उक्त विशेषता, जो शौरसेनी प्राकृत की अनुपम देन मानी जाती है, यदि सहज और स्वाभाविक न होती तो महाकवियों के लिए भी उसे सभी दृष्टियों से आदर्श भाषा बनाना संभव न होता; क्योंकि वाह्य साज-सज्जा से अलंकृत होने पर कुरूप प्राणी कैसा भी आकर्षक हो जाय, सहज सौंदर्य की समता वह कदापि नहीं कर सकता। यों तो संस्कृत भाषा की मधुरता भी बहुत बढ़ी-चढ़ी है, परंतु शौरसेनी की जिस मधुरिमा की प्रशंसा स्वयं संस्कृत के कवियों ने की हो, निस्संदेह वह अनुपम ही कही जायगी। परंपरा से प्राप्त इस मधुरिमा को बढ़ाने में व्रजप्रदेश की नैसर्गिक तथा सामाजिक स्थिति ने भी पर्याप्त योग दिया। यमुना-किनारे की कुंजों और गिरि गोवर्द्धन के हरे-भरे वन-उपवनों की प्राकृतिक रमणीयता के मध्य में पलनेवाले मानव-समाज की सौंदर्य-प्रियता-वृत्ति

---

१ पुर दिल्ली और ग्वालियर बाँच अजादिक देस।
पिंगल उपनामक गिरा तिनकी मधुर बिसेस॥

—सूर्यमल्ल।

का विकसित हो जाना नितांत स्वाभाविक था ही; ऐतिहासिक दृष्टि से धर्म और संस्कृति के केंद्र में काल-यापन करने से रुचि और भावनाओं की परिष्कृति के साथ-साथ शांतिमय जीवन व्यतीत करने की कामना भी उनमें सदैव जाग्रत रही। विचारों का यह आदर्श और जीवन की यह चर्या, सम्मिलित रूप से उनकी भाषा के लिए परिष्कारक सिद्ध हुई। व्यस्तता के लौकिक और राजनीतिक संघर्ष से यथासाध्य दूर रहकर यहाँ का धर्म-प्राण समाज प्रेममय भक्ति में लीन रहा और अपनी बौद्धिक शक्ति तथा प्रतिभा का सदुपयोग धार्मिक साहित्य और तद्विषयक कलात्मक कृतियों की सृष्टि में ही करता रहा। प्रेम और भक्तिमय मधुर और कोमल भावों की व्यंजना के लिए यहाँ के निवासियों ने जिस भाषा-रूप को अपनाया, उसे ही तदनुरूप माधुर्य और सौंदर्य प्रदान करने में वह सतत प्रयत्नशील रहा। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि शब्दों के जो रूप भावाभिव्यक्ति के लिए इस प्रदेश में अपनाये गये, उनमें उक्त विशेषताएँ स्पष्टतः परिलक्षित होती हैं। इन भाषाओं की जो मधुरता या सरसता अनेक कवियों के निरंतर सत्प्रयत्न का सुफल है, वही व्रजभाषा को सहज प्राप्त है; और साधना करने पर तो वह बहुत बढ़ जाती है। शताब्दियों से जनसाधारण का, दैनिक जीवन और आनंदोत्सवों में गाये जानेवाले गीतों के लिए; साधु-संतों का, भजनों और इष्टदेवों के लीला-गान के लिए; और संगीतज्ञों का, विभिन्न राग-रागनियों में गाये जानेवाले पदों के लिए सामान्यतः व्रजभाषा को ही अपनाना भी उक्त कथन की ही पुष्टि करता है। सारांश यह कि परंपरागत संपत्ति के रूप में नवविकसित व्रजभाषा को सरसता और मधुरता-संबंधी गुण सहज ही प्राप्त हो गये तथा पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के अनेकानेक कवियों ने उनके विकास में पर्याप्त योग दिया। श्रीकृष्ण के प्रति उनकी प्रीति और भक्ति की सरसता और मधुरता ने उनकी भाषा को भी कालांतर में अत्यधिक सरस और मधुर बना दिया।

व्रजभाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति भी उसके माधुर्य और सौष्ठव को बढ़ाने में बहुत सहायक हुई। नैसर्गिक सुंदरता और सरलता के मध्य में जिस भाषा का विकास हुआ हो, उसके शब्द-रूपों में भी ये विशेषताएँ स्वभावतः होनी चाहिएँ। कदाचित् इसी के फलस्वरूप संस्कृत के केवल उन्हीं तत्सम शब्दों को व्रजभाषा ने अपनाया जो बहुत सरल हैं और उच्चारण की सुगमता के साथ-साथ जिनसे कविता के माधुर्य और प्रसाद गुणों की वृद्धि में सहायता मिल सकती है। भावों और विचारों की परुषता और कठोरता के साथ कर्कश और

परुष ध्वनीवाले वर्णों और उनसे बने तत्सम शब्दों का व्रजभाषा ने सर्वथा परित्याग कर दिया। भाषा को मधुर और सरस बनाने के लिए कुछ तत्सम शब्दों को त्याग देना आवश्यक था भी; प्रिय, संकीर्ण, हृदय - जैसे तत्सम शब्दों की तुलना में पिय या पी, सँकरो या साँकरों, हिय या ही आदि रूप निश्चय ही सरस और मधुर हैं। यों तो सभी ग्राम्य जन-पदों की रुचि ऐसे ही शब्दों को अपनाने अथवा उन्हें ऐसा ही सुगम रूप देने की ओर रहती है; परंतु व्रजभाषा मूलरूप में जिस जन-पद की भाषा थी, वहाँ वालों ने उद्देश्य-विशेष से वैसा किया और वहाँ के कवियों ने इससे पूरा-पूरा लाभ भी उठाया। आदर्श भक्ति में जिस प्रकार साज के आडंबर के लिए स्थान नहीं है, केवल भाव की सत्यता और निष्कपटता ही वांछनीय है, इष्टदेव के प्रति भक्ति-व्यंजनात्मक रचना में भी, उसी प्रकार, उत्कट प्रीति और समर्पण की सावेगता ही अपेक्षित है, भाषा की प्रयासपूर्ण आलंकारिकता अथवा तत्समताधारित साहित्यिकता नहीं।

तात्पर्य यह कि व्रजभाषा के भक्तकवियों ने सरल अर्द्धतत्सम और तद्भव रूपों को ही सदैव प्रश्रय दिया और भाषा की शुद्धता की दृष्टि से अथवा अन्य किसी कारण से तत्सम शब्दों को विशेष रूप से अपनाने के लिए वे कभी प्रवृत्त नहीं हुए। इसीसे उनकी भाषा भी अपना सहज माधुर्य बनाये रखने में समर्थ हो सकी। व्रजभाषा की प्रवृत्ति तद्भव वर्ग के शब्दों की ओर इतनी झुकी हुई थी कि जिन संस्कृतज्ञ कवियों ने अपनी भाषा को तत्समतायुक्त बनाया, वे सहज और ठेठ माधुर्य से अपनी भाषा को वंचित करके ही वैसा कर सके। गोस्वामी तुलसीदास की 'विनयपत्रिका' की प्रारंभिक रचनाएँ, भाषा के माधुर्य और प्रसाद गुणों की दृष्टि से, 'गीतावली' और 'कवितावली' के अनेक पदों और छंदों के सामने सुंदर और सरस नहीं कही जा सकतीं। फिर भी सूरदास तथा अन्य व्रजभाषा-कवियों ने सदैव तत्सम रूपों का विरोध ही किया हो, सो बात भी नहीं है। संस्कृत के जो छोटे-छोटे मूल शब्द अनेक तद्भव या अर्द्धतत्सम रूपों के समान ही सरस हैं और जिनके उच्चारण में किसी प्रकार की कटुता या जटिलता न होकर, पर्याप्त सरलता है—जैसे अंबुज, कंज, छवि, जल, पराग, मधु, रस, समूह आदि—उनको व्रजभाषा-कविता में सदैव और सादर स्थान मिलता रहा है।

व्रजभाषा की मधुरता का दूसरा कारण यह है कि ऋ, ण, य, श-जैसी ध्वनियों का अपेक्षाकृत सरस उच्चारण रि, न, ज, स, के रूप में किया जाता है।

संयुक्त वर्णों को ग्रहण करने में भी व्रजभाषा को सदैव संकोच रहा है और उनको विभक्त करके स्वतंत्र और कोमल रूप देना ही इसे अधिक प्रिय है, जैसे भक्त-भगत, पद्म-पदम, शक्ति-सकति आदि। उकारांत और ओकारांत प्रणाली ने भी व्रजभाषा का माधुर्य बढ़ाने में योग दिया है—'साँवला' और 'उदित' से 'साँवरो' और 'उदोतु' की ध्वनि निश्चय ही मूल रूप से कोमल है; क्योंकि इनके उच्चारण में मुख का चपटापन गोलाई में बदलकर ध्वनि को सुगम और प्रिय बना देता है। कुछ शब्दों के अंत में कभी एक आकारांत अक्षर जोड़ देने अथवा अंतिम अक्षर को ही आकारांत कर देने की प्रवृत्ति भी व्रजभाषा में देखी जाती है जिससे उसके माधुर्य की निस्संदेह वृद्धि होती है। नदी, नींद, जिय, हिय, नैन, बैन (वचन), मुख, सुअन (सुवन), बादर (बादल), आँचर (अंचल, आँचल) आदि से इनके नदिया, निंदरिया, जियरा, हियरा, नैना, बैना, मुखड़ा, सुअना, बदरा, अँचरा आदि रूप निश्चय ही अधिक मधुर हैं।

तीसरी बात यह कि अधिकांश व्रजभाषा-कवियों ने संयोग-वियोग श्रृंगार के अनुरूप विविध विषयों को लेकर ही काव्य-रचना की। इस रस का जिस गुण से घनिष्ठ संबंध है, वह है माधुर्य। हिंदी साहित्य के संपूर्ण मध्यकाल—भक्ति और रीतियुग—में इसी रस की कविता की प्रधानता रही। श्रृंगार के दोनों रूपों के उद्दीपन के लिए प्रकृति के जिन दृश्यों का वर्णन इन कवियों ने किया, वे भी अत्यंत मनोरम होने के कारण आश्रय और आलंबन में जिस प्रकार आह्लादमयी मादकता भर देते हैं, उसी प्रकार पाठक या श्रोता के अंतस्तल में भी तद्विषयक मधुर भावना का उद्रेक करने में अनायास समर्थ हो जाते हैं। संयोग-वर्णन में संसार के समस्त सुंदरतम पदार्थों और प्राकृतिक व्यापारों का चित्रण करके प्रेमी-प्रेमिकाओं की प्रेममयी मादक भावनाओं को उद्दीप्त करने में जब वे प्रयत्नशील रहे, तब विषय अथवा भाव के अनुकूल कोमल और मधुर भाषा अपनाने पर ही उनके उद्देश्य की सिद्धि संभव हो सकी। और वियोग-वर्णन में तो हृदय का स्पर्श करनेवाली मार्मिकता और करुणा ने भाषा को संयोग-लीला से भी कहीं अधिक कोमलता और मधुरतामयी बना दिया। फलतः श्रृंगार रस के आश्रय से भाषा का सहज और प्राकृतिक माधुर्य भी निरंतर और स्वाभाविक रीति से बढ़ता गया।

इस युग के कवियों की गीतिकाव्यात्मक और सवैया-कवित्तों की मुक्तक शैली भी भाषा की मधुरता-वृद्धि में सहायक हुई। प्रबंध काव्यों में कथा के मर्मस्पर्शी

स्थलों के साथ-साथ अनेक सामान्य प्रसंगों का भी वर्णन करना पड़ता है जिनमें न कवि की वृत्ति लीन होती है और न जिनमें सर्वत्र रसात्मकता के समावेश का अवसर ही रहता है। इसके विपरीत, गीतों और मुक्तक छंदों के लिए सर्वदा वे ही रमणीय और सरस प्रसंग अपनाये जाते हैं जिनमें परुष भावों का सर्वथा अभाव रहता है और जो कवि को अत्यंत प्रिय भी होते हैं। स्वभावतया ऐसे काव्य में कर्कशता, परुषता आदि के लिए स्थान नहीं रह जाता और भावुक कवि ऐसी कोमलकांत पदावली के चयन में लगा रहता है जो भावों की कोमलता-सरसता के अनुरूप हो और पाठक या श्रोता को रस-मग्न करने में समर्थ भी हो सके। व्रजभाषा-माधुर्य का चौथा कारण यही है और इसका महत्व इतने से ही समझा जा सकता है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ की कर्ण-कटुता-युक्त खड़ीबोली इसी माध्यम का आश्रय लेने पर आज अपना रूप निखारने और अपने को मधुर तथा लोक-प्रिय बनाने में सफल हो सकी है।

सारांश यह कि यद्यपि मधुरता किसी भाषा-विशेष की बपौती नहीं होती और कवियों के निरंतर प्रयास से मूलतः कर्कश या कठोर होते हुए भी अनेक भाषाएँ समय-समय पर मधुर बनायी गयी हैं, तथापि स्वभावगत और नैसर्गिक माधुर्य की बात ही दूसरी है जो प्रयास करने पर अनुपाततः बहुत बढ़ जाता है। व्रजभाषा की मिठास अपनी है, प्रयासजनित नहीं; और यह उसे परंपरागत-रूप में प्राप्त रही है। अतः माधुर्य की दृष्टि से उसका विकास बहुत स्वाभाविक रीति से हुआ और रीतिकाल की समाप्ति होने तक तो संभवतः वह मध्यकालीन भारत की सबसे मधुर भाषा समझी जाने लगी थी। इसी के फलस्वरूप उसमें रचना करनेवाले कवियों की संख्या सहस्रों तक पहुँच गयी और कदाचित् इसी कारण उसका साहित्य भी दो-एक के अतिरिक्त समस्त भारतीय भाषाओं में, किसी सीमा तक, आज भी अनुपम कहा जा सकता है।

(ङ) संगीतमयता—

संगीत का उद्देश्य प्राणी के मनोवेगों को तत्काल प्रभावित करके ऐसे आनंद में निमग्न करना है कि उसे अपनी स्वतंत्र स्थिति अथवा जगत् के स्वतंत्र अस्तित्व का कुछ समय के लिए प्रत्यक्ष ज्ञान न रहे। काव्य से प्राप्त आनंद भी इसी कोटि का होता है। काव्य को संगीतात्मक बनाने का एक कारण उद्देश्य

का यही साम्य जान पड़ता है; क्योंकि इस समन्वय से पाठक या श्रोता का आनंद द्विगुणित हो जाता है। अतएव आदि से ही संगीत और काव्य का घनिष्ठ संबंध रहा है और एक की उन्नति से दूसरे का उत्कर्ष भी बराबर होता आया है। माधुर्य गुण भी दोनों कलाओं के लिए समान रूप से आवश्यक होता है।

साधारणतः सभी भाषाओं में संगीतमय काव्य रचा गया है जिससे उनके माधुर्य की वृद्धि होती रहती है; परंतु यदि भाषा स्वतः मधुर हो तो उसमें रचे संगीतमय काव्य की लोकप्रियता बहुत बढ़ जाती है और साथ ही संगीत की उन्नति भी होती है। व्रजभाषा में प्रारंभ से ही गेय काव्य की प्रधानता रही। यों तो संस्कृत के अनेक छंदों में बहुत मधुर लय है; परंतु व्रजभाषा ने कदाचित् यह प्रवृत्ति भी अपनी जननी अपभ्रंश से ही प्राप्त की थी; क्योंकि उसमें भी संगीत-प्रधान छंदों की अधिकता है। यही बात हमें व्रजभाषा की गीतिकाव्यात्मक पद-शैली में दिखायी देती है। पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में ही व्रजभाषा के गीतों का साहित्य-संगीत-सम्मेलनों और राजदरबारों में सहज ही प्रवेश हो गया था। इसका कारण यही था कि व्रजभाषा की स्वाभाविक मधुरिमा लय-ताल से बँधकर बहुत ही निखर उठी थी और गायक सुगमता से उसकी ओर आकृष्ट हो गये थे। विभिन्न राग-रागिनियों के अनुसार व्रजभाषा में पद-रचना करके एक ओर इन कलावंतों ने उसके माधुर्य-वर्द्धन में योग दिया और दूसरी ओर, व्यापक प्रसार में। व्रभाषाषा का इस प्रकार जो आदर-सत्कार अथवा प्रचार-प्रसार हुआ उसका एक प्रमुख कारण था इस भाषा का माधुर्य जो संगीत के साहचर्य में निरंतर विकसित होता गया।

(च) संक्षिप्तता—

व्रजभाषा का एक और गुण है—थोड़े शब्दों से बहुत अर्थ निकालना। जिस प्रकार संस्कृत भाषा के छोटे-छोटे शब्दों में यह गुण वर्तमान माना जाता है, उसी प्रकार व्रजभाषा में भी। प्रायः सभी भाषाओं के विशिष्ट शब्दों में यह विशेषता मूलतः उनके निर्माण से निहित रहती है और कवि का कौशल विषय या भाव के उपयुक्त उनके चयन में रहता है। कामिनी, भामिनी, प्रमदा, रमणी, नारी, अबला आदि स्थूलतया एकार्थक शब्दों के भाव में मूलतः जो अंतर है उसे ध्यान में रखने पर इन शब्दों के प्रयोग से अधिक अर्थ की प्राप्ति सहज ही हो जाती है। व्रजभाषा के अधिकांश कवियों ने उपयुक्त शब्दों के चयन में इस

बात का प्रायः सर्वत्र ध्यान रखा है और पूर्ववर्ती भाषाओं के विशाल शब्द-भांडार से सर्वदा लाभ उठाया है।

दूसरे, आरंभ से ही ब्रजभाषा की प्रकृति अनेक संज्ञा शब्दों के क्रिया-रूप बना लेने की ओर रही। 'बूँदें गिर रही हैं' के स्थान पर 'बुँदियाना', 'पानी की झड़ी लग रही है' के स्थान पर 'झर लाना,' 'क्रोध कर रहा है' के लिए 'रिसाना', 'प्रणाम करने को झुकना' के लिए 'नमना' आदि के प्रयोग से संक्षिप्तता की विशेषता भाषा में सुगमता से आ जाती है। इसी प्रकार अर्थ की पूर्णता के लिए मुख्य के साथ सहायक क्रिया का प्रयोग करने की आवश्यकता भी ब्रजभाषा में कम ही पड़ती है और मूल क्रिया-रूपों में ही थोड़ा परिवर्तन करके काम चलाया जाता है। 'देखकर' के लिए 'देखि' ही इस भाषा में पर्याप्त होता है। विभक्ति के स्वतंत्र रूपों को मुख्य शब्द में ही संयुक्त कर देने की योजना से भी ब्रजभाषा कवियों का काम थोड़े शब्दों से सहज ही चल जाता है।

संक्षिप्तता का गुण किसी भाषा के शब्दों में सामान्यतः मुक्तक काव्य-रचना के फलस्वरूप भी आ जाता है। प्रबंध-काव्य जिस भाषा में अधिक रचे जाते हैं उसके कवियों की रुचि हर बात को सांगोपांग और विशद रूप से कहने की ओर अधिक हो जाती है। महाकाव्य या खंडकाव्य के साधारण प्रसंगों का चित्रण करते समय विशिष्ट शब्द भी कभी-कभी अपनी बहुत-कुछ विशेषता खो बैठते हैं। मुक्तक काव्य के लिए यदि कवित्त या घनाक्षरी जैसे बड़े छंद चुने जाते हैं तो भी यद्यपि प्रायः अनावश्यक शब्दों की भरती कवि को करनी पड़ती है, तथापि वह प्रबंध-काव्य की अपेक्षा कम ही रहती है। दोहे-सोरठे-जैसे छोटे-छोटे छंदों में तो बहुत अधिक भाव या अर्थ थोड़े शब्दों में व्यक्त करने को कवि विवश हो जाता है और पूरे वाक्यांश या उपवाक्य का काम कभी-कभी तो एक शब्द अथवा पद से ही उसे चलाना पड़ता है। ब्रजभाषा-कवियों ने आरंभ से मुक्तक रचना विशेष रूप से की; प्रबंध-काव्य इसमें इने-गिने ही रचे गये। दोहा, सवैया और कवित्त—ये तीन छंद ही इस भाषा के कवियों ने मुक्तक काव्य के लिए मुख्य रूप से चुने जिससे भाषा में संक्षिप्तता का गुण लाने, 'गागर में सागर' भरने, में वे सफल हो सके।

उक्त विशेषताओं के साथ-साथ अपनी उदार प्रकृति के कारण भी ब्रजभाषा के प्रसार की गति बहुत तीव्र हो गयी। पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में जिस

भाषा का क्षेत्र केवल व्रज प्रदेश में ही सीमित था, सौ-डेढ़ सौ वर्ष के भीतर ही, आधुनिक प्रचार-साधनों के सर्वथा अभाव में, उसका उत्तरी और मध्य भारत के प्रायः सभी क्षेत्रों में, काव्य-रचना की प्रमुख भाषा के रूप में स्वीकृत हो जाना निस्संदेह एक चमत्कृत कर देनेवाली घटना है। राज्याश्रय अथवा जीविकार्जन के लोभ से व्रज-प्रदेशीय कवि यदि सुदूरवर्ती प्रांतों में पहुँचे होते तो संभवतः इस प्रचार में आश्चर्य की विशेष बात नहीं थी, पर अन्य प्रदेशीय कवियों का, अपनी मातृभाषा को त्यागकर, व्रजभाषा में ही रचना करने लगना, निश्चय ही इस बात का द्योतक है कि उनकी दृष्टि में यह भाषा कुछ ऐसी विशेषताओं से युक्त थी जिनका उनकी मातृभाषा में अभाव तो था ही, उनका समावेश भी उसमें करना उनकी शक्ति से बाहर की बात थी। इस प्रकार सहस्रों साहित्य-सेवियों को अपने गुणों से आकर्षित करके, उनके द्वारा समादृत होकर, व्रजभाषा लगभग पाँच सौ वर्ष तक जन-जन का कंठ-हार बनी रही; जनता-जनार्दन ने एकमत होकर उसे राष्ट्रभाषा से अधिक आदर-सम्मान दिया और आरंभ से ही हिंदी का गौरव बहुत-कुछ उसके साहित्य पर भी अवलंबित रहा है।

पृथ्वीराज रासो

(१)

'रासो' शब्द—

हिंदी कविता के प्रथम विकास-काल में वीररस-प्रधान जो काव्य रचे गये, उन्हें 'रासो,' 'रासू' या 'रासा' कहा गया है। आरंभ में फ्रेंच विद्वान गार्सां द तासी ने 'राजसूय' (यज्ञ), 'राजसू', 'रासू', 'रासो' आदि रूपों में इस शब्द का विकास मानकर इसका अर्थ किया—ऐसा वीरकाव्य जिसमें राजसूय यज्ञ-संबंधी विजय की चर्चा हो। अन्य विद्वानों ने इस अर्थ को स्वीकार इस कारण नहीं किया कि हिंदी में जो वीरकाव्य 'रासो' नाम से मिलते हैं उनमें से एक में भी राजसूयी विजय की कोई चर्चा नहीं है। 'बीसलदेवरासो' में इस शब्द के लिए 'रसायण' और 'रसिय' शब्दों का प्रयोग किया गया है; यथा—(१) 'नाल्ह रसायण आरंभइ'। और (२) 'नल्ह कबीसर रसिय बखान'। संभवत: इसी आधार पर स्व० पंडित रामचंद्र शुक्ल ने 'रासो' शब्द की उत्पत्ति 'रसायण' से मानी और इसका अर्थ 'रस' या 'काव्य' किया। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित प्रति के विद्वान संपादक ने 'रासो' का अर्थ 'महाकाव्य' अनुमाना और अपने कथन के पुष्टि इस प्रकार की—"हिंदी 'रासो' शब्द संस्कृत के 'रास' अथवा 'रासक' से बना है और संस्कृत भाषा में 'रास' के शब्द, ध्वनि, क्रीड़ा, शृंखला, विलास, गर्जन, नृत्य और कोलाहल आदि और 'रासक' के काव्य अथवा दृश्यकाव्यादि अर्थ परम प्रसिद्ध हैं। मालूम होता है, ग्रंथकार ने संस्कृत के 'भारत' शब्द के सदृश 'रासो' का, भावार्थ से 'महाकाव्य' के अर्थ में ग्रहण कर, प्रयोग किया है"। पं० विंध्येश्वरी प्रसाद पाठक 'रासो' शब्द का संबंध 'राजयज्ञ' से और डा० काशीप्रसाद जायसवाल 'रहस्य' से मानते थे। इधर डा० दशरथ शर्मा का मत

है कि गान-युक्त नृत्य-विशेष से उपरूपक और उससे वीररसपूर्ण प्रबंधकाव्य के अर्थ में 'रासो' शब्द विकसित हो गया है। वे श्रीमद्भागवत के 'रास' शब्द से ही 'रासो' का विकास मानते हैं। श्रीनरोत्तम स्वामी 'रास' को मूलतः प्रेम-काव्य और 'रासो' को वीर-काव्य मानने के पक्ष में हैं।

परिचय—

दिल्ली के अंतिम हिंदू सम्राट पृथ्वीराज चौहान का दरबारी कवि चंद बरदाई 'पृथ्वीराज रासो' का रचयिता था। इस प्रबंधकाव्य में ६९ 'सम्यौं'[1] हैं जिनमें चौहानों की उत्पत्ति, पृथ्वीराज की वीरता, देशी-विदेशी अनेक शूरवीरों से पृथ्वीराज के युद्ध, अनेक राजकुमारियों से पृथ्वीराज के विवाह और उसके आमोद-प्रमोदों का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। यह प्रबंधकाव्य लगभग ढाई हजार पृष्ठों का है। यद्यपि तिथियों की अशुद्धता, अनेक अनैतिहासिक पात्रों और घटनाओं की कल्पना एवं अरबी-फारसी शब्दों की अधिकता के कारण अनेक आलोचकों ने इस प्रबंधकाव्य को अप्रामाणिक माना है, तथापि बहुज्ञता और कला की दृष्टि से कवि और काव्य, दोनों की उत्कृष्टता की प्रायः सभी विद्वानों ने सराहना की है।

रचना-काल—

'पृथ्वीराजरासो' के रचना-काल के संबंध में बहुत मत-भेद है। कवि चंद का महाराज पृथ्वीराज के दरबार में वर्त्तमान न रहना जब माना जाने लगा है तब इसकी रचना बारहवीं शताब्दी में हो नहीं सकती। डिंगल भाषा की रचना के कारण कुछ आलोचक इसे बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी की रचना मानने के पक्ष में थे। इन्हें महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझाजी का उत्तर है— 'पठित चारण और भाट लोग अब भी कवित्त बनाते हैं और वीररस की कविता बहुधा डिंगल भाषा में करते हैं तथा दूसरी कविता साधारण भाषा में।' इस महाकाव्य की सबसे प्राचीन प्रति संवत् १६४२ की मिलती है जिससे विद्वानों ने इसका रचना-काल सत्रहवीं शताब्दी का प्रथम चरण अनुमाना है। 'रासो' की भाषा में अरबी-फारसी शब्दों की अधिकता से इस अनुमान की पुष्टि इस तरह

---

१ एकवचन 'सम्यौ' शब्द का बहुवचन रूप 'सम्यौं' होता है।
—देखिए, 'राजस्थानी भाषा और साहित्य', पृ० १२०।

की जा सकती है कि जनसाधारण में इनका अधिक प्रचार और भाषा-काव्य में इनका स्वतंत्र प्रयोग पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में ही हुआ होगा।

ओझाजी की सम्मति में 'पृथ्वीराजरासो' की रचना विक्रम संवत् १६०० के आसपास हुई होगी। इस कथन की पुष्टि में उन्होंने निम्नलिखित प्रमाण दिये हैं—

१—विक्रम संवत १४६० में 'हम्मीर महाकाव्य' बना। उसमें चौहानों का विस्तृत इतिहास है, परंतु उसमें 'पृथ्वीराजरासो' के समान चौहानों को अग्निवंशी नहीं लिखा गया और न उसकी वंशावली को आधार ही माना गया है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक 'पृथ्वीराजरासो' प्रसिद्धि में नहीं आया था। यदि 'रासो' की प्रसिद्धि हो गयी होती, तो 'हम्मीर महाकाव्य' का लेखक उसी के आधार पर चलता।

२—चंदबरदाई ने रावल समरसिंह के ज्येष्ठ पुत्र कुंभा का बीदर के मुसलमान बादशाह के पास जाना लिखा है। पृथ्वीराज के समय में तो दक्षिण में मुसलमानों का प्रवेश भी नहीं हुआ था। बीदर का राज्य तो बहमनी राज्य की उन्नति के समय में अहमदशाह वली ने सन् १४३० (वि० सं० १४८७) में स्वतंत्र रूप से स्थापित किया था। इससे यह निश्चित है कि 'पृथ्वीराजरासो' उक्त संवत् के पीछे बना होगा।

३—चंदबरदाई ने सोमेश्वर और मेवात के मुगल राजा से लड़ाई और उसमें इसके कैद होने तथा इसके पुत्र बाजिदखाँ के मारे जाने की कथा लिखी है। हिंदुस्तान में मुगलराज्य वि० सं० १५८३ में बाबर ने स्थापित किया था। उससे पूर्व भारत में मुगलों का कोई राज्य था ही नहीं और उनका सबसे पहला प्रवेश मुगल तैमूरलंग द्वारा विक्रम संवत् १४५५ में हुआ, जिससे पहले मुगलराज्य की भारत में कल्पना भी नहीं की जा सकती। इससे स्पष्ट है कि 'पृथ्वीराजरासो' वि० सं० १५८३ से, और यदि बहुत पहले भी मानें तो वि० सं० १४५५ से पूर्व नहीं बन सकता।

४—महाराणा कुंभकर्ण ने वि० सं० १५१७ में कुंभलगढ़ के किले की प्रतिष्ठा की और वहाँ के मामादेव (कुंभस्वामी) के मंदिर में बड़ी-बड़ी पाँच शिलाओं पर कई सौ श्लोकों का एक विस्तृत लेख (काव्य) खुदवाया, जिसमें मेवाड़ के

उस समय तक के राजाओं का बहुत-कुछ वृत्तांत दिया हुआ है। इसमें पृथ्वीराज की बहिन पृथा से समरसिंह के विवाह करने या उसके साथ शहाबुद्दीन की लड़ाई में मारे जाने का कोई वर्णन नहीं है।

वि० सं० १७६२ में महाराजा राजसिंह ने अपने बनवाये हुए राजसमुद्र तालाब के नौचौकी नामक बाँध पर पचीस बड़ी-बड़ी शिलाओं पर एक महाकाव्य खुदवाया, जो अब तक विद्यमान है। उसके तीसरे सर्ग में लिखा है—'समरसिंह ने पृथ्वीराज की बहिन पृथा से विवाह किया और शहाबुद्दीन के साथ की लड़ाई में वह मारा गया, जिसका वृत्तांत 'रासो' नामक पुस्तक में विस्तार से लिखा हुआ है।' इन दोनों लेखों से निश्चित है कि 'पृथ्वीराजरासो' वि० सं० १५१७ और १७३२ के बीच किसी समय बना होगा। 'पृथ्वीराजरासो' की सबसे पुरानी हस्तलिखित प्रति वि० सं० १६४२ की मिली है। इसलिए वि० सं० १५१७ और १६४२ के बीच अर्थात् सं० १६०० के आसपास इसका बनना अनुमान किया जा सकता है।

रचना-काल-संबंधी ओझाजी के ये तर्क पुष्ट होते हुए भी सर्वमान्य नहीं हैं। इधर श्रीमुनि जिनविजय जी ने स्व-संपादित 'पुरातन-प्रबंध-संग्रह' में चार ऐसे छप्पय उद्धृत किये हैं जिनका संबंध पृथ्वीराज और जयचंद से है। इन छंदों में कवि चंद की छाप है जिससे इनकी प्रामाणिकता में संदेह नहीं किया जा सकता। इन चार छंदों में से दो 'पृथ्वीराजरासो' की कुछ प्रतियों में भी कुछ पाठांतर के साथ मिलते हैं। जिस पुस्तक के आधार पर इन छंदों का संकलन किया गया है, उसका रचनाकाल सन् १४७१ बताया जाता है। इन छंदों की भाषा का रूप बहुत पुराना है और इसके आधार पर सभी विद्वान इतना मानने लगे हैं कि सन् १४७१ के पूर्व चंद नाम का कोई प्रसिद्ध कवि अवश्य रहा होगा। परंतु वही कवि 'पृथ्वीराज रासो' का कर्त्ता था, इसे मानने का कोई दृढ़ प्रमाण अभी तक नहीं मिला है। हाँ, यदि 'रासो' को भी उक्त छंदों के रचयिता की ही कृति मान लिया जाय तो 'पृथ्वीराज रासो' का रचना-काल सन् १४७१ (संवत् १५२८) के पूर्व ही मानना पड़ेगा। जो हो, 'पृथ्वीराजरासो' की रचना किस समय हुई, इसका ठीक-ठीक निर्णय होने के लिए सबसे आवश्यक बात यह है कि 'रासो' का सभी दृष्टियों से भली भाँति अध्ययन करके उसके प्रक्षिप्त अंश निकाल डाले जायँ। 'रासो' किसी भी समय रचा गया हो, उसमें प्रक्षिप्त अंश बहुत अधिक मात्रा में जोड़ा गया है, इससे सभी विद्वान सहमत हैं। अतः

इस भाग के निकल जाने पर बहुत से ऐसे प्रसंग भी निश्चय ही निकल जायँगे जो उसका रचना-काल बहुत पीछे मानने के लिए हमारे आलोचकों को विवश करते हैं। मूल पाठ-निर्णय के पश्चात् ही 'पृथ्वीराजरासो' का रचनाकाल सर्वमान्य रूप से निश्चित किया जा सकेगा।

विषय—

कवि चंद ने अपने आश्रयदाता महाराज पृथ्वीराज के यश-वर्णन में ही अपनी काव्य-प्रतिभा का उपयोग किया है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि इस क्षत्रिय वीर में महाकाव्य के नायकोचित सभी शास्त्रीय गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थे। अतः कवि चंद का यह प्रयत्न सर्वथा प्रशंसनीय समझना चाहिए। दूसरे शब्दों में, महाराज पृथ्वीराज का यशोगान कवि का उद्देश्य है और उनकी जीवन-कथा के गेय स्थल महाकाव्य के विषय हैं। इनके चयन में कवि ने विशेष परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं समझी, क्योंकि अपने आश्रयदाता के किसी कार्य की आलोचना का विचार भी मन में न लाकर, सभी को उचित समझना और उनका समर्थन करना, उसका आदर्श रहा होगा। यही कारण है कि महाराज पृथ्वीराज के अनुपम सौंदर्य, अपार वैभव, उन्मादकारी विलास-भाव, रोचक आखेट-कार्य, लोमहर्षण युद्धों में प्रदर्शित अद्‌भुत वीरता और मानवोचित विशालहृदयता तथा अन्य सद्‌गुणों का वर्णन करता कवि कभी नहीं थकता। दरबार के शूर-वीर सामंतों का यशोगान करने के लिए भी 'रासो' का रचयिता सदा प्रस्तुत रहा है। प्रसंगवश विपक्षी सामंतों की कायरता और पाशविकता का वर्णन भी उसने इस प्रकार किया है कि महाकाव्य के नायक के चरित्र को ऊपर उठाने में परोक्ष रूप से सहायता मिल सके।

इस प्रधान विषय के अतिरिक्त 'रासो' में प्रासंगिक विषय भी हैं, जैसे विभिन्न क्षत्रिय कुलों की वंशावली अथवा राजपूत सामंतों की नामावली। काव्य-कला की दृष्टि से इनका वर्णन बहुत साधारण, कोरी तुकबंदी मात्र है और इससे अधिक मूल्य उसका हो भी नहीं सकता था। इनमें से अधिकांश प्रसंग बाद में जोड़े गये जान पड़ते हैं, परंतु यदि कोई इन्हें रासोकार की रचना सिद्ध करने का ही सहठ प्रयास करे तो कवि की इस रुचि को उसी प्रवृति का फल समझना चाहिए जिसने जायसी और केशव को पान, घोड़ा, वस्त्र, अस्त्र-शस्त्र आदि अनेक विषयों

की सूचियाँ प्रस्तुत करके अपनी जानकारी दिखाने के लिए प्रेरित किया था। अतः इन प्रसंगों को यदि 'रासो' से निकाल ही दिया जाय तो कथा-संगठन में विशेष सहायता मिलेगी और उसका काव्य-सौंदर्य भी बढ़ जायगा।

कथा-सार—

अजमेर के चौहान-वंशी राजा अर्णोराज के पुत्र का नाम सोमेश्वर था। इनका विवाह दिल्ली के तोमरवंशी राजा अनंगपाल की कन्या कमला से हुआ था। कमला की बहिन का नाम सुंदरी था। यह कन्नौज के राजा विजयपाल को ब्याही थी। सोमेश्वर के कमला से उत्पन्न पुत्र का नाम पृथ्वीराज था और विजयपाल के सुंदरी से उत्पन्न पुत्र का जयचंद। इन दोनों बालकों के नाना अनंगपाल के कोई पुत्र न था। इन्होंने पृथ्वीराज को गोद ले लिया। अजमेर राज्य का उत्तराधिकारी तो पृथ्वीराज था ही; गोद लिये जाने पर दिल्ली की गद्दी पर भी उसका अधिकार हो गया। कन्नौज के जयचंद राठौर को इससे बड़ी ईर्ष्या हुई। अपना बड़प्पन दिखाने के लिए उसने एक राजसूय यज्ञ की योजना की और साथ ही अपनी कन्या संयोगिता का स्वयंवर भी रचा। जयचंद के यज्ञ से पृथ्वीराज ने अपना अपमान समझा और उसमें सम्मिलित न होने का इसने निश्चय कर लिया। इस पर पृथ्वीराज की एक स्वर्णप्रतिमा बनवाकर जयचंद ने द्वारपाल के रूप में द्वार पर रखवा दी।

उधर संयोगिता पृथ्वीराज पर अनुरक्त थी। स्वयंवर में पृथ्वराज के न आने की सूचना पाकर उसने ब्राह्मण द्वारा अपना संदेश भेजा और गुप्त रूप से कन्नौज आने की प्रार्थना की। पृथ्वीराज दिल्ली से चला तो, परंतु स्वयंवर के समय तक कन्नौज न पहुँच सका। यथासमय आमंत्रित राजाओं में से पति चुनने की संयोगिता को आज्ञा हुई। संयोगिता ने एक बार मंडप की परिक्रमा कर द्वार पर रखी हुई पृथ्वीराज की स्वर्णप्रतिमा के गले में जयमाल डाल दी। कन्नौज-नरेश ने कन्या के इस व्यवहार से क्षुब्ध होकर उसे गंगा के किनारे एक महल में एकांतवास का दंड दिया।

पृथ्वीराज दिल्ली से चल चुका था। मार्ग में ही उसे अपने इस अपमान का सारा समाचार मिला। संयोगिता के गंगामहल में जाने की सूचना पाकर वह वहीं पहुँचा और उससे गंधर्व-विवाह करके उसे हर कर दिल्ली ले चला।

जयचंद से यह बात छिपी न रह सकी। उसने स्वयंवर में आये समस्त राजाओं को लेकर दल-बल-सहित पृथ्वीराज का पीछा किया। समीप पहुँचने पर घोर युद्ध हुआ जिसमें पृथ्वीराज के बहुत से चुने हुए सामंत काम आये। अंत में विजयी होकर पृथ्वीराज दिल्ली लौटा। विधिपूर्वक यहाँ संयोगिता से उसने विवाह किया और राज-काज मंत्रियों को सौंपकर वह विलास में लिप्त हो गया।

गजनी के सुलतान का नाम शहाबुद्दीन था। चित्रलेखा नामक एक युवती पर वह मुग्ध था; पर चित्रलेखा चाहती थी एक पठान सरदार को। जब चित्रलेखा को इस बात की आशंका हुई कि सुलतान अब हमारे साथ शक्ति का प्रयोग करना चाहता है, तब वह पठान प्रेमी के साथ भारत चली आयी। दिल्ली पहुँचने और सारा समाचार जानने पर पृथ्वीराज ने उसे आश्रय दिया। सुलतान ने इन दोनों को लौटा देने के लिए पृथ्वीराज को लिखा। स्वाभिमानी आश्रयदाता पृथ्वीराज ने सुलतान को कोरा जवाब दिया। चिढ़कर शहाबुद्दीन ने कई बार भारत पर आक्रमण किये। पृथ्वीराज ने उसे हर बार बुरी तरह हराया, बंदी किया और दंड देकर छोड़ दिया। बीच-बीच में पृथ्वीराज के विवाह होते रहे; अनेक सजातीय शासकों को पराजित करके यह वैर भी मोल लेता रहा। उसका अंतिम युद्ध विदेशियों से हुआ। अनेक घरेलू युद्धों में पृथ्वीराज के प्रमुख सामंत और शूरवीर मारे जा चुके थे। इसलिए वह गजनी की धर्मोन्मत्त सेना का सामना न कर सका। गोरी ने इस बार उसे पराजित किया और बंदी बनाकर गजनी ले गया। वहाँ अनेक यातनाएँ देकर उसने पृथ्वीराज की आँखें निकलवा लीं।

पृथ्वीराज के गजनी चले जाने पर चंद ने भी स्वदेश त्याग दिया। 'रासो' उस समय अपूर्ण था; वह उसने अपने सुयोग्य पुत्र जल्हण को सौंपा और तब स्वामी की खोज-खबर के लिए गजनी की ओर प्रस्थान किया। गोरी से मिलकर एक दिन उसने पृथ्वीराज के शब्दवेधी बाण चलाने की योग्यता की चर्चा की। शहाबुद्दीन यह कौतुक देखने को तैयार हो गया। क्रीड़ा-स्थल पर चंद के संकेत से पृथ्वीराज ने शहाबुद्दीन को मार दिया। पश्चात, दोनों स्वामी-सेवक एक दूसरे को मार कर मर गये।

भाषा—

मनोभावों की व्यंजना के लिए व्यक्ति को भाषा का सहारा लेना पड़ता है।

इस कार्य का सफल संपादन भाषा की सार्थकता और व्यंजना-शक्ति तथा व्यक्ति की योग्यता और परिज्ञान पर निर्भर है। यों विचारों को ऐसे ढंग से प्रकट करना कि सुननेवाले को अधिक से अधिक प्रभावित करें, चाहते तो सभी हैं, परंतु कवि के लिए यह प्रसंग अपेक्षाकृत अधिक आवश्यक होता है। वह ऐसी भाषा का उपयोग करता है जो भावों की सफल व्यंजना की क्षमता रखती हो और साथ-साथ विषय के अनुकूल भी सिद्ध हो।

भाव-व्यंजना के लिए शब्दों का चयन करते समय सबसे प्रधान बाधा आती है तुकांत की। यह प्रश्न सामने आने पर कवि के लिए प्रायः दो मार्ग रह जाते हैं—वह उपयुक्त शब्द छोड़कर तुक मिलने के लिए उसके पर्यायवाची शब्द का प्रयोग करे, अथवा भाषा-शिल्पकार बनकर, उपयुक्त शब्द को ही तोड़-मोड़ कर अपनी आवश्यकता पूरी कर ले। ये दोनों ढंग कवि-समुदाय सदा से ही अपनाता आया है। पर्यायवाची का प्रयोग साधारणया रचना की सुन्दरता घटा देता है। इसलिए प्रायः दूसरे मार्ग को ही कवियों ने ग्रहण करना उचित समझा है और कभी-कभी तो कवि का स्वच्छंद स्वाभिमान—जो अनेक प्राचीनता-प्रेमी शास्त्रीय आलोचकों की सम्मति में उसका उच्छृंखलता-प्रेम कहा जाना चाहिए—इतना असीमित हो जाता है कि उसका निर्मित शब्द मूल से नितांत भिन्न होकर सर्वथा नवीन रूप में सामने आता है।

भाषा के प्रयोग पर तीसरा प्रभाव कवि की रुचि का पड़ता है—संस्कार, योग्यता, उद्देश्य आदि सभी बातें इस रुचि के अंतर्गत हैं। कवि का आदर्श रहता है अपनी योग्यता का प्रदर्शन। इसलिए रचना में वह ऐसी भाषा का प्रयोग करता है जो जन-समाज में प्रचलित रूप से भिन्न, क्लिष्ट और कभी-कभी तो अस्वाभाविक तक हो जाती है। भाषा का यह रूप प्रायः नवीन कवियों की प्रारंभिक रचनाओं में ही देखने में आता है, और प्रौढ़ कवियों की भाषा उस समय तक इसके प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाती जब तक उनका उक्त उद्देश्य दृढ़ रहता है।

दूसरे वर्ग के कवियों की भाषा देखकर उनकी रुचि और योग्यता का परिचय मिल सकता है और प्रथम वर्ग वालों की भाषा से उनकी प्रौढ़ता-अप्रौढ़ता का। साथ ही, कवि की रचना से काल और प्रदेश की भाषा के रूप का पता भी लगना चाहिए। परंतु ऐसा होता तभी है जब वह उसका प्रयोग प्रकृत अथवा प्रचलित रूप में करे, उसको अधिक विकृत न होने दे। अस्तु।

'रासो' के मूल रूप और रचना-काल का पता न होने से उसकी भाषा की समस्या बड़ी जटिल हो गयी है। वर्तमान काल में उसकी जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं उनमें डिंगल और राजस्थानी, दोनों भाषाओं की कुछ विशेषताएँ मिश्रित रूप में पायी जाती हैं। संभवतः राजस्थानी भाषा की प्रधानता देखकर ही स्व० डाक्टर श्यामसुंदर दास ने इसे पिंगल भाषा में लिखा माना था, परंतु उनके कथन का समर्थन अन्य विद्वानों ने नहीं किया और सभी इसे डिंगल भाषा का प्रसिद्ध ग्रंथ मानते हैं। दोनों भाषाओं के मिश्रण के संबंध में ओझा जी का मत है कि 'रासो' न राजस्थान की भाषा में है और न डिंगल में। बहुत समय पूर्व की रचना होने के कारण व्यवस्थित भाषा में लिखा गया इसका अंश बहुत कम रह गया है और अव्यवस्थित भाषा का अंश इसमें बहुत अधिक है।

'रासो' की भाषा के संबंध में उसके रचयिता का कथन है-—

षटभाषा पुरानं च कुरानं कथितं मया।

इस उक्ति से कवि का आशय संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, देश भाषा (यथा शौरसेनी, मागधी, पिंगल आदि), अरबी-फारसी, राजस्थानी, डिंगल आदि विविध भाषाओं से जान पड़ता है। इन भाषाओं की विविधता देख कर कुछ आलोचकों ने अनुमाना है कि 'पृथ्वीराज रासो' की रचना मध्यप्रदेश की साहित्यिक भाषा में की गयी जान पड़ती है, क्योंकि विभिन्न भाषाओं के शब्दों का मिश्रण इसकी प्रकृति की सदा से विशेषता रही है। यही कारण है कि प्राकृत और अपभ्रंश, इन दोनों ह्रासोन्मुख तथा व्रजभाषा और खड़ी बोली, इन दोनों विकासोन्मुख भाषाओं के शब्द 'रासो' में मिलते हैं। इनके अतिरिक्त अरबी-फारसी शब्दों की संख्या भी कुछ स्थलों में इतनी अधिक है कि उसे देखकर आलोचक इस ग्रंथ की प्राचीनता में संदेह करने लगते हैं।

'रासो' की भाषा में खटकनेवाली और भी कई बातें हैं। शृंगार-रस-वर्णन के लिए उसमें प्रायः उसी भाषा का सहारा लिया गया है जिसका वीररस वर्णन के लिए। एक ही पृष्ठ में, और कभी-कभी तो एक ही छंद में, अनेक भाषाओं के शब्द मिलते हैं। सीधे-सीधे शब्दों को कभी-कभी प्राचीन रूप देने का अनुपयुक्त प्रयास भी किया गया है। एक ही शब्द के परिवर्तित रूप स्थान-स्थान पर मिलते हैं, यद्यपि इसमें प्रतिलिपिकारों का भी बहुत हाथ जान पड़ता है।

छंद—

प्राकृत भाषा में 'गाथा' नामक छंद बहुत प्रचलित था और अन्य छंदों से प्रधान समझा जाता था। अपभ्रंश काल में उसका स्थान दूहा को प्राप्त हुआ। फिर भी विभिन्न छंदों के बीच-बीच में गाथा का प्रयोग अपभ्रंशकाल में भी बराबर होता रहा। 'रासो' में भी अनेक स्थानों पर गाथा छंद मिलता है, यद्यपि दूहा छंद की संख्या इसमें बहुत अधिक है जिनमें प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं का अनिश्चित मिश्रण-सा मिलता है।

गाथा और दूहा के अतिरिक्त 'रासो' में त्रोटक, तोमर, छप्पय या कवित्त, साटक, अरिल्ल, मोतीदाम, आर्या, कुंडलिया, भुजंगप्रयात, पद्धरी आदि छंदों का अधिक प्रयोग हुआ है। एक ही 'सम्यों' में कवि ने अनेक छंदों का प्रयोग किया है और ये बदलते भी बहुत जल्दी-जल्दी हैं। इस संबंध में दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि विषयानुसार भिन्न-भिन्न छंदों का चयन न करके एक ही छंद विभिन्न रसों और वर्णनों के लिए अपनाया गया है। उदाहरण के लिए 'पद्धरी' छंद में युद्ध-वर्णन 'रासो' में मिलता है और रूप-शृंगार-वर्णन भी। शास्त्रीय दृष्टि से यह क्रम महाकाव्य का एक दोष माना जाता है।

रस—

पृथ्वीराज की गणना प्रतिष्ठित हिंदू महाराजाओं में है। इनकी वीरता की बहुत अधिक प्रशंसा इतिहासकारों ने की है। 'रासो' में उनके अनेक प्रसिद्ध युद्धों का ओजपूर्ण वर्णन है। अतः यद्यपि इस महाकाव्य में समावेश तो सभी रसों का है, तथापि प्रधान रस इसमें वीर ही है।

महाराज पृथ्वीराज के चरित्र की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता है उनकी विलासप्रियता। किंवदंती है कि महाराज जयचंद की कन्या संयोगिता का हरण करके भोग-विलास में वे इतना अधिक लिप्त हो गये कि राज-कार्य भी भुला बैठे, जिससे अनेक सूर-सामंत उनके विरुद्ध हो गये। यह कथन सत्य हो या न हो, पर इतना संकेत अवश्य करता है कि पृथ्वीराज की विलास-प्रियता बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। 'रासो' के अनुसार पृथ्वीराज ने बारह से अधिक विवाह किये थे। इन रानियों के सौंदर्य-वर्णन और पृथ्वीराज की रूपासक्ति को लेकर 'रासो' में शृंगार रसपूर्ण

अनेक स्थल हैं तथा संयोग और वियोग, शृंगार के दोनों रूप इसमें मिलते हैं। वीररस को प्रधानता देना कवि को अभीष्ट था ही, अतः इस काव्य में शृंगार अप्रधान होकर, प्रथम को उदीप्त करने के लिए सहायक रूप में प्रयुक्त हुआ है। शेष रसों में से, वीररस के सहकारी-रूप में रौद्र, भयानक और बीभत्स प्रसंगानुकूल मिलते हैं।

अलंकार—

अलंकार की साहित्यिक और कलापूर्ण योजना रचना को चमत्कारपूर्ण आकर्षण प्रदान करती है। कवि के व्यापक ज्ञान और विस्तृत अध्ययन की परिचायक यह एक ओर होती है और उसके काव्य-कौशल की दूसरी ओर। यही कारण है कि सहृदय और प्रतिभासंपन्न कवि सहठ और सप्रयास आलंकारिक प्रयोग न करके रचना को सुंदर बनाने के उद्देश्य से स्थिति और प्रसंग के अनुकूल, वर्ण्य विषय को विशेष प्रभावोत्पादकता प्रदान करने के लिए अलंकारों का उपयोग करते हैं। कवि चंद की रचना इस दृष्टि से सर्वत्र अलंकारों से युक्त और चमत्कारपूर्ण है। यों तो अनुप्रास, उपमा, यमक, श्लेष आदि सभी प्रचलित अलंकार 'रासो' में मिलते हैं, तथापि कवि चंद को विशेष प्रिय रूपक और उत्प्रेक्षा, दो ही अलंकार जान पड़ते हैं।

काव्य-कौशल—

कवि चंद ने व्याकरण, काव्य, छंद-शास्त्र, पुराण, नाटक इत्यादि विषयों का पर्याप्त अध्ययन किया था और अनेक भाषाओं—'षट भाषाओं'—में उसकी गति थी। उसके संबंध में यह भी प्रसिद्ध है कि जालंधरी देवी का इष्ट होने से वह सफलतापूर्वक अदृष्ट काव्य की रचना करने में समर्थ था। इस कथन का संकेतार्थ यही जान पड़ता है कि चंद की रचना-कुशलता और कल्पनाशक्ति अद्भुत थी। अपनी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा और सूक्ष्म पर्यवेक्षणशक्ति का परिचय उसने अनेक स्थलों पर दिया है। राजदरबार में और सेना के साथ युद्धक्षेत्र में, सर्वत्र उपस्थित रहने के कारण दरबार-चर्चा, सेना का सजना, आक्रमण की तैयारी, अस्त्र-शस्त्र-प्रकार, युद्ध-प्रसंग आदि अनेक विषयों का वर्णन कवि ने बड़ी कुशलता से किया है। युद्धक्षेत्र में वीरों या कायरों की वीररसपूर्ण अथवा

कायरताद्योतक उक्तियाँ, घायलों की चीत्कार, घोड़े-हाथियों तथा अन्य यानों का भयंकर कोलाहल आदि सभी प्रसंगों का वर्णन 'पृथ्वीराजरासो' में सजीव और ओजपूर्ण है। इस महाकाव्य में रूप-सौंदर्य-चर्चा, सैन्य-संचालन, युद्ध-कथा, आखेट-क्रीड़ा आदि अनेकानेक ऐसे विषय हैं जिनका वर्णन कवि ने कई बार किया है फिर भी उसमें नवीनता ही मिलती है, पिष्टपेषण की कोरी शिथिलता नहीं, जो पाठक या श्रोता को उबा दे। इस संबंध में एक बात ध्यान देने की यह है कि अनेक स्थलों पर रचयिता ने कथा की गति के अनुकूल छंदों का चुनाव करके वर्ण्य विषय को विशेष प्रभावोत्पादक बना दिया है। दो-एक उदाहरण इस कथन की पुष्टि में दिये जाते हैं। पृथ्वीराज के आने की सूचना पाकर उदास और शिथिल वेशवाली पद्मावती तुरंत प्रसन्न हो अपनी पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार तैयारी कर दिल्ली-नरेश के साथ जाने को प्रस्तुत हो जाती है—

दिष्षंत पंथ दिल्ली दिसांन;
सुष भयौ सूक जब मिल्यौ आन।
संदेस सुनत आनंद नैन;
उमगीय बाल मनमथ्थ सैन।

तन चिहट चीर डार्यो उतारि;
मज्जन मयंक नवसत सिंगार।
भूषन मँगाय नषसिष अनूप;
सजि सेन मनो मनमथ्थ भूप।

सोवन्न थार मोतिनि भराय;
झलहल करंत दीपक जराय।
संगह सषिय लिय सहस बाल;
रुकमिनिय जेम लज्जत मराल।

पृथ्वीराज द्वारा राजकुमारी के हरण की सूचना पाते ही समुद्रगढ़ की सारी सेना ने आमंत्रित राजाओं के साथ उनका पीछा किया। शीघ्र ही दोनों सेनाओं का सामना हुआ। उस समय का युद्ध-वर्णन निश्चय ही समयानुकूल हुआ है —

भइ षबरि नगर बाहिर सुनाय,
पद्मावतीय हरि लीय जाय।
बाजी सुबंब हय-गय पलाँन,
दौरे सुसज्जि दिस्सह दिसाँन।

तुम्ह लेहु लेहु मुष जंपि जोध,
हन्नाह सूर सब पहिरि क्रोध।
अग्गो जु राज पृथिराज भूप,
पच्छे सु भयो सब सेन रूप।

पहुँचे सु जाय तत्ते तुरंग,
भुअ भिरन भूप जुरि जोध जंग।
उलटी जु राज प्रथिराज बाग,
थकि सूर गगन, धर धसत नाग।

सामंत सूर सब काल रूप,
गहि लोह छोह बाहैं सुभूप।
कम्माँन बान छुट्टहिं अपार,
लागंत लोह इमि सारि-धार।

युद्धभूमि का एक दृश्य और देखिए। कवि चंद ने अनेक युद्धों में स्वयं भाग लिया था। इससे ऐसे दृश्य उसके सामने सदा घूमते रहते थे। इन वर्णनों के अत्यंत स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक होने का यही कारण है।

न को हार नह जित्त रहेइ न रहहिं सूरबर,
धर उप्पर भर परत करत अति जुद्ध महाभर।
कहौं कमध, कहौं मथ्थ, कहौं कर-चरन-अंतरुरि,
कहौं कंध बहि तेग कहौं सिर जुट्टि फुट्टि उर।
कहौं दंत मंत हय षुर षुपरि कुंभ भसुंडह रुंड सब,
हिंदवाँन रान भय भाँनु मुष गहिय तेग चहुँआन जब।

महाराज पृथ्वीराज के 'समुद्रशिखर' की ओर जाने पर सुलतान शहाबुद्दीन गोरी ने दिल्ली पर आक्रमण किया। पद्मावती का हरण करके लौटते समय पृथ्वीराज़ ने इस सेना का सामना किया। दोनों सेनाओं के भयंकर युद्ध का वर्णन कवि चंद ने भुजंगी छंद में इस प्रकार किया है—

गही तेग चहुआँन हिंदवाँन रानं,
गजं जूथ परि कोप केहरि समानं।
करे रुंड मुंडं करी कुंभ फारे,
बरं सूर सामंत हूँकि गजै भारे।

करी चीह चिक्कार करि कल्प भग्गे।
मदं तज्जियं लाज ऊमंग मग्गे।
दौरि गज अंध चहुआँन केरो,
घेरियं गिरद्दं चिहौं चक्क फेरो।
गिरद्दं उड़ी भाँनु अंधार रैनं,
गई सूधि सुज्झै नहीं मज्झि नैनं॥

यहाँ तक वीर-रस-संबंधी बात हुई। अब दो कवित्त ऐसे उद्धृत किये जाते हैं जिनमें पद्मावती के आकर्षक रूप की चर्चा है। इनसे कवि की सौंदर्य-वर्णन-प्रणाली का अनुमान किया जा सकता है। कवि चंद के ये दोनों कवित्त सहृदयों को विशेष प्रिय हैं—

१. मनहुँ कला ससिभान, कला सोलह सो बन्निय,
बाल बेस ससि ता समीप, अम्रित रस पिन्निय।
बिगसि कमल-स्रिग भ्रमर नैन खंजन मृग लुट्टिय,
हीर कीर अरु बिंब मोति नषसिष अहि घुट्टिय।
छप्पति गयंद हरि हंसगति बिह बनाय संचै सचिय;
पदमिनिय रूप पदमावतिय मनहुँ काम कामिनि रचिय॥

२. कुट्टिल केस सुदेस पोहप रचियत पिक्क सद,
कमल गंध बय-संध, हंस गति चलत मंद मँद।
सेत बस्त्र सोहै सरीर, नष स्वाति बुंद जस,
भ्रमर भँवहि भुल्लहिं सुभाव मकरंद बास रस।
नैन निरखि सुष पाइ सुक यह सुभ दिन मूरति रचिय।
उमा - प्रसाद हर हेरियत मिलहि राज प्रथिराज जिय॥

उक्त अवतरणों से स्पष्ट है कि चाहे वीरोत्तेजक युद्ध-वर्णन हो और चाहे सुकुमार-सौंदर्य-चर्चा, कवि चंद ने सबका प्रतिपादन बड़ी कुशलता से किया है और सभी विषयों की सफल व्यंजना के लिए कविजनोचित सहज-प्रतिभायुक्त क्षमता उसमें थी। इसीसे 'पृथ्वीराजरासो' के सभी प्रसिद्ध वर्णन स्थिति और प्रसंग के अनुकूल एवं सुंदर हैं।

महाकाव्यत्व—

महाकाव्य की रचना प्रायः सभी देशों और सभी कालों में हुई है। काव्यशास्त्राचार्यों ने इनके लिए अनेक नियम-उपनियम भी निर्धारित किये हैं। वर्तमानकाल में विभिन्न देशीय साहित्यों का अध्ययन करने से काव्य के भिन्न-भिन्न रूपों के नये-नये नियम ज्ञात होने लगे हैं और उनका उपयोग अनेक लेखकों ने करना आरंभ भी कर दिया है, परंतु कवि चंद के समय तक भारतवासियों का घनिष्ठ संबंध किसी ऐसी जाति से नहीं हुआ था जिसके साहित्य अथवा काव्यशास्त्र ने तत्कालीन साहित्यकारों का ध्यान आकर्षित किया होता। हमारा संस्कृत साहित्य सभी दृष्टियों से इतना पूर्ण भी था कि लेखकों और कवियों को उसी का संपूर्ण अध्ययन करना श्रम-साध्य, व्यय-साध्य और समय-साध्य प्रतीत होता था। अस्तु, भारतीय साहित्य-शास्त्राचार्यों के अनुसार महाकाव्य में इन लक्षणों का होना आवश्यक है—

१. आठ या इससे अधिक सर्ग अथवा अध्याय इसमें रहने चाहिएँ और वे न बहुत छोटे हों न बड़े।

२. इसका नायक देवता अथवा कुलीन वंशोत्पन्न हो और उसमें प्रधान सात्विक गुण वर्तमान रहें।

३. प्रधान रस शृंगार, वीर अथवा शांत में से एक हो। शेष रस प्रधान के सहकारी होकर आयें और गौण पद के अधिकारी रहें।

४. प्रत्येक सर्ग अथवा अध्याय में केवल एक छंद रहे और सर्गांत में छंद-परिवर्तन हो।

५. प्राचीन इतिहास-पुराण से संकलित इसकी कथा महत्वपूर्ण हो अथवा किसी महापुरुष के सदाचरण का चित्रण इसमें किया जाय।

६. प्रासंगिक विषय और कथाएँ मुख्य वस्तु से पूर्णतः संबंधित, उसे पुष्ट करनेवाली, प्रसंगानुकूल और संक्षिप्त हों।

७. प्रकृति के रमणीय दृश्यों—यथा उषा, प्रातः, संध्या, रजनी, चंद्रिका, विभिन्न ऋतु-सौंदर्य—मनोहर स्थलों—जैसे वन, उपवन, सरोवर, पर्वत—के साथ-साथ मृगया, युद्ध और साहसोत्तेजक कार्यों का यथावसर वर्णन हो।

इन सात लक्षणों में से प्रथम और चतुर्थ को छोड़कर शेष प्रायः सब 'पृथ्वीराजरासो' में मिलते हैं। महाराज पृथ्वीराज कुलीनवंशी धीरोदात्त नायक हैं। शूरता, वीरता, धीरता, सुंदरता, उदारता, विशालहृदयता आदि सर्वमान्य सद्गुणों के कारण वे विशेष लोकप्रिय हैं। युद्धों की अधिकता के कारण 'रासो' वीररस-प्रधान काव्य है। शृंगाररसपूर्ण स्थल भी यद्यपि इसमें बहुत हैं, तथापि नायक की वीर भावना को उत्तेजना प्रदान करने का कार्य ही इस रस से प्रायः लिया गया है। अतः इसकी स्थिति गौण ही समझना चाहिए। रौद्र, बीभत्स, भयानक आदि अन्य रस भी वीररस के सहकारी होकर ही इसमें आये हैं।

'पृथ्वीराजरासो' में महाराज पृथ्वीराज के जीवन की साहसपूर्ण रोचक कहानी है। उनके वीर कार्यों की गाथा इतिहास में तो प्रसिद्ध है ही; बड़ी विलक्षण बात यह है कि उस काल की ऐतिहासिक सामग्री में भी अब तक 'रासो' का महत्वपूर्ण स्थान था। अनेक प्रासंगिक कथाएँ 'रासो' में वर्णित हैं जिनसे नायक के चरित्र का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष संबंध है। अंतिम बात यह है कि सप्तम लक्षण में इंगित अनेक दृश्यों, स्थलों और प्रसंगों का अत्यंत विशद और रोचक वर्णन 'रासो' में मिलता है। सारांश यह कि प्राचीन संस्कृत साहित्य-शास्त्र में वर्णित महाकाव्य के अधिकांश लक्षण 'पृथ्वीराजरासो' में पाये जाते हैं।

परंतु इतना होते हुए भी 'पृथ्वीराजरासो' को महाकाव्य मानने में कुछ बाधाएँ बतलायी जाती हैं। एक तो यह कि उनहत्तर सर्गों का यह महाकाव्य बहुत विशाल हो गया है। दूसरे, एक ही सर्ग में अनेकानेक छंद आये हैं और उनका भी कोई क्रम नहीं है। यही सब ध्यान में रखकर डाक्टर श्यामसुंदरदास 'रासो' जैसे विशालकाय ग्रंथ को महाकाव्य मानने के पक्ष में नहीं हैं। उनके तर्क निम्नलिखित हैं—

१. महाकाव्य में जिस व्यापक तथा गंभीर रीति से जातीय चित्तवृत्तियों को स्थायित्व मिलता है, 'पृथ्वीराजरासो' में उनका सर्वथा अभाव है।

२. महाकाव्य में यद्यपि एक ही प्रधान युद्ध होता है तथापि उसमें दो विभिन्न जातियों का संघर्ष दिखाया जाता है और उसका परिणाम भी बड़ा व्यापक तथा विस्तृत होता है। 'पृथ्वीराजरासो' में न तो कोई एक प्रधान युद्ध है और न किसी महान परिणाम का ही उल्लेख है।

३. सबसे प्रधान बात यह है कि 'पृथ्वीराजरासो' में घटनाएँ एक दूसरी

से असंबद्ध हैं तथा कथानक भी शिथिल और अनियमित है। महाकाव्यों की भाँति न तो घटनाओं का किसी एक आदर्श में संक्रमण होता है और न अनेक कथाओं की एकरूपता ही प्रतिष्ठित होती है।

इन तीन प्रधान कारणों से उनकी सम्मति में 'पृथ्वीराजरासो' को महाकाव्य न कहकर 'विशालकाय वीरकाव्य' कहना ही संगत होगा।

'पृथ्वीराजरासो' को महाकाव्य स्वीकारने के संबंध में जो आपत्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं, उनके विषय में निम्नलिखित निवेदन हैं।

१—'रासो' का मूलांश जब तक क्षेपकरहित सर्वमान्य संपादित रूप में सामने नहीं आता, जब तक उसके विशालकाय होने का प्रश्न नहीं उठना चाहिए। 'रासो' में पीछे से जोड़ा गया अंश बहुत अधिक है, वह तथ्य सभी स्वीकारते हैं। अतः क्षेपकरहित होने पर 'रासो' का आकार निश्चय ही घट जायगा।

२—एक ही सर्ग में विभिन्न छंदों का होना भी ऐसी आपत्तिजनक बात नहीं है जो किसी ग्रंथ के महाकाव्य माने जाने में बाधक हो। हिंदी साहित्य-शास्त्र के प्रतिष्ठित आचार्य केशव ने भी 'रामचंद्रिका' में ऐसा ही किया है और हमारे विद्वान उसे महाकाव्य मानते हैं।

३—'जातीय चित्तवृत्तियों के स्थायित्व' का प्रश्न 'रासो' के संबंध में अनावश्यक है। कारण, प्रांतीयता अथवा वर्गप्रियता की जो संकुचित मनोवृत्ति समस्त राजपूतकालीन युग में व्याप्त थी, उससे अधिक की आशा एक आश्रित और दरबारी कवि से नहीं की जा सकती।

४—व्यक्ति-विशेष की जीवन-कथा को काव्य का विषय समझने के कारण एक युद्ध की प्रधानता और उसके निश्चित परिणाम की स्पष्टता यद्यपि 'पृथ्वीराज-रासो' में लक्षित नहीं होती, जिसका एक कारण इस काव्य की समाप्ति कवि चंद द्वारा न हो सकना भी है, तथापि महाराज पृथ्वीराज की पराजय के पश्चात् ही अनंत काल से चले आने वाले हिंदू-साम्राज्य का पतन हो जाने से बढ़कर भयंकर परिणाम और क्या हो सकता था जिसकी ओर संकेत करना रासो-कार को अभीष्ट होता।

५—अनियमित और असंबद्ध घटनाओं में अनेक प्रक्षिप्त ही जान पड़ती हैं। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि 'पृथ्वीराजरासो' का रचयिता काव्यशास्त्र का

पंडित था और उसने महाकाव्य के शास्त्रीय नियमों के पालने का अपेक्षित प्रयत्न भी किया था। ग्रंथ की प्रारंभिक प्रार्थनाएँ और प्रशस्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं, यद्यपि इस प्रयत्न की सफलता में एक तो कवि के पूर्वानिश्चित प्रस्थान और दूसरे, प्रक्षिप्त अंशों के अनियमित मिश्रण से संदेह किया जाने लगा है।

(२)

'रासो' की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता-चर्चा

'पृथ्वीराजरासो' की प्रामाणिकता के विषय में संदेह प्रकट करनेवालों में प्रथम थे जोधपुरी श्री मुरारिदान और उदयपुरी कविराज श्यामलदास। इनके विचार विद्वानों के सामने आये अवश्य, परंतु उन पर किसी ने विशेष ध्यान न दिया और 'पृथ्वीराजरासो' जिस रूप में उपलब्ध था, उसी में प्रकाशित करने का आयोजन रायल एशियाटिक सोसाइटी की ओर से किया गया। दो-एक अंक ही छपे थे कि प्रोफेसर बूलर ने एक पत्र उस सोसाइटी को, उक्त विद्वानों के मत का हवाला देते हुए, 'पृथ्वीराज-विजय' नामक काव्य के उल्लेखों के आधार पर, लिखा कि 'रासो' अप्रामाणिक है; अतः उसका प्रकाशन स्थगित कर दिया जाय। इसके पश्चात्, मुंशी देवीप्रसाद ने इस ग्रंथ को ऐतिहासिक दृष्टि से जाली सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

'रासो' की प्रामाणिकता के विरोध का सबसे सबल रूप महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा के 'पृथ्वीराजरासो का निर्माण-काल' शीर्षक लेख में मिलता है जो 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' में संवत् १९८६ में प्रकाशित हुआ था। 'रासो' की अप्रामाणिकता के विश्वासी इन विद्वानों के तर्कों से पूर्णतया सहमत होकर पंडित रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास के नये संस्करण में इन्हीं के पक्ष में अपना मत प्रकट किया है।

'पृथ्वीराजरासो' की प्रामाणिकता के समर्थन में सबसे ऊँचा सम्मिलित स्वर डाक्टर श्यामसुंदरदास और मिश्रबंधुओं का है। इन्होंने उक्त सभी विद्वानों के विचारों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करके उनके तर्कों का समुचित उत्तर दिया और

उनके प्रमाणों को निरर्थक सिद्ध करने का प्रयत्न किया। प्रोफेसर रमाकांत त्रिपाठी 'रासो' की प्राचीनता के ही अनुमोदक हैं और पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'हिंदी भाषा और साहित्य के विकास' नामक ग्रंथ में इसकी प्रामाणिकता में विश्वास प्रकट किया है।

इन दोनों विरोधी दलों का मध्यस्थ हम डाक्टर ग्रियर्सन को मान सकते हैं जो 'रासो' के महत्व को स्वीकार करते हुए भी 'अगर यह प्रामाणिक है' कहकर असमंजस में पड़ जाते हैं। नीचे इन सभी विद्वानों के तर्क संक्षेप में उनके लेखों और ग्रंथों के आधार पर दिये जाते हैं—

श्रीमुरारिदान और श्रीश्यामलदास—

'पृथ्वीराजरासो' की अप्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए इन्होंने रायल एशियाटिक सोसाइटी के जरनल में सन् १८७३ के आस-पास लिखा था। ये लोग 'रासो' को महाराज पृथ्वीराज के कई सौ वर्ष बाद लिखा गया मानते थे। उनकी सम्मति में इसका रचयिता कोई चारण या भाट रहा होगा जिसने स्व-जाति और चौहानों के गौरव का गान करने के लिए इस ग्रंथ की रचना की होगी। 'रासो' की भाषा के कुछ प्रयोगों को लेकर इन्होंने यह भी सिद्ध करने की चेष्टा की कि इस ग्रंथ की रचना राजस्थान में ही हुई होगी; कारण, इसमें अनेक प्रयोग ऐसे मिलते हैं जो केवल राजस्थान में ही प्रचलित हैं।

प्रोफेसर बूलर—

रायल एशियाटिक सोसाइटी की ओर से जब 'पृथ्वीराजरासो' के प्रकाशन का प्रबंध किया गया, तब प्रोफेसर बूलर ने उसके मंत्री को, इस महाकाव्य को अप्रामाणिक बताते हुए, एक पत्र लिखा। उनका मुख्य तर्क यह है—सन् १८७५ में काश्मीर में प्राप्त 'पृथ्वीराज-विजय' नामक काव्य का रचयिता निश्चय ही महाराज पृथ्वीराज का समकालीन और उनके राजकवियों में एक था। वह अच्छा कवि और विद्वान था। चौहानों के संबंध में उसका वर्णन, वंशावली आदि सभी बातें विक्रम संवत् १०३० और १२२६ के शिलालेखों से मिलती हैं। इस ग्रंथ के अनेक वर्णन उस काल के अन्य साक्ष्यों—यथा मालवा और गुजरात के शिलालेखों—से मिल जाते हैं। अतः 'पृथ्वीराज-विजय' की प्रामाणिकता में किसी को

संदेह नहीं हो सकता। 'पृथ्वीराजरासो' के सभी वर्णन न 'पृथ्वीराज-विजय' से मिलते हैं और न शिलालेखों से ही; अतः 'पृथ्वीराज-विजय' प्रामाणिक है और 'पृथ्वीराजरासो' अप्रामाणिक।

मुंशी देवीप्रसाद

मुंशी देवीप्रसाद का 'रासो' के संबंध में एक लेख नागरी-प्रचारिणी पत्रिका (१९०१, भाग ५, पृ० १७०) में प्रकाशित हुआ था। इनके कुछ तर्क इस प्रकार हैं—'पृथ्वीराजरासो' में जो इतिहास है वह अधिकांश कल्पित, बहुत ही असंगत और असत्य है तथा विचार करने से ऐसा ज्ञात होता है कि पृथ्वीराजजी के बहुत पीछे चंद या किसी दूसरे कबि ने चंद के नाम से अटकलपच्चू इतिहास की भरती करके यह काव्य रचा है। ××× कपोलकल्पित और मनमानी कथाएँ इसमें बहुत देख पड़ीं जिनका इतिहास से कुछ भी संबंध नहीं पाया गया। ×××। शिलालेखों, मुसलमानी इतिहासों और 'पृथ्वीराज-विजय' ग्रंथ में, जो पृथ्वीराज के समय का बना हुआ है, 'रासो' की गल्तियाँ खूब पकड़ी जाती हैं—

(१) 'रासो' में जिन राजाओं और वृत्तांतों का संवत् ११००-१२०० में होना लिखा है वे सौ वर्ष पीछे संवत् १२००–१३०० के बीच में हुए थे।

(२) 'रासो' में लिखे राजाओं में से कई तो उस समय से पहले भी हो गये हैं, जैसे मंडोर महीपनाउ राव प्रतिहार जिसकी आठवीं पीढ़ी में राजा कक्कुक प्रतिहार संवत् ९२२ में हुआ था।

(३) कई राजाओं के झूठे नाम ही लिख दिये हैं, जैसे आबू पहाड़ के राजा जेत और शलख जिनके नाम वहाँ के शिलालेखों में कहीं नहीं हैं। आबू पर तो उस समय धारावर्ष प्रमार राज करता था जो पृथ्वीराज के पीछे तक जीता रहा।

(४) कई राजाओं का झूठे ही पृथ्वीराज के हाथ से मारा जाना लिख मारा है; जैसे गुजरात के राजाधिराज भीमदेव। परंतु मुसलमानी इतिहासों तथा शिलालेखों के अनुसार संवत् १२७२ तक इसका जीवित रहना निश्चित होता है। इसी भाँति शहाबुद्दीन गोरी का भी पृथ्वीराजजी के तीर से मारा जाना सच नहीं है जो पृथ्वीराज जी को मार कर दस वर्ष पीछे संवत् १२६० में गक्कड़ों के हाथ से मारा गया था।

(५) पृथ्वीराज जी से सौ वर्ष पीछे होने वाले राजाओं को भी उनका समकालीन और संबंधी लिख दिया है। उदाहरणार्थ, चित्तौड़ के रावल समरसी का विवाह चंद तो पृथ्वीराजजी की बहिन पृथा से करता है, पर उनके शिलालेख संवत् १३३५ और १३४२ के मिलते हैं।

अतएव 'रासो' इतिहास विषय में तो कुछ उपयोगी नहीं है; हाँ, काव्य तो अति अनुपम है और वीर रस से भरा पड़ा है।

म० म० गौरीशंकर हीराचंद ओझा—

ऊपर जिन विद्वानों के नाम आये हैं, उन्होंने 'रासो' के संबंध में अपने विचार दो-एक बार प्रकट करके एक प्रकार से अवकाश-सा ग्रहण कर लिया; परंतु महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा ने समय-समय पर 'रासो' को ऐतिहासिक दृष्टि से अप्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया और उसे प्रामाणिक समझनेवालों के तर्कों का खंडन भी वे बराबर करते रहे। उनके मत का सारांश यह है—

'पृथ्वीराजरासो' बिलकुल अनैतिहासिक ग्रंथ है। उसमें चौहानों, प्रतिहारों और सोलंकियों की उत्पत्ति के संबंध की कथा, चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता, भाई, बहिन, पुत्र और रानियों आदि के विषय की कथाएँ तथा बहुत सी घटनाओं के संवत् और प्रायः सभी घटनाएँ तथा सामंतों आदि के नाम अशुद्ध और कल्पित हैं; कुछ सुनी-सुनायी बातों के आधार पर उक्त बृहत् काव्य की रचना की गयी है। यदि 'पृथ्वीराजरासो' पृथ्वीराज के समय में लिखा जाता तो इतनी बड़ी अशुद्धियों का होना असंभव था।

भाषा की दृष्टि से भी यह ग्रंथ प्राचीन नहीं दीखता। इसकी डिंगल भाषा में जो कहीं-कहीं प्राचीनता का आभास होता है, वह तो डिंगल की विशेषता ही है। आज की डिंगल में भी ऐसा आभास मिलता है जिसका बीसवीं सदी में बना हुआ 'वंश-भास्कर' प्रत्यक्ष उदाहरण है। 'रासो' की भाषा में फारसी शब्दों की बहुलता भी उसके प्राचीन होने में बाधक है।

वस्तुतः 'पृथ्वीराजरासो' विक्रम संवत् १६०० के आसपास लिखा गया। विक्रम संवत् १५१७ की प्रशस्ति में 'रासो' की घटनाओं का उल्लेख नहीं है

और 'रासो' की सबसे पुरानी प्रति विक्रम संवत् १६४२ की मिली है जिसके बाद यह ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हो गया, यहाँ तक कि विक्रम संवत् १७३२ की राजप्रशस्ति में 'रासो' का स्पष्ट उल्लेख है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि पहले 'पृथ्वीराज रासो' का मूल रूप उसके वर्तमान परिमाण से बहुत छोटा था, परंतु पीछे से बढ़ाया गया है; क्योंकि आज से १८५ वर्ष पूर्व उसी के वंशज कवि जदुनाथ ने उसका १०५००० श्लोकों का होना लिखा है।

'पृथ्वीराजरासो' को प्राचीन सिद्ध करने के लिए जो दूसरी उक्तियाँ दी जाती हैं, वे भी निराधार ही हैं। आनंद विक्रम संवत् की कल्पना तो बहुत व्यर्थ और निर्मूल है।

ओझा जी के ये कथन 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' (भाग १०, अंक १–२, पृष्ठ ६५–६६) से उद्धृत हैं। अन्यत्र उन्होंने इन्हीं बातों को इस प्रकार दोहराया है।

(१) रासो सत्रहवीं शताब्दी का जाल है।

(२) यह भ्रम फैलाना भी ठीक नहीं है कि 'रासो' अपने मूल रूप में छोटा रहा होगा; क्योंकि चंद के ही वंशज करौली के राजा के राजकवि जदुनाथ ने उसमें १०५००० श्लोकों का होना लिखा है।

(३) सब बातों पर विचार करके ओझा जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पृथ्वीराज के दर्बार में चंद्र नाम का कोई ग्रंथकार नहीं था और 'रासो' स्वयं बहुत पीछे की रचना है।

ओझा जी के इन तीनों विचारों को स्वीकारने में ये आपत्तियाँ हैं—

(१) पहली बात यह है कि सत्रहवीं शताब्दी में जब सभी दरबारी कवि अपने आश्रयदाता की उचित-अनुचित प्रशंसा करते नहीं थकते थे, उस समय, एक अज्ञातनाम कवि को चार सौ वर्ष पहले के एक हिंदू सम्राट के यशोगान की प्रेरणा किस प्रकार मिली और इसमें उसका क्या लाभ था? दूसरी बात यह कि अपने वर्तमान रूप में अनेक कवियों की रचनाओं का संग्रह-मात्र होते हुए भी निश्चय ही सामूहिक रूप से यह ग्रंथ न रचा गया होगा। क्षेपक अंश किसी ग्रंथ में तब जोड़े जाते हैं जब मूल रचना अथवा उसके रचयिता को प्रसिद्धि मिल चुकी हो। ओझा जी के कथन से इस बात का भी समाधान नहीं होता।

(२) ओझाजी का दूसरा तर्क और भी अधिक आश्चर्य में डालनेवाला है। जब वे चंद के अस्तित्व में ही विश्वास नहीं करते तब किसी को उसका वंशज कैसे स्वीकार किया जा सकता है और फिर यही कैसे मान लिया जाय कि उसकी बात ठीक है।

(३) तीसरे कथन के अंतिमांश के संबंध में हमें कुछ नहीं कहना है; क्योंकि पर्याप्त आलोचना-प्रत्यालोचना हो जाने पर भी यह विषय विवाद-ग्रस्त ही है। पर उक्त वाक्य का पूर्वार्द्ध उचित नहीं जान पड़ता। कवि चंद के नाम को जो इतनी अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हो चुकी है उसका कुछ न कुछ आधार अवश्य होगा और उसका अस्तित्व रहा ही न हो, यह किसी तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता। संभव दो ही बातें हैं। एक तो यह कि वर्तमान 'रासो' अपने मूल रूप में चंद की रचना हो और उसमें बहुत-सा प्रक्षिप्त अंश बाद को जोड़ दिया गया हो। दूसरे, चंद नाम का कोई कवि पृथ्वीराज के दरबार में रहा हो और उसने जिस महाकाव्य की रचना की हो, वह दुर्भाग्य से अप्राप्य हो गया हो। श्रीयुत रामनारायण दूँगड़ ने भी एक छप्पय उद्धृत करके ऐसा ही अनुमान किया है।

छप्पय यह है—

> **गुन मनियन रस पोइ चंद कवियन दिद्धिय।**
> **छंद गुनी तैं तुट्टि मंद कवि भिन्न-भिन्न किद्धिय।**
> **देश देश बिष्षरिय मेल गुन पार न पावय।**
> **उद्दिम करि मेलवत आस बिन आलय आवय।**
> **चित्रकोट रान्न अमरेश नृप हित श्रीमुख आयस दयौ।**
> **गुन बीन-बीन करुणा उदधि लिखि 'रासौ' उद्दिम कियौ।**

यह छप्पय प्रामाणिक और सर्वमान्य है या नहीं, कहा नहीं जा सकता। फिर भी इससे इतना संकेत अवश्य मिलता है कि चंद ने 'रासो' नामक एक ग्रंथ बनाया था जो अपने मूल रूप में सुरक्षित न रह सका। उसके छंद देश में इधर-उधर बिखर गये जिनका पुनः संग्रह चित्तौड़ के किन्हीं राना ने कराया।

यह रचना इतनी सुंदर थी और इसकी ख्याति इतनी अधिक थी कि कवियों ने उसी ढाँचे पर, उन्हीं छंदों में 'रासो' को नवीन रूप दिया जो अब प्राप्त है। इससे कुछ और भी लचर प्रयत्न जगनिक अथवा जगनायक कवि के आल्हा

के संबंध में किया जा चुका है। इस बात की भी संभावना है कि जिस कवि ने 'रासो' को लिपिबद्ध किया, मूल ग्रंथ का अधिकांश उसे कंठ रहा हो अथवा उस समय तक प्राप्त खंडित प्रतियों के आधार पर उसने उसे लिपिबद्ध किया हो और रासो-कार का नाम देने का निश्चय कर लेने के बाद इस बात की आवश्यकता न समझी हो कि प्राचीन प्रतियों का उल्लेख किया जाय। अस्तु।

पंडित रामचंद्र शुक्ल—

'पृथ्वीराजरासो' की अप्रामाणिकता सिद्ध करने का प्रयत्न होने पर बहुत से विद्वान आलोचकों ने अपना मत बदल दिया और उसकी प्रामाणिकता में संदेह करने लगे। इनमें सबसे प्रधान थे पंडित रामचंद्र शुक्ल। आरंभ में ये डाक्टर श्यामसुंदरदास के साथ चंद के अस्तित्व में विश्वास करते थे और उसके 'रासो' को असली समझते थे। परंतु अब उनका परिवर्तित मत यह है—

इस संबंध में इसके अतिरिक्त और कुछ कहने की जगह नहीं कि यह पूरा ग्रंथ वास्तव में जाली है। यह हो सकता है कि इसमें इधर-उधर के कुछ पत्र चंद के भी बिखरे हों, पर उनका पता लगाना असंभव है। यदि यह ग्रंथ किसी समसामयिक कवि का रचा होता और इसमें कुछ थोड़े अंश ही पीछे से मिले होते तो कुछ घटनाएँ और कुछ संवत् तो ठीक होते। × × × इस अवस्था में यही कहा जा सकता है कि 'चंदवरदाई' नाम का यदि कोई कवि था तो वह या तो पृथ्वीराज की सभा में न रहा होगा या 'पृथ्वीराज-विजय' के कर्ता जगनायक कवि के काश्मीर लौट जाने पर आया होगा। अधिक संभव यह जान पड़ता है कि पृथ्वीराज के पुत्र गोविंदराज या उसके भाई हरिराज अथवा इन दोनों में से किसी के वंशज के यहाँ चंद नाम का कोई भट्ट कवि रहा हो जिसने उनके पूर्वज पृथ्वीराज की वीरता आदि के वर्णन में कुछ रचना की हो। पीछे जो बहुत-सा कल्पित 'भट्ट-भणंत' तैयार होता गया, उस सबको लेकर और चंद को पृथ्वीराज का समसामयिक मान, उसी के नाम पर 'रासो' नाम की यह बड़ी इमारत खड़ी की गयी हो। × × ×। इस दशा में भाटों के इस वाग्जाल के बीच कहाँ पर कितना अंश असली है इसका निर्णय असंभव होने के कारण यह ग्रंथ न तो भाषा के इतिहास के और न साहित्य के इतिहास के जिज्ञासुओं के काम का है।

डाक्टर ग्रियर्सन—

डाक्टर ग्रियर्सन साहब उन विदेशी विद्वानों में हैं जो 'पृथ्वीराजरासो' के काव्यत्व से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने बहुत पहले 'रासो' और उसके रचयिता के संबंध में जो लिखा था, उसका भावार्थ इस प्रकार है—

चंद बरदाई की रचनाओं का संकलन मेवाड़ के राणा अमरसिंह ने सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ में कराया। यह संभव है कि उसी समय इस महाकाव्य के अधिकांश को इस प्रकार नवीन रूप दिया गया हो, जिसके फलस्वरूप सारे ग्रंथ को जाली समझने के नये मत का जन्म हुआ।

चंद कवि के ग्रंथ का अध्ययन करके मैं उसके कवित्व-सौंदर्य पर मुग्ध हुआ हूँ; परंतु मुझे संदेह है कि जो व्यक्ति राजपूताने की बोलियों से परिचित नहीं है, वह इसके पढ़ने का भी आनंद ले सकेगा। फिर भी भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी के लिए ग्रंथ बहुमूल्य है। कारण, प्राचीन गौड़ीय और परवर्ती कवि-शृंखला को जोड़ने के लिए पाश्चात्य अनुसंधानकों के सामने यही एक कड़ी है। यद्यपि चंद का मूल ग्रंथ हमारे सामने नहीं है, तथापि 'रासो' में शुद्ध अपभ्रंश, और शौरसेनी प्राकृत, रूपों में गौड़-साहित्य के प्राचीनतम उदाहरण मिलते हैं।

डाक्टर ग्रियर्सन के इस कथन से स्पष्ट है कि जिस समय 'रासो' को जाली कहा जाने लगा था, वे इस मत के पोषकों के तर्कों पर विचार करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि संभवतः सत्रहवीं शताब्दी में 'रासो' को नवीन रूप दिया गया जो इस मत के प्रचार का कारण बना।

ग्रियर्सन साहब की यह सम्मति प्रासंगिक है। पश्चात, 'पृथ्वीराजरासो' की अप्रामाणिकता-चर्चा जोरों से हुई तब उन्होंने तटस्थ भाव से लिखा कि यदि यह ग्रंथ प्रामाणिक है तब भारत के इस भूभाग का तत्कालीन इतिहास समझना चाहिए। जो हो, जिस रूप में यह ग्रंथ हमें प्राप्त है, उसमें संस्कृत महाभारत की तरह क्षेपक भाग इतना अधिक है कि उसे अलग करके महाकाव्य के मूलांश का पता लगा लेना कदाचित असंभव ही है।

पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या—

'पृथ्वीराजरासो' की अप्रामाणिकता का प्रश्न उठने पर उसकी संरक्षा का सबसे प्रबल प्रयत्न किया पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने। महाराज

पृथ्वीराज के समय के ऐतिहासिक साक्ष्यों और 'पृथ्वीराजरासो' के संवतों में ६०–६१ वर्षों का अंतर देख कर इन्होंने इस महाकाव्य के आदि पर्व के ३५५वें और ३५६वें रूपकों को लेकर आनंद संवत् की कल्पना की। वे रूपक ये हैं—

(१) एकादस सै पंचदह विक्रम जिमि ध्रमसुत्त।
त्रतिय साक प्रथ्वीराज को लिख्यो बिप्र गुन गुत्त॥
(२) एकादस सै पंचदह बिक्रम साक अनंद।
तिहि रिपु जयपुर हरन कौं, भय प्रथिराज नरिंद॥

भावार्थ यह कि चंद लिखता है—जैसे युधिष्ठिर के ११०० वर्ष पीछे विक्रम संवत् चला वैसे ही विक्रम के ११०० वर्ष पीछे मैं पृथ्वीराज का संवत् चलाता हूँ।

इस नये अनंद संवत के 'अनंद' शब्द का अर्थ पंड्याजी के अनुसार है 'नंदरहित' और नंद का अर्थ है नौ; क्योंकि भागवत में लिखा है—'नव नंदा प्रकीर्तिता'। 'अ' का अर्थ है शून्य। अतः 'अनंद' का अर्थ हुआ ६० और इसे घटा देने से चंद का दिया हुआ समय ठीक मिल जाता है।

इस 'अनंद' शब्द के अर्थ के संबंध में एक दूसरी कल्पना भी है। वह यह कि राजा चंद्रगुप्त के अतिरिक्त महापद्म नंद के जो पुत्र नंदवंशीय कहलाते थे, उनका राजत्वकाल विक्रम संवत् से निकाल देने, अर्थात् विक्रम संवत् से नंदों के राज करने का समय घटा देने, से जो नया संवत् प्रचलित हुआ वह 'अनंद' कहलाया। म० म० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अनंद संवत् की इस कल्पना को निराधार सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, परंतु डा० श्यामसुंदरदास और मिश्र बंधु इसका समर्थन करते रहे हैं।

डाक्टर श्यामसुंदरदास—

'पृथ्वीराजरासो' को अप्रामाणिक सिद्ध करनेवालों की बातों का सबसे पहला खंडन बाबू श्यामसुंदरदास ने १६०१ में 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित 'हिंदी का आदि कवि' शीर्षक लेख में किया। इस निबंध में उन्होंने पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या से मिले हुए नौ प्राचीन परवाने और पट्टे अनुवाद सहित प्रकाशित किये जिनका संबंध 'रासो' में वर्णित घटनाओं से है। इन पट्टे-परवानों का समय संवत् ११३५ से ११५७ के बीच में है। इनके आधार पर उन्होंने निम्नलिखित बातें प्रमाणित कीं—

(१) ऋषीकेश कोई बड़ा वैद्य था जिसका बहुत ही घनिष्ठ संबंध मेवार और दिल्ली के राजघरानों से था और जो पृथाबाई के विवाह के समय चित्तौड़ के महाराज श्रीरावल समरसी (समरसिंह) को दहेज में दिया गया था। यह घटना इन परवानों के अनुसार संवत् ११४५ में हुई। महाराणी पृथाबाई ने जो अंतिम पत्र अपने पुत्र को लिखा था, उसमें उन चार घर के लोगों का उल्लेख था जो उनके साथ चित्तौड़ से आये थे और जिन्हें सम्मानपूर्वक रखने के लिए उसने अपने पुत्र को लिखा था। 'पृथ्वीराजरासो' के 'पृथा-विवाह समय' से उद्धृत निम्नलिखित अंश से यह कथा स्पष्ट हो जायगी--

श्रीपत सह सुजान देश थम्मह सँग दिन्नो।
अरु प्रोहित गुरुराम ताहि अग्या नृप किन्नो।
रिषीकेष दिय ब्रह्म ताहि धनंतर पद सोहे।
चंद सुतन कवि जल्ह असुर सुर नर मन मोहे।
कवि चंद कहे बरदाय बर फिर सुराज अग्या करिय।
करि जोर कह्यो पीथल नृपति तब रावर सत भाँवर फिरिय॥
निगम बोध गौतम रिषि, थिर जेहि दिल्ली थान।
दास भगवती नाम दे पृथीराज चौहान॥
रिषीकेस अरु राम रिषि बहुबिधि देकर मान।
पृथा कुँवरि पद नाइ के संग चलाये जान॥

इससे स्पष्ट है कि जिन घरों का वर्णन पृथाबाई ने अपने पत्र में किया था उनके विषय में चंद का कथन है कि वे दहेज में रावल समर सिंह को दिये गये थे।

(२) पृथ्वीराज के परवानों पर जो मोहर है उससे उसके सिंहासन पर बैठने का समय ११२२ विदित होता है। यह चंद के दिये हुए समय से मिलता है। 'रासो' के दिल्ली दान समय' में लिखा है —

एकादस संवत अट्ट अग्ग हत तीस भने।
प्रथ सुरति तहाँ हेन सुद्ध मर्गासुर सुमास गने।
सेत पक्ख पंचमीय सकल गुरु पूरन।
सुदि मृगासिर सम इंद्र जोग सदहि सिध चूरन।
पहु अनंगपाल अप्पिय पहुनि, पुत्तिय पुत्त पवित्त मन।
छँड्यो सुमोह सुख तन बरुनि, पत्ती बद्री सजे स्मरन॥

अतः चंद के अनुसार अनंगपाल ने राजसिंहासन अपने दौहित्र को शुद्ध मन से ११३० –८ = ११२२ को मार्ग शीर्ष सुदी ५ को दिया।

इस लेख में पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या के 'अनंद संवत्' का समर्थन करते हुए बाबू राधाकृष्णदास के परामर्श से एक और बात लिखी गयी है जो उनकी सम्मति में 'सबसे उपयुक्त' है—यह बात इतिहास में प्रसिद्ध है कि कन्नौज का राजा जयचंद अपने को अनंगपाल का उत्तराधिकारी बताता था और कहता था कि गद्दी पर बैठने का अधिकार मेरा है न कि पृथ्वीराज का। इस कारण पृथ्वीराज और जयचंद, दोनों में परस्पर विवाद रहा और अंत में दोनों का नाश हुआ। कन्नौज के राजाओं ने जयचंद तक केवल ९०–९१ वर्ष राज्य किया था। अतएव आश्चर्य नहीं कि उनके राजत्वकाल को न गिनने के प्रयोजन से और नंदवंशियों के तुल्य मानने के अभिप्राय से इस नवीन संवत् का प्रचार किया गया हो।

डाक्टर श्यामसुंदरदास ने अन्यत्र भी 'पृथ्वीराजरासो' की प्रामाणिकता सिद्ध करने का भगीरथ प्रयत्न किया। उनकी सम्मति का सारांश यह है कि अपने वर्तमान रूप में 'रासो' किसी एक कवि की कृति नहीं जान पड़ता। × × ×। चंद बरदाई नाम के किसी कवि का पृथ्वीराज के दरबार में होना निश्चित है और यह भी निश्चित है कि उसने अपने आश्रयदाता की गाथा विविध छंदों में लिखी थी, परंतु समयानुसार उस गाथा की भाषा में तथा उसके वर्णित विषयों में बहुत हेर-फेर होते रहे और इस कारण अब उसके प्रारंभिक रूप का पता लगाना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

मिश्रबंधु—

मिश्रबंधु 'पृथ्वीराजरासो' की प्रामाणिकता के आरंभ से ही विश्वासी रहे हैं। उसकी अप्रामाणिकता सिद्ध करनेवालों के तर्कों का उन्होंने सविस्तार उत्तर इस प्रकार दिया है —

(१) इतिहास-संबंधी भ्रांतियों के तीन कारण—

(क) चंद ने अपने स्वामी का अतिशयोक्तिपूर्ण प्रताप कथन किया। कवि के लिए यह स्वाभाविक है।

(ख) जो भ्रांतियाँ मामूली पड़ती हैं वे वास्तव में भ्रांतियाँ नहीं हैं, क्योंकि

नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित तत्कालीन पट्टे-परवानों से उनकी पुष्टि होती है। ओझाजी इन्हें जाली मानते हैं तो यह उनका 'साहस मात्र' है।

(ग) वास्तव में ये भ्रांतियाँ ही हैं तो क्षेपकों के कारण हो सकती हैं।

(२) 'रासो' की सभी तिथियों में विक्रम संवत् से ९० वर्ष का जो समान अंतर मिलता है उसका कारण यह है कि 'रासो' में साधारण विक्रमीय संवत् का प्रयोग नहीं हुआ है। उसमें किसी ऐसे संवत् का प्रयोग हुआ है जो वर्तमान काल के प्रचलित विक्रमीय संवत् से ९० वर्ष पीछे था। यह 'अनंद संवत्' था।

(३) अरबी-फारसी शब्दों के दो कारण—

(क) शहाबुद्दीन गोरी से लगभग पौने दो सौ वर्ष पहले महमूद गजनवी भारत में लूट-मार करने आ चुका था। गजनवी से तीन सौ वर्ष पहले भी सिंध और मुलतान पर मुसलमानों का अधिकार हो चुका था और वे भारत में अपना व्यापार करने लगे थे। पंजाब भी मुसलमानी संस्कृति से प्रभावित हो चुका था। चंद लाहौर का निवासी था, अतः बाल्यावस्था से ही ये अरबी-फारसी शब्द उसके मस्तिष्क में प्रवेश करने लगे थे। इस कारण चंद की भाषा में मुसलमानी शब्दों का होना स्वाभाविक है।

(ख) 'रासो' का बहुत-सा भाग प्रक्षिप्त है। अतः परवर्ती काल में मुसलमानी आतंक के साथ-साथ भाषा पर अरबी-फारसी का आतंक होना भी स्वाभाविक था। इसीलिए प्रक्षिप्त अंशों में भी मुसलमानी शब्दों के आ जाने से 'रासो' में दस प्रतिशत शब्द अरबी-फारसी के आ गये हैं।

म० म० हरप्रसाद शास्त्री—

'रासो' की प्रामाणिकता का समर्थन करनेवालों में महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री का नाम भी उल्लेखनीय है। आपने सन् १९०९ से १९१३ तक राजपूताने के प्राचीन ऐतिहासिक काव्यों की खोज और 'पृथ्वीराजरासो' की प्राचीनता सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

प्रोफेसर रमाकांत त्रिपाठी—

'पृथ्वीराजरासो' की प्रामाणिकता और प्राचीनता में प्रोफेसर रमाकांत त्रिपाठी

भी विश्वास करते हैं। इन्होंने 'चाँद' के 'मारवाड़ी-अंक' में 'महाकवि चंद के वंशधर' शीर्षक एक लेख लिखा था। इसमें त्रिपाठी जी ने नेनूराम ब्रह्मभट्ट को चंद की सत्ताइसवीं पीढ़ी का वंशज बताया है। नेनूरामजी के पास 'पृथ्वीराजरासो' की एक प्रति है जिसका लिपिकाल संवत् १४५५ बताया गया है। इस प्राचीन प्रति के आधार पर त्रिपाठी जी कहते हैं कि पंद्रहवी शताब्दी के पूर्व ही 'रासो' की रचना हो चुकी थी।

नेनूराम जी की प्रति प्रामाणिक है या नहीं, कहा नहीं जा सकता। अतः त्रिपाठी जी के कथन से इतना ही ज्ञात होता है कि वे 'रासो' की प्राचीनता में विश्वास रखते हैं।

पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय—

'पृथ्वीराजरासो' की प्रामाणिकता सिद्ध करते हुए पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय अपने 'हिंदी भाषा और साहित्य का विकास' नामक ग्रंथ में लिखते हैं—मेरा विचार है कि इस ग्रंथ में ऐसी भी रचनाएँ हैं जिनको हम बारहवीं शताब्दी की रचना निःसंकोच मान सकते हैं। + + + +। ऐतिहासिक विशेषताओं पर दृष्टि रखकर 'पृथ्वीराजरासो' की आदिम रचना को बारहवीं शताब्दी का मानना पड़ेगा। बहुत - कुछ विचार करने पर मैं इस सिद्धांत पर पहुँचा हूँ कि 'पृथ्वीराज-रासो' में प्राचीनता की जो विशेतषाएँ मौजूद हैं वे वीरगाथा काल की किसी पुस्तक में स्पष्ट रूप से नहीं पायी जातीं। कुछ वर्णन इस ग्रंथ के ऐसे हैं जिन्हें प्रत्यक्षदर्शी ही लिख सकता है। + + + +। 'रासो' के कुछ छंद भी इस बात के प्रमाण हैं कि उसकी मुख्य रचनाएँ बारहवीं शताब्दी की हैं। आज तक हिंदी साहित्य में गाथा छंद का व्यवहार नहीं होता; किंतु चंदबरदाई इस छंद से काम लेता था। इससे यही पाया जाता है कि 'पृथ्वीराजरासो' आरंभ की ही रचना है।

चर्चा का नवीन रूप—

प्राचीन हिंदी साहित्य के विभिन्न उद्धारकों के 'पृथ्वीराजरासो'-संबंधी मत ऊपर दिये जा चुके हैं। उनसे स्पष्ट है कि 'रासो' और उसके रचयिता के संबंध में कोई सर्वमान्य मत अभी निश्चित नहीं हुआ है। संवत् १९९७ की 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका के चौथे अंक में डाक्टर श्यामसुंदरदास ने 'पृथ्वीराजरासो' शीर्षक

एक लेख प्रकाशित कराया था। उसके निम्नलिखित अंश से इस महाकाव्य-खोज-संबंधी चर्चा के नवीन रूप का पता लगता है।

इधर एक नयी स्थिति उपस्थित हो गयी है जो 'पृथ्वीराजरासो' की वर्तमान लब्ध प्रतियों के विषय में एक जटिल प्रश्न उपस्थित करती है। मुनिजिनविजयजी ने अपने प्रकाशित 'पुरातन प्रबंध - संग्रह' (सिंघी जैन-ग्रंथमाला, पुष्प २) में पृथ्वीराज और जयन्चंद-विषयक प्रबंधों में चार ऐसे छंदों को दिया है जिन्हें वे चंद-रचित बताते हैं। इनके संबंध में मुनि जी ने लिखा है—इस संग्रहगत पृथ्वीराज और जयचंद-विषयक प्रबंधों से हमें यह ज्ञात होता है कि चंद कवि-रचित 'पृथ्वीराजरासो' नामक हिंदी महाकाव्य के कर्तृत्व और काल के विषय में जो कुछ पुराविद् विद्वानों का यह मत है कि ग्रंथ समूचा ही बनावटी है और १७वीं सदी के आसपास में बना हुआ है, यह मत सर्वथा सत्य नहीं है। चंदकवि निश्चिततया एक ऐतिहासिक पुरुष था और वह दिल्लीश्वर हिंदू सम्राट् पृथ्वीराज का समकालीन और उसका सम्मानित एवं राजकवि था। उसी ने पृथ्वीराज के कीर्तिकलाप का वर्णन करने के लिए देश्य प्राकृत भाषा में एक काव्य की रचना की थी जो 'पृथ्वीराजरासो' के नाम से प्रसिद्ध हुई[1]।

उन चार छंदों में तीन का रूपांतर तो काशी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'रासो' में आ गया है। चौथे का पता अभी तक नहीं लगा है। चारों छंद ये हैं—

(१) मूल

इक्कु बाणु पहुबीस जु पइँ कइँबासह मुक्कयो,
उर भितरि खडहडिउ धीर कक्खंतरि चुक्कउ।
बीअं करि संधीउँ भँमइ सूमेसर नंदण !
एहु सु गडिदाहिमओं खणइ खुद्दइ सइँभखिणु।
फुड छंडि न जाइ इहु लुब्भिउ वारइ पलकउ खल गुलह।
नं जाँणउँ चंदबलद्दिउ किं न वि छुट्टइ इह फलह॥

—पृष्ठ ८६, पद्यांक २७५।

रूपांतर

एक बान पहुमीनरेस कैमासह मुक्यो।
उर उप्पर थरहर्यौ बीह कष्षंतर चुक्यो॥

1. 'पुरातत्व प्रबंध-संग्रह', पृ० ६।

बियों बान संधान हन्यो सोमेसर नंदन ।
गाढ़ो करि निग्रह्यों षनिव गड्यौ संभरि धन ॥
थल छोरि न जाइ अभागरौ गाड्यौ गुन गहि आगरौ ।
इम जंपै चंदबरद्दिया कहा निघट्टै इय प्रलौ ॥
—'रासो,' पृष्ठ १४६६, पद्य २६६ ।

(२) मूल

अगहु म गहि दाहिमओं रिपुराय खयंकरु,
कूडु मंत्रु मम ठवओं एहु जंबूय (प ?) मिलि जग्गरु ।
सह नामा सिक्खवउं जइ सिक्खविउं बुज्झइं,
जंपइ चंद वलिद्द मज्झ परमक्खर सुज्झइ ।
पहु पहुविराय सइंभरि धणी सयँभरि सउणइ संभरिसि ।
कइँबास बिआस विसट्टविणु मच्छिबंधि बद्धओं मरिसि ॥
—पृष्ठ ८६, पदांक २७६ ।

रूपांतर

अगह मगह दाहिमौ देव रिपुराइ षयंकर ।
कूर मंत जिन करौ मिले जंबू वै जंगर ॥
मो माहनामा सुनौ एह परमारथ सुज्झै ।
अष्षै चंद बिरद्द बियौ कोइ एह न बुज्झै ॥
प्रथिराज सुनवि संभरि धनी इह संभलि संभारि रिस ।
कैमास बलिष्ठ बसीठ बिन म्लेच्छ बंध बंध्यौ मरिस ॥
—'रासो', पृष्ठ २१८२, पद्य ४७६ ।

मूल (३)

त्रिण्हि लक्ख तुषार सबल पाषरिअइँ जसु हय,
चऊदसय मयमत्त दंति गज्जंति महामय;
बीस लक्ख पायक्क सफर फारक्क धणुद्धर,
ल्हूसडु अरु बलु यान सँख कु जाणइ तांह पर ।
छत्तीस लक्ष नराहिवइ विहि विनिडिओ हो किम भयउ,
जइचंद न जाणउ जल्हुकइ गयउ कि मूउ कि धरि गयउ ॥
—पृष्ठ ८८, पदांक २८७ ।

रूपांतर

असिह लष्ष तोषार सजउ पष्षर सायद्दल ।
सहस हस्ति चवसट्ठि गरुअ गज्जंत महाबल ॥
पंच कोटि पाइक्क सुफर पाटक्क धनुद्धर ।
जुध जुधान बर बीर तोन बंधन सद्धनभर ॥
छत्तीस सहस रन नाइबौ विही क्रिम्मान ऐसो कियौ ।
जैचंद राय कवि चंद कहि उदधि बुड्डि कै धर लियौ ॥
—'रासो', पृष्ठ २५०२, पद्य २१६ ।

(४) मूल

जइ तचंदु चक्कवइ दये तुह दूसह पयाणउ ।
धरणि धसविउद्धसइ पडइ रायह भंगाणओ ॥
सेसुमणिहिं सकियउ मुक्कु हय खरिसिरि खंडिओ ।
तुट्टओ सोहर धवलु धूलि जसुच्चियतणि मंडिओ ॥
उच्छहरिउ रेणु जसग्गिराय सुकवि ब (ज) ल्हु सच्चउ चवइ ।
वग्ग इंदु बिंदु भुयजु अलि सहस नयण किण परि मिलइ ॥
—पृष्ठ ८८-८६

जिस प्रति से मुनि जी के प्रबंध संकलित हुए हैं, उसका लिपिकाल संवत् १५२८ बताया गया है। इस प्रति के अंतिम पृष्ठ के हासिये पर दो गाथाएँ दी हुई हैं जो इस प्रकार हैं—

सिरवत्थुपालनंदण मंतीसर जयसिंह भणणत्थं ।
नागिंदगच्छ मंडप उदयप्पह सूरि सीसेणं ॥
जिणभद्देण य विक्कम कलाउ नवइ अहिय वार सए ।
नाना कहाण पहाण एस पबंधावली रईआ ॥

तात्पर्य यह कि नागेंद्रगच्छ के आचार्य उदयप्रभसूरि के शिष्य जिनभद्र ने मंत्रीश्वर वस्तुपाल के पुत्र जसवंतसिंह के पढ़ने के लिए विक्रम संवत् १२६० में इस नाना कथानक-प्रधान प्रबंधावली की रचना की। इस सूचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'रासो' की रचना संवत् १२६० नहीं तो संवत् १५२८ के पूर्व हो चुकी थी। परंतु इस संबंध में यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि 'रासो' की मूल रचना अपभ्रंश में हुई या हिंदी छंदों

का अपभ्रंश में अनुवाद किया गया ? जब तक 'रासो' की प्रति अपभ्रंश में अथवा कोई पूर्ण प्राचीन प्रति हिंदी में प्राप्त नहीं हो जाती तब तक यह प्रश्न हल न हो सकनेवाली जटिल समस्या ही बना रहेगा ।

एक और समस्या—

श्री मोतीलाल मेनारिया का 'पृथ्वीराजरासो का रचना-काल' शीर्षक एक लेख अक्टूबर, १९४६ के 'विशाल भारत' में छपा था । उसमें उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'राजप्रशस्ति के रचनाकाल (आरंभ सं० १७१८, समाप्ति १७३२) के समानांतर 'पृथ्वीराजरासो' की रचना का भी समय है । यह समय खींच-खाँचकर सं० १७०० तक भी ले जाया जा सकता है । परंतु इससे आगे ले जाना इतिहास और अनुमान दोनों का गला घोटना है ।' इस कथन की पुष्टि में उन्होंने ये प्रमाण दिये हैं—

(क) 'रासो' की सभी हस्तलिखित प्रतियाँ उक्त समय के बाद की हैं । सबसे प्राचीन प्रति उदयपुरी राजकीय पुस्तकालय सरस्वती भंडार की है जो संवत् १७६० की लिखी हुई है ।

(ख) नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'रासो' का मूल आधार यही प्रति है और इसी की प्रतिलिपि को उक्त संस्करण के संपादक ने संवत् १६४२ की लिखी बतलाया है । + + + उसमें लेखन-काल साफ सं० १८७९ दिया है और स्व० श्यामसुंदरदासजी ने भी कहा था कि भूल हो गयी है ।

(ग) इस प्रति की अंतिम पुष्पिका के बाद इसके अंत में दो छप्पय और दिये हुए हैं जिनके अनुसार 'रासो' की सबसे प्राचीन प्रति का लिपिकाल सं० १६०० के आसपास बताया गया है । वास्तव में न तो 'रासो' की सबसे प्राचीन प्रति सं० १६४२ की लिखी हुई है और न 'रासो' का निर्माणकाल सं० १६०० के आस-पास है । संवत् १७०९ और सं० १७३२ के बीच किसी समय यह रचा गया होगा ।

मेनारिया जी की इन आपत्तियों के संबंध में दो बातें कही जा सकती हैं । पहली तो यह कि दलपति मिश्र-कृत 'जसवंत-उद्योग' में, जो संवत् १७०५ में अर्थात् 'राजप्रशस्ति' से पूर्व, रचा गया था, 'रासो' का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

संयोगिता कुमारिका वर्यो नहीं चौहानु।
तहीं पिथौरा कहं दयो राइ अमैजिय दानु।
रासौ पृथ्वीराज को तहाँ बहुत बिस्तारु।
मैं बरण्यो संक्षेप में सकल कथा को सारु।

दूसरी बात यह कि श्री अगरचंद नाहटा ने संबत १६५० के पूर्व लिखित 'रासो' की एक ऐसी प्रति की सूचना दी है जिसके उद्धारक कछवाहा चंद्रसिंह (संस्करण काल संवत् १६४०-५०) थे[1]। इस प्रकार 'रासो' की रचना संवत् १६५० के पूर्व होना सिद्ध होता है।

इधर के आलोचकों ने, जिनमें डा० दशरथ शर्मा और कविराज मोहनसिंह प्रमुख हैं, 'रासो' को अप्रामाणिक माननेवाले विद्वानों के तर्कों का खंडन करके पुनः यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'रासो' प्रामाणिक रचना है और वह पृथ्वीराज के समकालीन कवि की ही कृति है। श्री मथुरा प्रसाद दीक्षित ने एक प्रति का कुछ अंश प्रकाशित करके सिद्ध करना चाहा है कि 'रासो' का मूल रूप वस्तुतः ऐसा होना चाहिए, यद्यपि कुछ विद्वान, जिनमें श्री मोतीलाल मेनारिया मुख्य हैं, उसकी भाषा को भी पृथ्वीराज के समय की मानने को प्रस्तुत नहीं हैं[2]।

चर्चा का नवीनतम रूप—

इधर 'रासो' के छोटे बड़े चार संस्करण प्रकाश में आये हैं जिनको बृहद् मध्यम, लघु, और लघुतम कहा गया है। बृहद् रूपांतर में ६४ से ६९ तक 'सम्यौं' और १३ से १७ हजार तक छंद हैं। मध्यम में ४० से ४७ तक 'सम्यौं' और ९ से १२ हजार तक छंद हैं। लघु में छंदों की संख्या १९ से २० सौ तक और लघुतम में १३ सौ के लगभग है तथा 'सम्यौं'-विभाजन नहीं है। 'रासो' का प्रकाशन जब सभा की ओर से आरंभ हुआ था, तब उसका आधार बृहद् रूपांतर था। इधर इन लघु रूपांतरों ने यह समस्या उत्पन्न कर दी है कि इनको 'रासो' का मूल रूप समझा जाय अथवा उसका संक्षिप्त संस्करण। श्री मथुराप्रसाद दीक्षित

---

१. 'विशाल भारत, (अक्टूबर, १९४६) में प्रकाशित श्री अगरचंद नाहटा का 'पृथ्वीराज रासो का रचना-काल' शोर्षक लेख, पृ० ३९४।

२. 'डिंगल में वीर रस', पृ० ३६।

ने मध्यम रूपांतर को ही मूल 'रासो' मानकर उसका प्रकाशन प्रारंभ किया है और कुछ विद्वानों का विचार है कि लघु और लघुतम संस्करण ही में चंद की रचना सुरक्षित हैं और उनमें प्रक्षिप्त अंश बहुत थोड़ा है। श्रीमूलराज जैन लघु वाचना की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए लिखते हैं—"मध्यम वाचना में लघु वाचना का सारा विषय कुछ विस्तृत रूप में मिलता है और इसके अतिरिक्त कई अन्य घटनाओं का वर्णन भी मिलता है; जैसे अग्नि-कुंड से चौहान-वंश की उत्पत्ति; पद्मावती, हंसावती, शशिव्रता, पड़िहारिनी आदि अनेक राजकुमारियों से पृथ्वीराज के विवाह, उनमें विविध युद्ध, पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन में अनेक युद्ध होना और हर बार शहाबुद्दीन का बंदी होना, भीम द्वारा सोमेश्वर का वध आदि। 'रासो' की बृहद् वाचना में लघु वाचना का विषय विशेष विस्तार से मिलता है और इसके अतिरिक्त इसमें मध्यम वाचना की अनेक घटनाओं का समावेश भी है"[१]। लघु संस्करणों में अनैतिहासिक बातों की कमी देखकर ही उन्हें 'रासो' का मूल रूप कहा गया है; परंतु यह तर्क बहुत सबल नहीं जान पड़ता; कारण कि छोटे संस्करण में बहुत सी भूलें न रह जाना तो बहुत सीधी सी बात है।

तात्पर्य यह कि मध्यम, लघु और लघुतम संस्करणों के संबंध में यह तो कहा जा सकता है कि इनके संकलनकर्त्ताओं या प्रतिलिपिकारों ने उद्देश्य-विशेष से 'रासो' को यह रूप दिया होगा, परंतु मूल काव्य का यही रूप नहीं माना जा सकता। 'रासो' के मूल पाठ पर विचार करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—" 'रासो' की रचना के दिनों की कथाएँ दो व्यक्तियों के संवाद के रूप में लिखी जाती थीं। चंद ने भी 'रासो' को शुक और शुकी के संवाद में लिखा था जैसे विद्यापति ने कीर्तिलता को भृंग और भृंगी-संवाद के रूप में लिखा था और कौतूहल कवि ने लीलावती कथा को कवि और कवि-पत्नी के संवाद के रूप में लिखा था"[२]। यद्यपि किसी भी काल के कवि के लिए इस प्रकार का परंपरा-निर्वाह आवश्यक नहीं होता, तथापि प्रक्षिप्त अंशों से भरे काव्य के मूल रूप का पता लगाने में ऐसी सूचनाएँ कभी-कभी बड़े

---

१. 'प्रेमी-अभिनंदन ग्रंथ' में प्रकाशित 'पृथ्वीराजरासो की विविध वाचनाएँ', शीर्षक लेख, पृ० १३१।

२ (क) 'हिंदी साहित्य का आदि काल', पृ० ६३ और ६५।

(ख) संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, भूमिका, पृ० ६–७।

महत्व की सिद्ध होती हैं और इनको ध्यान में रखने पर ही 'रासो' के मूल रूप का पता लगा लेना संभव होगा।

निष्कर्ष—

प्रामाणिकता - संबंधी विवाद के पक्ष-विपक्ष में समय-समय पर प्रकट किये गये उक्त तथा अन्यान्य विद्वानों के तर्कों पर विचार करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चंद बरदाई नामक कवि पृथ्वीराज का आश्रित अवश्य रहा होगा और उसने अपने आश्रयदाता का चरित-गान करते हुए 'पृथ्वीराजरासो' नाम से एक प्रबंधकाव्य भी लिखा होगा। उसका वह काव्य अनेकानेक प्रक्षिप्त प्रसंगों के साथ आज प्राप्त है। स्थूल रूप से, वर्तमान प्रतियों के प्रक्षिप्त भाग को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में ऐसा भाग आता है जो मूल काव्य के वर्णित प्रसंगों में ही सम्मिलित कर दिया गया है जिससे कवि चंद की रचना का असली रूप लुप्त हो गया है। दूसरे वर्ग में अनेकानेक युद्धों, विवाहों आदि के वे नये प्रसंग आते हैं जिनकी कल्पना तक कवि चंद नहीं कर सका होगा और जिनके कारण 'रासो' का रूप अत्यंत बृहत् हो गया। दोनों प्रकार के प्रक्षिप्त अंशों को हटाकर मूल काव्य का पता लगाने का अत्यंत जटिल कार्य हमारे विद्वानों को करना ही है।

'रासो' की प्रामाणिकता पर विचार करनेवाले सभी विद्वान यह स्वीकारते हैं कि चंद और उसके पुत्र की रचना के अतिरिक्त इस काव्य में बहुत अधिक भाग प्रक्षिप्त है जो निश्चय ही एक व्यक्ति का नहीं, अनेक व्यक्तियों का रचा है। इन प्रक्षिप्त अंश-कारों के संबंध में तीन बातें निश्चित और सर्वमान्य हैं। पहली तो यह कि वे सभी व्यक्ति चंद के पुत्र की मृत्यु के पश्चात् अपने अशोभन कार्य में लगे होंगे। दूसरे, उनमें से कुछ चौहानेतर क्षत्रिय शासकों के आश्रित होंगे और तीसरे, वे सभी चंद या उसके पुत्र के समान प्रतिभाशाली तो होंगे ही नहीं, उनकी रुचि और उनके उद्देश्यादर्श में भी समानता नहीं होगी। 'रासो' के मूल पाठ का निर्णय करते समय इन बातों को ध्यान में रखने की अत्यंत आवश्यकता है।

जिन आलोचकों ने 'रासो' के लघु या लघुतम रूपांतर को उसका मूल रूप सिद्ध करना चाहा है, उनसे निवेदन है कि उनका यह तर्क तो ठीक है कि ६६

'सम्यौं' का विशालकाय काव्य चंद और उससे पुत्र द्वारा नहीं रचा गया होगा; परंतु अपने आश्रयदाता की कीर्ति का गान करने लिए आठ-दस प्रसंगोंवाला लघु काव्य तैयार करके ही वे चारणकालीन पित्रा-पुत्र संतुष्ट हो गये होंगे, यह बात किसी तरह समझ में नहीं आती। 'विहारी-सतसई'-जैसे छोटे काव्य के भी उद्देश्य-विशेष से तैयार किये हुए संक्षिप्त संकलन जब मिलते हैं तब 'रासो' के छोटे रूपांतर तैयार करने में भी प्रतिलिपिकारों का कोई प्रयोजन ही रहा होगा। 'रासो' के मूल रूप के अन्वेषक को उक्त कथन की भी सर्वथा उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

अंतिम बात यह ध्यान में रखने की है कि 'रासो' काव्य-ग्रंथ है, इतिहास नहीं; और सो भी चारणकालीन दरबारी कवि-रचित है। इस वर्ग के कवि अपने आश्रयदाता को असाधारणत्व प्रदान करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहे हैं और ऐसा करते समय अत्युक्ति और अतिशयोक्ति का सहारा लेने में उन्होंने कभी औचित्य की सीमाओं का ध्यान नहीं रखा। 'रासो' को अप्रामाणिक माननेवालों ने उसकी ऐतिहासिकता की ही मुख्यतः परख की है और उनकी इस कसौटी पर चारो रूपांतरों में से कोई भी खरा नहीं उतरता। अतएव जो ऐतिहासिक भूलें 'रासो' के वर्तमान संस्करणों में हैं उनको लेकर अप्रामाणिकता की ही घोषणा करते रहना निरर्थक समझ, ऐसे अंशों को प्रक्षिप्त मानकर उसके मूल रूप का पता लगाने के लिए विद्वानों को प्रयत्नशील होना चाहिए। उद्देश्य यह है कि उनकी शक्ति 'रासो' की अप्रामाणिकता के पोषण में न व्यय होकर मूल रूप के अन्वेषण में लगनी चाहिए, तभी उसका 'उद्धार' हो सकेगा और इसका श्रेय वस्तुतः उन्हीं को मिलेगा जो उसे ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक नहीं मानते हैं।

सूरसागर

सूरदास जी का 'सूरसागर' उनकी प्रामाणिक कृति है और काव्य-रसिकों द्वारा यह काव्य अत्यंत आदर की दृष्टि से देखा जाता है। 'रामायण', 'महाभारत', 'इलियड', 'पैरेडाइज लास्ट' और 'रामचरित-मानस' की तरह का प्रबंध-काव्य न होने पर भी 'सूरसागर' का सम्मान इन विश्व-प्रसिद्ध महाकाव्यों से कम नहीं है। इसकी रचना के संबंध में कहा गया है कि जब सूरदास महाप्रभु वल्लभाचार्यजी से मिले और उन्हें—'हरि, हौं सब पतितनि कौ नायक', 'प्रभु, हौं सब पतितनि कौ टीकौ' आदि विनय-संबंधी पद अत्यंत विनीत भाव से सुनाये, तब उन्होंने कवि को भगवद्भक्ति के लिए उत्साहित करते हुए आँखों में प्रेमाश्रु भरकर कहा—'भाई, भगवान की लीला का भी कुछ गान करो।' सूरदासजी ने उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। पश्चात्, प्रतिदिन कुछ पदों की रचना करके महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के निर्देशों का वे निर्वाह करने लगे। 'सूरसागर' इन्हीं पदों का संकलन है[1]।

इस प्रसंग में एक बात ध्यान रखने योग्य है। 'नित्यप्रति' कुछ पदों की रचना से इनकी संख्या तो बहुत बढ़ गयी; परंतु बहुत से पद साधारण भी

---

१. 'प्राचीन वार्ता-रहस्य' के अनुसार तो स्वयं कवि सूरदास ही 'सूरसागर' थे, जिससे उनका ग्रंथ भी 'सागर' कहलाया—'सूरदास को जब श्री आचार्य जो देखते तब कहते जो आवौ सूरसागर। सो ताको आसय यह है जो समुद्र में सगरो पदार्थ होत हैं तैसे ही सूरदास ने सहस्रावधि पद किये हैं; तामें ज्ञान-बैराग्य के न्यारे-न्यारे भक्ति-भेद, अनेक भागवत अवतार सो तिन सबन की लीला कौ बरनन कियो है।

—'प्राचीन वार्ता-रहस्य', तृतीय भाग, पृ० २३।

रहे। कवि की कविता तभी उच्च कोटि की होती है, जब विषय में उसकी अंतरात्मा पूर्ण रूप से लीन हो जाय। कवि के आंतरिक हृदयोद्गारों के चमत्कारपूर्ण दर्शन ऐसी ही कविता में होते हैं। इसके लिए काव्य-रचना स्वांतःसुखाय की जानी चाहिए। 'सूरसागर' के अधिकांश पद कृष्ण-लीला से संबंध रखते हैं। इस विषय में कवि को विशेष रुचि थी और उसकी वृत्ति इसमें लीन भी हुई है। परंतु काव्य-रचना की उमंग किसी भी कवि में सदैव नहीं रहती, और सूरदास जी ने, जैसा प्रसिद्ध है तथा उनके रचे पदों की संख्या देखकर कहा जा सकता है, कुछ पद नित्यप्रति बनाने का निश्चय-सा कर लिया था। ऐसी दशा में जिन पदों की रचना स्वांतःसुखाय और विषय में तल्लीन होकर की गयी, वे तो काव्य-कला की दृष्टि से विशेष सुंदर हैं, शेष साधारण और भरती के। परंतु इन साधारण पदों से 'सूरसागर' अथवा सूर-काव्य का महत्व कम नहीं होता। कारण, साहित्य में कवि का स्थान उसकी कृति की श्रेणी और मान देखकर ही निर्धारित किया जाता है, केवल परिमाण अथवा संख्या देखकर नहीं।

विस्तार—

'वार्ता' के अनुसार सूरदास जी ने अपने जीवन-काल में 'सहस्रावधि पद कीय'[१]। बाबू राधाकृष्णदास ने भी लिखा है—'सूरदास जी के सवा लक्ष पद बनाने की जो किंवदंती प्रसिद्ध है, वह ठीक विदित होती है; क्योंकि एक लाख पद तो श्रीवल्लभाचार्य के शिष्य होने के उपरांत और 'सारावली' के समाप्त होने तक बनाये। इसके आगे-पीछे के तो अलग ही रहे'[२]। इनके अतिरिक्त 'शिवसिंह-सरोज' के लेखक शिवसिंह सेंगर ने लिखा है—'इनका बनाया 'सूरसागर' ग्रंथ विख्यात है। हमने इनके ६० हजार पद तक देखे हैं, समग्र ग्रंथ कहीं नहीं देखा'[३]।

सूरदासजी के पदों की संख्या के संबंध में उक्त तीनों मतों के अतिरिक्त और कोई पूर्व उल्लेख नहीं मिलता। इनमें प्रथम दो का अर्थ अनिश्चित

---

१. चौरासी वैष्णवों की वार्ता, पृ० २७६।

२. श्री सूरदास जी का जीवन-चरित्र ('सूरसागर' की भूमिका), पृ० २१।

३. 'शिवसिंह सरोज', पृ० ५२५।

ही समझना चाहिए। 'सहस्रावधि,' 'सवा लक्ष' और 'एक लाख' का अर्थ बहुसंख्यावाचक ही समझना न्यायसंगत है। हाँ, 'सरोज'-कार ने ६० हजार पदों की जो निश्चित् बात लिखी है वह अवश्य विचारणीय है। परंतु हम समझते हैं कि उन्होंने किंवदंतियों की बात सच मानकर सूरदासजी के ६० हजार पदों पर विश्वास कर लिया होगा; इस बात की छानबीन करने का प्रयत्न न किया होगा कि जितने पद उन्होंने देखे हैं, वे केवल अष्टछापी सूरदास के बनाये हुए हैं अथवा सूरदास नामधारी अन्य कवियों के पद भी उनमें सम्मिलित हैं। 'सूरसागर-सारावली' में कवि ने लिखा है—

> ता दिन ते हरि-लीला गाई, एक लक्ष पद बंद;
> ताको सार 'सूर-सारावलि' गावत अति आनंद।
>
> —'सूरसागर-सारावली', छंद १००२।

यों तो 'सूरसागर-सारावली' काव्य की प्रामाणिकता अभी सर्वमान्य नहीं है, तो भी उक्त पंक्तियों का उद्धरण उभय पक्षों के विद्वान कर सकते हैं। कारण यह है कि 'सारावली' यदि सूर-कृत ही सिद्ध होती है, तब तो उक्त पंक्तियाँ अंतःसाक्ष्य के अंतर्गत समझी जायँगी और यदि किसी अन्य कवि की कृति मानी जाती हैं, तब बहिःसाक्ष्य के अंतर्गत। 'सारावली' की उक्त पंक्तियों के 'एक लक्ष' पद से कुछ विद्वानों ने, 'भक्तों के एकमात्र लक्ष्य श्रीकृष्ण' अर्थ निकाला है और कुछ 'एक लाख पदों' की ओर उसका संकेत मानते हैं। हमारी समझ में यदि 'एक लक्ष' को संख्या-सूचक प्रयोग ही माना जाय, तब जिस प्रकार का दो पंक्तियों का छंद 'सारावली' में प्रयुक्त हुआ है, कवि का तात्पर्य उसी प्रकार के 'बंद' से मानना उचित जान पड़ता है और सूरदास के प्राप्त पदों में एक लाख 'बंद' के लगभग हो भी सकते हैं। बाबू श्यामसुंदर दास ने अपने 'भाषा और साहित्य' नामक ग्रंथ में 'सूरसागर' की पद-संख्या छह हज़ार बतायी है[1]। परंतु 'सूर-निर्णय' के लेखक यह संख्या सवा लाख ही मानने के पक्ष में हैं। उन्होंने विषयानुसार पद-संख्या सूचित भी की है[2]।

सूरदास के पदों के संग्रह का प्रयत्न, एक प्राचीन उल्लेख के अनुसार,

---

१. 'हिंदी भाषा और साहित्य', पृ० ३२३।

२. 'सूर-निर्णय', पृ० १७२—७४।

सम्राट अकबर की प्रेरणा से हुआ था[1]। सम्राट से धन प्राप्त करने के लोभ से अनेक प्रक्षिप्त पदों की रचना होने की बात भी उसमें कही गयी है। इससे जान पड़ता है कि सूरदास के जो पद वल्लभ-संप्रदाय के कीर्तनों में संकलित हैं, वे तो निश्चय ही प्रामाणिक हैं, शेष को सूर-कृत मानने के पूर्व उनकी प्रामाणिकता की परीक्षा कर लेना आवश्यक है। अस्तु, सूरदास के प्रामाणिक पदों की संख्या छह-सात हजार से अधिक मानने के पक्ष में आज के अधिकांश विद्वान नहीं हैं।

रचना-काल—

रचना-काल की दृष्टि से समस्त 'सूरसागर' के तीन भाग किये जा सकते हैं:—

क. **प्रथम स्कंध**—विनय-संबंधी पद और कथा-भाग।

ख. **दशम स्कंध**—'भगवल्लीला'-वर्णन।

ग. **शेष स्कंध**—विविध विषय—पौराणिक आख्यानों और अवतारों के सामान्य वर्णन।

प्रथम स्कंध के विषय में महाप्रभु वल्लभाचार्य के कथन—'काहे घिघियात है'—को लेकर यह कहा गया है कि इसकी रचना संवत् १५६७ के पहले हो चुकी होगी। कारण, इसी समय के लगभग उन्होंने आचार्यजी से दीक्षा ली थी। इसके पश्चात् उन्होंने साधारणतः अपना विषय बदल दिया और 'भगवल्लीला-वर्णन' करने लगे। कथा-भाग की रचना 'सूरसागर' के संपादन के समय की है। यह कार्य १६०७ (सन् १५५०) के पश्चात् हुआ होगा।

दशम स्कंध पूर्वार्द्ध के अंतर्गत श्रीकृष्ण की गोकुल-वृंदावन-लीलाओं का और उत्तरार्द्ध में उनकी मथुरा-द्वारका-लीलाओं का वर्णन है। इन पदों की रचना का आरंभ सं० १५६७ से समझना चाहिए। 'सूरसागर' की समाप्ति

---

१. 'पाछें देशाधिपति ने आगरे में आयके सूरदास के पदन की तलास कीनी। जो कोऊ सूरदास जी के पद लावे तिनकूँ रूपैया और मोहोर देय। सो वे पद फारसी में लिखाय कें बाँचें। सो मोहोर के लालच सों पंडित कवीश्वरहू सूरदास के पद बनाय के लावें।

—'प्राचीन वार्ता-रहस्य', द्वितीय भाग, पृ० ४६।

सं० १६०७ के आसपास मानी जाती है, क्योंकि 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल यही प्रसिद्ध है[१]। इसके आरंभ तक 'सूरसागर' के समाप्त हो जाने के संबंध में जो धारणा है, वह इसलिए कि 'सूरसारावली' और 'साहित्य-लहरी' के रचना-काल में विशेष अंतर नहीं हो सकता। हमारी सम्मति में, यह तो संभव है कि 'साहित्य-लहरी' अथवा 'सूरसारावली' के आरंभ वाले संवत् के पूर्व 'सूरसागर' समाप्त हो चुका हो; परंतु शृंगार अथवा विनय-संबंधी पदों की रचना का क्रम बिल्कुल बंद हो गया हो, इससे हम सहमत नहीं। कारण, सूरदास जी की मृत्यु सं० १६२० में हुई ही यदि मान ली जाय, तो भी 'साहित्य-लहरी' और 'सूरसारावली' की रचना सं० १६०७ के पश्चात्, दो-तीन वर्ष के भीतर, करके वे १२-१३ वर्ष जीवित रहे, और यह कोई नहीं स्वीकार कर सकता कि 'सूरसागर' जैसे वृहत् काव्य का रचयिता इस दीर्घ काल में काव्य-रचना से सर्वथा उदासीन रहा होगा। 'सूरसारावली' और 'साहित्यलहरी' की प्रामाणिकता और रचना-काल के संबंध में जो विवाद विद्वानों में चल रहा है, उसके पक्ष-विपक्ष, किसी भी तरह का निर्णय होने पर उक्त निष्कर्ष पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ सकता। कारण यह है कि सूरदास का संवत् १६२० तक जीवित रहना सभी विद्वान मानते हैं और यह समय कुछ बढ़ ही सकता है।

शेष स्कंधों का रचना-काल भी सं० १६०७ से सं० १६२० के बीच में मानना उचित जान पड़ता है। इन स्कंधों का विषय या तो सूरदास जी के प्रिय इष्टदेव के विविध अवतारों के वर्णनों से युक्त है या उनसे संबंधित अन्य भक्तों के पौराणिक आख्यानों से।

अब प्रश्न है कि 'सूरसागर' का आरंभ किस संवत् में हुआ माना जाय। महाप्रभु वल्लभाचार्य से सूरदास ने संवत् १५६७ के आसपास दीक्षा ली थी। इस समय सूरदास की अवस्था लगभग ३२ वर्ष की थी। इसके पहले सूरदास विनय-संबंधी पद रच चुके थे। इस कार्य में उन्हें लगभग ७-८ वर्ष अवश्य लगे होंगे। अतः 'सूरसागर' का आरंभ-संवत् १५६० माना जा सकता है। इस वर्ष के लगभग काव्य-रचना-कार्य आरंभ करके संवत् १६२० (सन् १५६३)—लगभग ६० वर्ष—तक सूरदास अनवरत रूप से उसमें लगे रहे। भावपूर्ण कथाओं को लेकर उन्होंने जिन मुक्तक गीतों की रचना की, उनमें सदैव क्रम रहा हो, यह संभव नहीं जान पड़ता। अतः 'सूरसागर' के पूर्ण हो

---

१. 'साहित्य-लहरी' की प्रामाणिकता भी अभी संदिग्ध है।

जाने के पश्चात् तथा समय-समय पर भी सभी विषयों के कुछ पदों की रचना का क्रम अवश्य चलता रहा होगा। यदि सूरदास के कुल पदों की संख्या केवल दस हजार ही मान ली जाय और यह स्वीकार कर लिया जाय कि कवि ने नियमित रूप से ८-१० पदों की रचना प्रति सप्ताह की, तब कहीं इतने पद लगभग २५ वर्ष में लिखे जा सके होंगे। फिर उनके संकलन, संपादन, क्रम-विभाजन आदि में भी पर्याप्त समय लगा होगा। इस प्रकार 'सूरसागर' की रचना के लिए साधनहीन सूरदास को अपने जीवन के ६० वर्ष लगाने पड़े हों, तो कोई आश्चर्य नहीं।

विषय और आधार—

'सूरसागर' में वर्णित श्रीकृष्ण की लीलाओं तथा पौराणिक कथाओं का आधार 'श्रीमद्भागवत' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ माना जाता है। स्वयं कवि ने इस बात का उल्लेख कई पदों में किया है—

(क) **श्रीमुख चारि स्लोक दये ब्रह्मा कौं समुझाइ।**
ब्रह्मा नारद सौं कहे, नारद व्यास सुनाइ।
व्यास कहे सुकदेव सौं द्वादस स्कंध बनाइ।
सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ।

—'सूरसागर', प्रथम स्कंध, पद २२५।

(ख) **सूर कहौ क्यौं कहि सकै जन्म-कर्म-अवतार।**
कहे कछुक गुरु-कृपा तैं श्रीभागवतऽनुसार।

—'सूरसागर', द्वितीय स्कंध, पद ३६।

जब तक सूरदास जी के जन्मांध होने न होने का प्रश्न हल नहीं हो जाता, तब तक निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि सूर ने स्वयं कभी उक्त ग्रंथ पढ़ा था अथवा केवल सुनी-सुनायी बातों के आधार पर ही अपने पदों की रचना की थी। एक महाशय[1] ने तो स्पष्ट कह दिया है कि सूरदास काव्य-शास्त्र के पंडित थे और पुराणों का उन्होंने अच्छा अध्ययन किया था। परंतु यह बात सूर-काव्य को देखकर लिखी गयी है या किसी प्रमाण के आधार पर, कहा नहीं जा सकता। 'चौरासी वार्ता' के आधार पर यह कहा जाता है कि महाप्रभु

---

१. **'कविता-कौमुदी', पहला भाग, पृ० १७६।**

वल्लभाचार्य ने उन्हें 'भागवत' सुनाकर उसका रहस्य समझा दिया था। इसके पश्चात्, उन्होंने 'सूरसागर' के मुख्य भाग की रचना में हाथ लगाया। एक दूसरे आलोचक[1] का कहना है कि सूरदास को 'मनुष्यों का ही नहीं, पशु-पक्षियों की प्रकृत्ति का भी अनुभव सत्संग से हुआ था। वृंदावन में वैष्णव महात्माओं में नाना पुराण-निगमागम की चर्चा निरंतर होती रहती थी। उनके सत्संग में रहने से सूरदास जी को बहुत लाभ हुआ।' यह भी हो सकता है कि मथुरा-वृंदावन में श्रीकृष्ण की लीलाओं की कथाएँ सुनकर उन्होंने अपने पद रचे हों। एक ही विषय पर जो अनेक पद पाये जाते हैं, उसका कारण भी यही जान पड़ता है कि भक्ति के आवेश में वे फुटकर पद गाया करते थे। उनके प्रिय विषय उनके आगे नाचते रहते और कवि के मुख से स्वतः पद निकलने लगते थे।

'श्रीमद्भागवत' को अपने काव्य का आधार-ग्रंथ मानने की जो बात सूरदास ने बार-बार कही है, उससे इतना ही तात्पर्य समझना चाहिए कि इन्होंने अपने संप्रदाय में मान्य ग्रंथ की मुख्य-मुख्य कथाओं को लेकर पद रच भर दिये हैं—न तो उनका स्वतंत्र अनुवाद किया है और न प्रत्येक कथा की घटनाओं को ही ज्यों का त्यों अपनाया है। दोनों ग्रंथों के स्कंधों में श्लोकों और पदों की संख्या की तुलना करने से भी पता चल सकता है कि सूरदास केवल आधार-ग्रंथ का महत्व भर, परोक्ष रूप से, स्वीकार करना चाहते थे, विषय के प्रतिपादन का ढंग उनका अपना है—

स्कंध		भागवत	सूरसागर
प्रथम		१६६२	३४३
द्वितीय		३९८	३८
तृतीय		१५०२	१३
चतुर्थ		१४७७	१३
पंचम		६६६	४
षष्ठ		८५१	८
सप्तम		७५०	८
अष्टम		९३७	१७
नवम		९६३	१७४
दशम	पूर्वार्द्ध	१९३५	४३०९
	उत्तरार्द्ध	१५१६	

1. 'सूर-पंचरत्न', भूमिका, पृ० ६१—६२।

एकादश	१३७४	४
द्वादश	५६६	५
	१४६१५	४९३६

एक बात और। 'सूरसागर' की रचना केवल 'भागवत' के आधार पर ही की गयी नहीं मानी जा सकती। इसका एक प्रमाण यह भी है कि भागवत के दसवें स्कंध में राधा का कहीं उल्लेख नहीं है, और 'सूरसागर' के संयोग-विप्रलंभ-शृंगार के अनेक पद राधा से संबंध रखते हैं। अतः स्पष्ट है कि 'भागवत' के अतिरिक्त 'हरिवंशपुराण', 'ब्रह्म वैवर्त पुराण' तथा अन्यान्य भक्ति-काव्यों से भी, जो उस समय विशेष लोकप्रिय थे, सूरदास ने अनेक प्रसंग अपनाये होंगे।

'श्रीमद्भागवत' का कथा-क्रम अपनाने के फलस्वरूप सूरदास जी को उन अनेक प्रसंगों का वर्णन करना पड़ा जिनको उक्त ग्रंथ में स्थान मिला था। परंतु इस संबंध में कोई प्राचीन उल्लेख नहीं मिलता कि क्रम-निर्वाह का यह प्रयत्न सूरदास आरंभ से ही कर रहे थे अथवा जीवन के अंतिम वर्षों में उन्होंने 'सूरसागर' को वर्तमान रूप दिया। यह सर्वमान्य है कि महाप्रभु से भेंट होने के समय ही सूरदास नेत्र-ज्योतिहीन थे। अतएव इसके पश्चात् रचे गये पदों का पाठ और क्रम सूर-कृत नहीं हो सकता। और न यही निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनके पदों का लिपिकार सदा एक ही व्यक्ति रहा होगा। ऐसी स्थिति में पदों का पाठ और क्रम समय-समय पर परिवर्तित हो जाना संभव ही है। वास्तव में यह नेत्रहीन कवि आरंभ से ही 'भागवत' के क्रम-निर्वाह में कदापि नहीं लगा होगा। प्रिय कृष्ण की लीला के मनोरम स्थलों का विभिन्न दृष्टियों से कलापूर्ण और रसमय वर्णन करने के पश्चात् जीवन के चौथेपन में यह सुझाव उसके सामने रखा गया होगा कि 'श्रीमद्भागवत' का अनुकरण करके 'सूरसागर' का क्रम उसी के अनुरूप कर दिया जाय। वल्लभ-संप्रदाय में 'भागवत' का जो महत्व था, उसे देख-समझकर सभी ने इस सुझाव का समर्थन किया होगा। अपने शुभचिंतकों द्वारा इस प्रकार प्रेरित किये जाने पर सूरदास इस कार्य में संलग्न हो गये होंगे। 'भागवत' के क्रम का निर्वाह करने के लिए जो लीलाएँ अथवा कथाएँ 'सूरसागर' में अब प्राप्त हैं उनकी रचना, इस प्रकार, सबके अंत में हुई होगी।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जिस कवि ने जीवन की द्वितीय और तृतीय

अवस्थाओं में सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट रचनाएँ कीं, उसकी अंतिम रचनाएँ तो भाषा और कला की दृष्टि से अत्यंत प्रौढ़ और व्यवस्थित होनी चाहिए थीं, तब 'सूरसागर' के समस्त स्कंधों में बिखरा हुआ यह भाग भाषा की दृष्टि से अनियंत्रित और बोझिल तथा कला की दृष्टि से अत्यंत साधारण क्यों है ? उत्तर स्पष्ट है कि यह अंश केवल क्रम-निर्वाह और कथा-पूर्ति के लिए है। इसका उद्देश्य केवल यह है कि 'श्रीमद्भागवत' में वर्णित अधिक से अधिक कथाएँ संक्षिप्त से संक्षिप्त रूप में 'सूरसागर' में रख दी जायँ। कृष्ण-भक्त कवि की इन कथाओं में कोई रुचि नहीं थी, न वह स्वयं इनमें रस ले सका और न उसने पाठकों को ही इनके रस में निमग्न करने की आवश्यकता समझी।

इस प्रकार 'विषय की दृष्टि से' सूरदास के समस्त पद, स्थूल रूप से, दो भागों में विभाजित किये जा सकते हैं। एक वे जिनका संबंध 'श्रीमद्भागवत' में वर्णित कथाओं से हैं और दूसरे, विनय के वे पद जिनकी रचना कवि ने महाप्रभु वल्लभाचार्य से परिचित होने के पूर्व की थी। प्रथम वर्ग के पदों में अधिकांश का संबंध श्रीकृष्ण की व्रज-लीला से है—व्रज से उनके चले जाने पर माता-पिता और गोप-गोपियों के विरह-संबंधी पद भी इसी विषय के अंतर्गत समझे जा सकते हैं। शेष में सूरदास ने 'श्रीमद्भागवत' में वर्णित विभिन्न कथाओं का वर्णन किया है अथवा श्रीकृष्ण के परवर्ती जीवन की उन लीलाओं का जिनका प्रत्यक्ष अथवा निकट संबंध व्रजवासियों से नहीं रहा। विनय-पदों की रचना करते समय सूरदास एक भक्त के रूप में सामने आते हैं तो श्रीकृष्ण-लीला के वर्णन में उनका कवि-रूप निखर उठता है और शेष कथाओं के—जिनमें राम-कथा भी है—वर्णन में वे एक कथ्यक की शैली अपना लेते हैं : न विषय में उनकी वृत्ति लीन होती है और न वर्णन में उनके हृदय के ही कहीं दर्शन होते हैं।

मौलिकता और विशेषता—

कृष्ण की जीवन-घटनाओं को कथा-रूप में कहने की साधारण प्रवृत्ति सूरदास में नहीं पायी जाती। उनका वर्णन निरुद्देश्य नहीं है। अपने काव्य में कृष्ण और गोपी-प्रसंग को लेकर उन्होंने उन्हीं वेदनाओं को व्यक्त करने का सफल और स्तुत्य प्रयत्न किया है, जो सार्वजनीन और सार्वकालीन हैं। मानव-समाज के हृदय में न जाने कब से वही वेदना छिपी हुई है और वही भावनाएँ उठ रही हैं, जो गोपियों को लेकर सूर ने अपने काव्य में व्यक्त की हैं। गोपियों की व्यथा

को समझना सबका काम नहीं है, सूर की तरह दिव्य चक्षुवाले व्यक्ति ही उसे समझ और सफलतापूर्वक व्यक्त भी कर सकते हैं। गोपी और कृष्ण का संबंध दो दृष्टियों से है—एक तो उसमें साधारण स्त्री-पुरुष के प्रेमपूर्ण आकर्षण, व्यवहार और वेदना का वर्णन है और दूसरे, जीव और ईश्वर के बीच के उस आकर्षण का, जिसका अनुभव मानव-हृदय सृष्टि के आदि काल से करता आ रहा है। कहने को कह सकते हैं कि जिस जाति ने यह अनुभव जितनी ही तीव्र मात्रा में किया, संसार में वह उतनी ही सभ्य कहलायी।

भारतीय कवियों को आदि से यह विषय प्रिय रहा है और कृष्ण-काव्य में इसी की प्रधानता रही है। संस्कृत में 'भागवत' की रचना के समय भी कवि का यही उद्देश्य रहा होगा। आगे के संस्कृत कवि ईश्वर और जीव का संबंध गोपी-कृष्ण की उक्त कथा में धीरे-धीरे भूल गये, केवल स्त्री-पुरुष की कथा, स्त्री-पुरुष का पारस्परिक प्रेम, वेदना आदि लौकिक वासनायुक्त भाव उनके सामने रह गये। हिंदी-कवियों में सूरदास की दृष्टि कथा के दोनों अंगों पर थी। उन्होंने गोपी-कृष्ण को लेकर मनुष्य जीवन के स्त्री-पुरुष-प्रसंग की ओर संकेत करते हुए जीव और ईश्वर का संबंध, आकर्षण, व्यवहार और वेदना दिखाने का सफल प्रयत्न किया। सूर के परवर्ती रीतिकालीन कवियों की दृष्टि इतनी व्यापक नहीं रही। उन्होंने गोपी-कृष्ण की जीवन-घटनाओं को देखा अवश्य; परंतु अपनी संकुचित दृष्टि और परिमित लक्ष्य के कारण उन्हें अपना सके स्त्री-पुरुष के साधारण आकर्षण और व्यवहार के रूप में ही। अलौकिक तत्व—जीव-ईश्वर-संबंध—की ओर उनका ध्यान नहीं जा सका। उनके काव्य में, कालांतर में, जो शृंगारिक अश्लीलता आ गयी, उसका मुख्य कारण उन कवियों का संकुचित दृष्टिकोण ही है।

सूर-काव्य का दूसरा मुख्य विषय बाल-चरित्र-वर्णन है और तीसरा ईश्वर के प्रति आत्मनिवेदन। ये दोनों विषय प्रथम से ही संबंधित हैं। गोपियों के साथ जिस कृष्ण का पति-रूप में संबंध दिखाना कवि को अभीष्ट है, उसके बाल-रूप और बाल-स्वभाव का वर्णन करके कवि आरंभ से ही मनुष्य-मात्र को उन पर मुग्ध कर लेना चाहता है। कृष्ण का बाल-रूप और बाल-लीलाएँ माता-पिता को तो मुग्ध करती ही हैं; गोकुल, वृंदावन और मथुरा के सब नर-नारी उनको देखकर मुग्ध हो जाते हैं—यहाँ तक कि मार्ग चलते यात्री भी एक बार उन्हें देखना चाहते हैं। स्थूल रूप से, सूर-काव्य में कृष्ण का लौकिक जीवन-

चरित्र ही मिलता है। बालक बनकर वे लीलाएँ करते हैं, युवक होने पर प्रेम करते हैं और आवश्यक कार्य से 'परदेश' जाते हैं। कवि की दृष्टि इसके साथ पारलौकिक जीवन की ओर भी चल रही है। वह उन्हें ईश्वर-रूप में भी देखता है, उनकी भक्ति करता है, और विनय के गीत गाता है। मनुष्य-मात्र के लिए ये दोनों विषय शाश्वत हैं। आदिकाल से वह बालकों का मंजुल रूप और मधुर क्रीड़ाएँ देखता चला आ रहा है और अपने जीवन के अंतिम दिनों में उसने संसार से विरक्त होकर ईश्वर-भक्ति का गाना भी किया है।

तात्पर्य यह कि सूर ने 'भागवत' के क्रम का अनुसरण भले ही किया हो, उसकी कथा सुनकर भले ही उन्होंने अपने पदों की रचना आरंभ की हो; परंतु वर्णन की विशदता और विषय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचना के लिए उन्होंने स्वानुभूति से ही काम लिया। हाँ, पौराणिक कहानियों में उनका मन नहीं रमा और उन्हें सुनकर ही उन्होंने पद्यबद्ध कर दिया—कवि-जनोचित स्वतंत्रता और रचना-कुशलता का इन कथाओं के वर्णन में प्रयोग न करके जैसे उन्हें अपने प्रिय विषय के लिए ही संचित रखा। राम-कथा-वर्णन भी ऐसा ही प्रसंग है। उसका क्रम वाल्मीकि रामायण से कुछ-कुछ मिलता-जुलता है। इसका एक उदाहरण जनकपुरी से अयोध्या लौटते समय होनेवाली राम-परशुराम-भेंट है।

भाषा—

उक्त मुख्य विषयों के अनुरूप, स्थूल रूप से, तीन प्रकार की भाषा 'सूरसागर' में पायी जाती है। भक्त सूरदास के विनय-पदों का पुनीत उद्देश्य आत्मनिवेदन है। सीधी-सादी प्रसादगुणयुक्त भाषा में भक्त सूर अपनी दीनता दिखाता हुआ इष्टदेव से कृपा-दृष्टि एक बार इधर भी फेरने की प्रार्थना करता है। भगवान आडंबर या सजावट नहीं चाहते; कवि भी भाषा को सजाने-सँवारने की आवश्यकता नहीं समझता। अतएव विनय-पदों की भाषा में न अलंकार का चमत्कार है, न लक्षणा-व्यंजना की कवित्वपूर्ण मार्मिकता है। इन पदों में दीन प्राणी के हृदय की करुण पुकार है जो आत्मानुभूति की तीव्रता के कारण सभी को प्रभावित करती है। दैन्य-प्रदर्शन-प्रधान कुछ पदों में सूर ने कहीं-कहीं दृष्टांत, उदाहरण-जैसे अलंकारों का सहारा अवश्य लिया है, परंतु उनका उद्देश्य काव्यात्मक चमत्कार-प्रदर्शन नहीं, विषय को सरल करते हुए आत्मनिवेदन की

पुष्टि मात्र है। इन पदों की भाषा कहीं-कहीं सशक्त हो गयी है। कारण यह है कि भक्त का इहलोक में तिरस्कृत हृदय ऊँचे स्वर में अपनी मूर्खता, असार-प्रियता और पग-पग पर प्राप्त होनेवाली असफलता की कहानी विश्व के कोने-कोने तक फैलाकर पापमय सुख-लोलुपता का प्रायश्चित-सा करके, शीघ्र से शीघ्र इस लिए निर्मल हो जाना चाहता है कि भगवान की दयामय उदारता का वह भी पात्र हो सके। उसे न लोक-लाज का ध्यान है, न सामाजिक मर्यादा या शिष्टाचार का। जो अपने को सृष्टि का तुच्छतम प्राणी घोषित करने पर तुला हैं, उसे वाह्यालंकारों की क्या चिंता ? अतएव अनलंकृत और आडंबररहित भाषा-शैली में रचे सूर के विनय-पद, दीन के करुण स्वर की तीव्रता के समान ही, भक्त-जन को आकृष्ट कर लेते हैं।

श्रीकृष्ण की व्रजलीला-संबंधी पद काव्यगत सभी विशेषताओं से युक्त हैं। यह विषय कवि को प्रिय था। इसे अपनाने की आज्ञा उसे अपने आचार्य से मिली थी। सहृदय और भावुक भक्तों, महात्माओं, सुकवियों तथा गायकों के बीच में रहकर स्व-कौशल को व्यक्त करने की मानवोचित स्पर्धा की भावना का कवि सूर के हृदय में जन्मना स्वाभाविक ही होगा, यद्यपि वह सर्वथा शांत, निष्कपट और विशुद्ध रही होगी। यह भी कहा जा सकता है कि भक्ति और काव्यमय वातावरण ने सूरदास की कवित्व-शक्ति को स्व-कला-प्रदर्शन के लिए प्रेरित किया और इस संबंध में एक बार सफल होने पर दूसरों से उसे अपेक्षित प्रोत्साहन भी मिला।

'सूरसागर' में विभिन्न कथाएँ दूसरे से नवें, दशम के उत्तरार्द्ध और ग्यारहवें-बारहवें स्कंधों में हैं। इनकी भाषा-शैली साधारणतः चलताऊ है। वर्णन का जो रूप ऐसे प्रसंगों में मिलता है वह इस बात का प्रमाण है कि कवि को न तो ये विषय प्रिय थे और न उसने इनकी चर्चा में किसी प्रकार का श्रम ही किया। ऐसी कथाओं के लिए जो छंद अपनाये गये हैं, वे सूरसागर के मार्मिक और कवितामय अंशों के छंदों से भिन्न हैं। उनमें उस संगीतात्मकता का अभाव है जिसके लिए गीतिकाव्यकारों में सूरदास को श्रेष्ठ पद प्रदान किया गया है। वे इतनी त्वरित गति से विषय को आगे बढ़ाते हैं कि कवि वर्णित और वर्ण्य विषय के संबंध तक का ध्यान नहीं रख पाता। अंतिम बात इस कथन की पुष्टि में यह कही जा सकती है कि ऐसी कथाओं का वर्णन बहुत साधारण ढंग से करने के बाद कवि ने उनकी, प्रिय विषयों की तरह विभिन्न दृष्टिकोणों से पुनः

आवृत्ति नहीं की जिससे स्पष्ट है कि कवि सूर के लिए श्रीमद्भागवत का यह क्रम-संबंध-निर्वाह एक भार-सा था जिसे ढोना उसे लगा तो अप्रिय, परंतु किसी प्रकार निर्देश की मर्यादा उसने निभा दी।

सूरदास-द्वारा वर्णित राम-कथा भी इन्हीं इतर प्रसंगों में है। अतएव अन्य भागवतीय कथाएँ जिस रूप में 'सूरसागर' में मिलती हैं प्रायः वही रूप राम-कथा का भी है। अंतर केवल यह है कि इस प्रसंग को कवि ने अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से लिखा है जिसका कारण यह बताया जाता है कि जिस प्रकार कृष्ण, विष्णु का अवतार माने जाते हैं उसी प्रकार राम भी। वस्तुतः प्रश्न विष्णु के अवतार का नहीं है, क्योंकि उनके अन्य कई अवतार हुए हैं जिनका बहुत चलताऊ वर्णन किया गया है; तथ्य की बात यह है कि काव्य के लिए कृष्ण-कथा जितनी उपयुक्त है, राम-कथा भी उससे कम नहीं और इसी ओर संकेत करते हुए श्रीमैथिली शरण गुप्त ने 'साकेत' के आरंभ में लिखा है-—

राम, तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय, सहज संभाव्य है।

इस प्रसंग में ध्यान देने की दूसरी बात यह है कि कवि सूरदास के समय में कृष्ण-भक्ति-आंदोलन के साथ-साथ राम-भक्ति-चर्चा भी बहुत अधिक हो रही थी। पर्यटन-प्रेमी राम-भक्तों के संपर्क में सूरदास के आने पर उनका ध्यान स्वभावतः राम-कथा की ओर गया जिससे उन्होंने बड़े विस्तार से, १५७ पदों में यह कथा समाप्त की। इनमें कुछ पद साधारण हैं और केवल सूत्र या संबंध बनाये रखने के लिए रचे गये थे। भाषा, वाक्य-विन्यास और कला, तीनों दृष्टियों से कोई विशेषता ऐसे पदों में न होना इस बात का सूचक है कि कवि की रुचि कथा के इन अंगों में रमी नहीं। हाँ, राम-कथा के कुछ मार्मिक स्थलों को कवि ने अवश्य पहचाना और उनका वर्णन सरुचि किया है। धनुष-भंग, राम-वन-गमन, केवट-विनय, ग्रामवासियों के प्रश्नोत्तर, भरत का चित्रकूट में मिलन, सीता-हरण और राम-विलाप, हनुमान-सीता-संवाद, हनुमान-राम-संवाद, रावण-मंदोदरी-संवाद, अंगद का दूतत्व, राम-प्रतिज्ञा, कौशल्या-चिंता आदि कथांश ऐसे ही हैं जिनके चित्रण में कवि ने लगन और धैर्य से काम लिया है; यहाँ तक कि कुछ स्थलों पर तो सूरदास की उक्तियाँ बहुत ही मार्मिक हैं।

गीत काव्य है या प्रबंधकाव्य—

'सूरसागर' में कृष्ण की पूरी तो नहीं, परंतु अधिकांश जीवन-कथा अवश्य मिलती है। क्रमानुसार उसे इस प्रकार सजा भी दिया गया है कि उसके पढ़ने से कथानक का साधारण परिचय मिल जाय। ऐसी दशा में प्रश्न हो सकता है कि 'सूरसागर' को गीत काव्य कैसे माना जाय? यह ठीक है कि कृष्ण के व्रज-निवास की अधिकांश घटनाओं से संबंधित पद 'सूरसागर' में मिलते हैं; परंतु यह भी ठीक है कि अन्य गीतकाव्यों के रचयिताओं की भाँति सूरदास जी की वृत्ति भी विवरणात्मक कथा-प्रसंगों में रमी नहीं है। उनका उद्देश्य कृष्ण की पूरी जीवनगाथा लिखना था ही नहीं। वे भक्त कवि थे, और भक्ति के आवेश में उन्होंने अपने इष्टदेव की जीवन-लीलाओं के संबंध में स्फुट पदों की रचना की थी। केवल आवेश में कोई कवि किसी नायक की जीवन-गाथा कह ही नहीं सकता। दूसरे शब्दों में, 'सूरसागर' को गीतकाव्य मानने का सबसे प्रमुख कारण यह है कि यही बात कवि को इष्ट थी। उसने स्वयं 'सूरसागर' की गीतकाव्य के रूप में रचना की, यद्यपि उनके गीतों का विषय भावपूर्ण और सरस हृदयोद्‌गारों के साथ-साथ कृष्ण-जीवन की चुनी हुई मनोरंजन, मधुर और सरस लीलाएँ भी हैं। दूसरी बात यह है कि सूरदास अपने उपास्यदेव का संपूर्ण जीवन-चरित्र न लिखकर केवल उन मर्मस्पर्शी और मनोहर घटनाओं का वर्णन करना चाहते थे, जो भक्तों के काम की हों। यही कारण है कि बाल-कृष्ण द्वारा अनेक राक्षसों का वध उन्होंने एक ही पद में करा किया है—किसी पूर्ण युद्ध का विस्तृत वर्णन नहीं किया, क्योंकि भक्तों के लिए 'राक्षस किस तरह मारा गया' जानने की अपेक्षा केवल इतना जानना पर्याप्त है कि उनके इष्टदेव में राक्षसों को मारने की शक्ति है। तीसरे, कृष्ण-जीवन का पूर्ण क्रमबद्ध विकास 'सूरसागर' में नहीं मिलता। मथुरा और द्वारका-लीलाओं का भी सूरदास ने बहुत चलताऊ वर्णन किया है। प्रबंध काव्यकार में यह प्रवृत्ति नहीं होती। अतः 'सूरसागर' को गीतकाव्य ही मान सकते हैं, जिसमें तत्संबंधी सभी विशेषताएँ वर्तमान हैं।

आलोचना—

'सूरसागर' की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि काव्य, प्रेम और संगीत, तीनों

विस्तृत, गहन और मानव-हृदय से आदि काल से संबंधित प्रिय विषयों के प्रेमियों की मधुर तृप्ति उससे होती है। काव्य के प्रेमियों के लिए 'सूरसागर' कला की किसी भी उच्चकोटि की कृति-सा आनंददायक है। प्रेम और वात्सल्य के अंग-प्रत्यंग का सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन प्रेमियों और सहृदयों का हृदय हर लेता है। साथ ही, सरल जीवन का स्वाभाविक विकार-क्रम भी उसमें मिलता है। सारांश यह कि हिंदी-साहित्य में 'सूरसागर' एक अपूर्व ग्रंथ है। उसकी समता एक रत्नाकर से की जा सकती है। उसका एक-एक पद रत्न की भाँति बहुमूल्य है। कुछ पद साधारण भी हैं; परंतु इनसे सूर के अनुपम रत्नाकर की महिमा नहीं घटती अभी इस रत्नाकर के अमूल्य रत्नों के पारखी कम हैं; अधिकांश ने केवल रत्नाकर का नाम सुनकर ही प्रशंसा के पुल बाँध दिये हैं। जिस दिन इसके सच्चे रत्नों का उचित मूल्य आँका जायगा, उस दिन सूर का स्थान विश्व-साहित्य में बहुत ऊँचा होगा।

साहित्य-लहरी

'साहित्य-लहरी' महाकवि सूरदास के दृष्टकूटों अथवा कूट पदों का संग्रह है। इसमें कुछ पद तो ऐसे हैं जो 'सूरसागर' से ही लिये गये हैं और शेष नये हैं। इस ग्रंथ का एक सटीक संस्करण, पुस्तकभंडार, लहरियासराय (बिहार) से प्रकाशित हुआ था। इसके बहुत पहले 'सूर के दृष्टकूट' नाम से इस ग्रंथ की टीका ब्रजभाषा में सरदार कवि ने की थी। जान पड़ता है, लहरियासरायवाला संस्करण सरदार कवि की टीका के आधार पर ही संपादित किया गया है। इसमें ११८ पद मुख्य भाग में हैं और ५३ पद परिशिष्ट-रूप में। 'प्रथम ही प्रथ जागते भे प्रगट अदभुत रूप'[1] वाला जो पद इधर प्रक्षिप्त माना जाने लगा है वह भी इसमें है। 'मुनिपुनि रसन के रस लेष'[2] वाले पद के अनुसार इस ग्रंथ का निर्माण-काल सं० १६०७, १६१७ या १६२७ माना जाता है। इधर इस ग्रंथ की प्रामाणिकता में संदेह किया जाने लगा है। कुछ विद्वानों का मत है कि इसमें संकलित केवल वे ही पद सूरदास के रचे हुए हैं जो 'सूरसागर में भी पाये जाते हैं; दूसरा वर्ग पूरे ग्रंथ को सूर-कृत समझता है।

रचना-परंपरा—

दृष्टकूटों की रचना का आरंभ सूर से बहुत पहले हो चुका था। हिंदी-साहित्य के वीर-गाथा-काल के पूर्व नाथ-पंथी और सहजयानी संप्रदायों के सिद्ध और योगी उत्तरी भारत के विभिन्न स्थानों में फैले हुए थे। उनमें ऐसे पदों की रचना करना प्रचलित था जिनका स्पष्ट अर्थ जन-साधारण की समझ में सरलता से न आ सके। संभव है, आरंभ में कुछ प्रमुख शब्दों को विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त

---

१. 'साहित्यलहरी', पद ११८।   २. 'लहरी', पद १०६।

करके ऐसे पदों की रचना की गयी हो और पश्चात्, इन पदों का अर्थ जानने की इच्छुक जनता की जिज्ञासा-वृत्ति शांत करने के लिए उनकी मनमानी व्याख्या करके अपनी विद्वता, और अपने पहुँचे हुए होने, का परिचय दिया गया हो। जो हो, इतना निश्चित है कि उस युग में ऐसे पदों की रचना का प्रचलन था और तत्कालीन संप्रदायों से संबंधित अनेक कवि ऐसे कुछ पदों की रचना अवश्य करते थे जिनका कुछ अर्थ तो साधारण जनता की समझ में आ जाय और कुछ के लिए उसे उनके रचयिताओं अथवा उनके प्रिय शिष्यों का मुँह ताकना पड़े। ऐसे पदों को 'विपर्यय,' 'संधावचन,' 'उलटबाँसी' अथवा 'दृष्टकूट' कहते थे।

हिंदी के प्रारंभिक कवियों ने जहाँ पूर्व प्रचलित छंदों और काव्य-शैलियों को अपनाया वहाँ वे दृष्टकूटों या उलटबाँसियों की रचना की परिपाटी अपनाना भी न भूले। चंदबरदायी के 'पृथ्वीराजरासो' में ऐसे अनेक पद मिलते हैं जिनका अर्थ स्पष्ट नहीं है—संभव है, इसका कारण उसकी भाषा भी हो। इसके पश्चात्, संत-काव्य—विशेषतः कबीर की रचनाओं—में मिलनेवाले दृष्टकूट तो अत्यंत प्रसिद्ध हैं ही। इनकी विशेषता यही है कि इनका पूरा-पूरा अर्थ सर्वसाधारण की—कहीं-कहीं तो विद्वानों की भी—समझ में नहीं आता और इसका प्रधान कारण यह है कि इन कवियों ने अपने पूर्व के नाथ-पंथी, सहजयान आदि संप्रदायों में प्रचलित अनेक पारिभाषिक शब्दों—यथा 'शून्य,' 'समाधि', 'इड़ा', 'पिंगला', 'षट्चक्र' आदि—को अपनाया तो, परंतु उनका निश्चित अर्थ न लेकर उनका प्रयोग किया अपने मनमाने अर्थ में। सूफी-कवियों में प्रधान जायसी ने भी 'कैलास', 'बिसवासी' आदि शब्दों का प्रयोग मनमाने अर्थ में किया था, यद्यपि ऐसा करने मे उनका उद्देश्य संत-कवियों से सर्वथा भिन्न था। इसी प्रकार तुलसी की 'दोहावली' में भी कुछ दोहे ऐसे हैं जिनका अर्थ अभी तक विवाद का विषय बना हुआ है।

सूर के दृष्टकूट—

रचना का साधारण अर्थ है अपने विचार व्यक्त करना और पाठ अथवा अध्ययन का आशय है व्यक्त विचारों को समझना। कवि यदि अपने विचार सीधी-सादी भाषा में लिख दे तो उन्हें समझना सरल होता है। क्लिष्ट भाषा का प्रयोग करने से छंद का अर्थ समझने में कुछ कठिनता अवश्य होती है; परंतु

योग्यता और अध्ययन के द्वारा वह दूर की जा सकती है। इसके विपरीत, कवि यदि कुछ शब्दों का प्रयोग मनमाने ढंग से करता है अथवा अपना अर्थ घुमा-फिराकर रखता है तब अभीष्ट अर्थ समझने के लिए योग्यता, अध्ययन, मनन के साथ-साथ पर्याप्त मानसिक व्यायाम भी अपेक्षित है। ऐसे पदों की रचना कवि सरलता से कर लेता हो, यह बात नहीं है; इस कार्य के लिए उसे भी बड़ा मानसिक व्यायाम करना पड़ता है; परंतु पाठक की कठिनाई उससे कई गुनी अधिक समझनी चाहिए। कठिन मानसिक व्यायाम के पश्चात् रचे गये ऐसे पदों को ही 'कूटपद' अथवा 'दृष्टकूट' कहते हैं। ये साधारणतयः इतने क्लिष्ट होते हैं कि इनका ठीक-ठीक अर्थ समझने में बड़े-बड़े विद्वान और व्याख्याता भी धोखा खा जाते हैं।

'साहित्य-लहरी' नामक काव्य में इसी कोटि के सभी पद हैं। यद्यपि इस ग्रंथ की प्रमाणिकता अभी संदिग्ध है, तथापि 'सूरसागर' में भी अनेक 'दृष्टकूट' मिलते हैं। दुरूहता और जटिलता के कारण इनका अध्ययन अधिक नहीं हो सका है। इन पदों का ठीक-ठीक अर्थ समझने के लिए 'भीषण मानसिक व्यायाम' तो अपेक्षित है ही, साथ ही स्थान-स्थान पर जैसे पहेलियाँ भी बूझनी पड़ती हैं; शब्दों के केवल अर्थ जानने से काम नहीं चलता। एक शब्द के अनेक अर्थों में पाठक को वही अर्थ छाँटना है जो कवि को अभीष्ट है। उदाहरण के लिए 'कुंती-सुत' का संकेत ६ पुत्रों में से किसके लिये है, तभी ज्ञात होगा जब प्रसंग स्पष्ट हो जाय। नीचे कुछ सामासिक पदों के अर्थ दिये जा रहे हैं। इनसे ज्ञात हो जायगा कि 'साहित्य-लहरी' की जटिलता और दुरूहता किस प्रकार की है और उसकी 'क्लिष्टता का परिहार' करने में कितना मानसिक व्यायाम करना पड़ता है:—

(१) **पर्यायवाची प्रणाली—**कुछ पदों में कवि ने एक शब्द के भिन्न अर्थ और उनके पर्यायवाची शब्दों को लेकर खेल किया है। उदाहरण के लिए—

(क) दरभूषण धनषन उठाय कै **नीतन** हरिघर हेरत[1]।

'नीतन' से कवि ने 'नेत्र' का अर्थ इस प्रकार निकाला है—**'नीतन'**—नीत+न; **नीत**—(१) 'नेत्र' का अपभ्रंश (२) नीति। **नीत**—नीति—नय; **नीतन**—नय+न—नयन।

(ख) **दधिसुत-सुत-पतिनी न निकासत** दिनपतिसुतपतिनीप्रिय बाधे[2]।

---

१. 'साहित्यलहरी', पद ३। २. 'लहरी'०, पद ६।

यहाँ 'द्राविड़-प्राणायाम' द्वारा कवि ने **'दधिसुत-सुत-पतिनी'** से 'बोली' का अर्थ इस प्रकार निकाला है—**दधिसुत**—उदधि-(समुद्र—**जल**)- सुत—कमल; **दधिसुत-सुत** —कमल-सुत ब्रह्मा; **दधिसुत-सुत-पतिनी**—ब्रह्मा की स्त्री—सरस्वती—गिरा—बोली—वचन ।

(ग) **अष्टसुर** इनको पठाए कंस-नृप के पास[1] ।

'वसुदेव' (कृष्ण के पिता) अर्थ यहाँ कवि ने **'अष्टसुर'** से इस तरह निकाला है—**अष्टसुर**—अष्ट+सुर; **अष्ट**—आठ—वसु (वसु आठ होते हैं, इसलिए कवि ने 'आठ' शब्द 'वसु' का संकेतार्थक मान लिया है); **सुर**—देव (पर्यायवाची); **अष्टसुर**—वसु+देव—वसुदेव ।

(घ) दधिसुत-अरि-भष-सुत-सुभाव चल तहाँ उताइल आई[2] ।

इस पंक्ति में **दधिसुत अरि-भष-सुत-सुभाव**-जैसे बड़े सामासिक पद से कवि ने पर्यायवाची-प्रणाली द्वारा 'सखी' अर्थ यों निकाला है—**दधिसुत**—उदधि (समुद्र)-सुत—चंद्रमा; **दधि-सुतअरि**—चंद्रमा का शत्रु—राहु; **दधिसुत अरि - भष**—राहु का भक्षण—सूर्य; **दधि-सुत-अरि-भख-सुत**—सूर्य का पुत्र—कर्ण; **दधिसुत-अरि-भष-सुत-सुभाव**—कर्ण का स्वभाव—दान करना—**'दानी'** होना ('दानी' को उर्दू में 'सखी' कहते हैं') ; अतः **दानी**—सखी— सहेली ।

(२) **प्रहेलिका प्रणाली**— कुछ पदों में कवि ने आदि, मध्य अथवा अंत के अक्षरों का लोप करके नया शब्द बनाया है और तब उसका अभीष्ट अर्थ में प्रयोग किया है । इस प्रणाली का एक उदाहरण देखिए—

कारन अंत अंत ते घट कर आदि घटत पै जोई ।
मद्ध घटे पर नास कियो है नीतन में मन मोई[3] ॥

यहाँ डेढ़ पंक्ति से कवि ने एक छोटा-सा शब्द 'काजल' यों निकाला है—**कारन अंत**—कारण का अंत—काम—काज (कारण का फल 'काज' होता है); **पै**—पय—जल; **नास**—नाश—काल ('काल' से नाश होता है) । अब कवि ने जैसे पहेली बुझायी है । वह तीन प्रश्न पूछता है—(१) वह कौन सा शब्द है जिसका **'अंत ते घटकर'** अर्थात् अंत्याक्षर हटाने पर 'काज' (कारन-अंत) बच रहेगा ? (२) वह कौन सा शब्द है जिसका **'आदि घटत'** अर्थात् आद्य अक्षर

---

१. **'साहित्यलहरी', पद ३८ ।** २. **'लहरी'०, पद ८७ ।**
३. **'लहरी'०, पद २ ।**

हटाने पर 'जल' बच रहेगा ? (३) वह कौन सा शब्द है जिसका **'मद्ध घटे पर'** अर्थात् बीच का अक्षर हटाने पर 'काल' बच रहेगा। उत्तर मिलता है—**काजल।**

(३) पुनरावृत्ति-प्रणाली—कुछ पदों में कवि ने शब्दों, शब्दांशों अथवा अक्षरों की अनेक आवृत्तियाँ करके एक निश्चित अर्थ निकाला है। इस प्रणाली के दो उदाहरण देखिए—

(क) **तीन लल** बल करे तो सँग कौन भल अलि जान।
डेढ़ लल कल लेत नाहीं प्रान प्रीतम आन॥
तीन **कीकी** रूप रतिपति ब्रज न दूजी आन[1]।

'छल', तिल', 'छकी' शब्द ऊपर की पंक्तियों से कवि ने इस प्रकार बड़ी चतुरता से निकाले हैं—**तील लल**—तीन बार 'लल' कहने से ६ ल हुए—छः+ल—छल। **डेढ़ लल**—डेढ़ बार 'लल' कहने से ३ ल हुए, तीन—ति—तीन + ल—ति+ल—तिल। **तीन कीकी**—तीन बार 'कीकी' कहने से ६ 'की' हुईं—छ+की—छकी।

(ख) **ति पीपी** पल माँझ कीनो निपट जीव निरास[2]।

यहाँ **'ति पीपी'** से 'गोपी' का अर्थ इस प्रकार निकलता है—**ति पीपी**—ति (तीन) बार 'पीपी' कहने से ६ पी हुईं—छपी, छपी—छिपाना—गोपना—गोपी ('गोपी' का अर्थ भी छिपाना होता है)।

(४) गणित-प्रणाली—इसमें निश्चित संख्या वाले शब्दों का प्रयोग करके, उनका संकेतार्थ केवल उनकी संख्या मान लिया जाता है। इस प्रणाली के दो उदाहरण देखिए—

(क) **ग्रह नक्षत्र अरु बेद अरध करि** को बरजे मुहि षात[3]।

हमारे यहाँ ग्रहों की संख्या ९, नक्षत्रों की २७, वेदों की ४ मानी गयी है। इनका योग ९+२७+४=४० हुआ। अतः ग्रह, **नक्षत्र अरु बेद**=४०। इनका **'अरध'**—आधा—४० का आधा—२०—बीस (तद्भव रूप)—विष (तत्सम रूप)।

(ख) **ग्रह नक्षत्र अरु बेद** सबन मिलि तन प्रन करिके बेचो[4]।

---

१. 'साहित्यलहरी', पद २१। २. 'लहरी'०, पद ३८।
३. 'लहरी'०, पद २३। ४. 'लहरी'०, पद ४८।

इस पंक्ति में शब्द तो पहले उदाहरण की ही तरह हैं ; परंतु उनसे अर्थ दूसरा ही निकाला गया है—**ग्रह नक्षत्र अरु बेद** —४०—४० सेर का एक **मन**—अतः नया अर्थ हुआ—मन (चित्त)।

(५) **क्रम-प्रणाली**—कुछ पदों में कवि ने तीन-तीन, चार-चार शब्दों के क्रमानुसार अक्षरों के योग से नया शब्द बनाया है। इसका एक उदाहरण देखिए—

चपला औ बराह रस आखर आद देषि झपटाने[1]।

इस पंक्ति के प्रथम ६ शब्दों से नया शब्द 'चकोर' इस प्रकार निकाला गया है—बराह=कोल। **चपला कोल** और **रस** के प्रथम अक्षर (आखर आद) जोड़ने से बना—चकोर।

(६) **विपर्यय-प्रणाली**—कुछ पदों में कवि ने शब्दों के अक्षरों का क्रम उलट कर नया शब्द बनाया है। इस प्रणाली का एक उदाहरण देखिए—

सारंग पलट पलट छबि दोई लै गौ आय चुराइ[2]।

यहाँ **'सारंग'** के अनेक अर्थों में से 'लवा' (पक्षी) चुना; फिर इसके अक्षरों का क्रम पलटकर इससे वाल—बाल बनाया। इसी प्रकार छवि—छव के अक्षरों का क्रम पलटकर 'वछ' शब्द बनाया जो 'वत्स' का अपभ्रंश है। अतः **सारंग पलट** का अर्थ हुआ ग्वाल-बाल और **पलट छबि** का गोवत्स।

(७) **सम्मिलित प्रणाली**—अनेक पदों में कवि ने उक्त प्रणालियों में से कुछ को मिला दिया है ; अर्थात् अभीष्ट अर्थ की ओर संकेत करने के लिए उक्त प्रणालियों में से एक से अधिक का आश्रय लिया है। नीचे इसका उदाहरण देकर कथन स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है—

(क) **अंत ते कर हीन माने तीसरो दो बार**[3]।

इस पंक्ति के शब्दों को लेकर कवि ने प्रहेलिका और गणित प्रणाली द्वारा 'कृतकृत्य' अर्थ इस प्रकार निकाला है—**तीसरो**=तीसरा=कृतिका नक्षत्र (हमारे यहाँ इस नक्षत्र का तीसरा स्थान माना जाता है)। **तीसरो** दो बार—कृतिका-कृतिका—कृतका-कृतका। अब इन 'कृतका-कृतका' को **अंत से हीन** अर्थात् अंत्याक्षर-रहित करने पर हुआ—कृतकृत—कृतकृत्य—धन्य होना—सफल होना—कृतकार्य होना।

---

१. 'साहित्यलहरी', पद ७२।   २. 'लहरी'०, पद ७८।

३. 'लहरी'०, पद १०१।

(ख) **ग्रह नक्षत्र है बेद** जासु घर ताहि कहा सारंग सम्हारो[1] ।

गणित प्रणाली के अनुसार **ग्रह, नक्षत्र और बेद** की संख्या का योग ४० होता है। इससे एक स्थान पर कवि ने 'मन' (चित्त) का अर्थ निकाला है। ऊपर की पंक्ति में कवि ने 'मन' का पर्यायवाची संकेतार्थ मनि—'मणि' लिया है।

(ग) **सिंधु-रिपु-हित तासु पतिनी भ्रात सिव कर जौन ।**
आदि कासों पदां बैरी जान परत न तौन[2] ।।

यहाँ १० शब्दों से पर्यायवाची और क्रम-प्रणाली द्वारा कवि ने 'मंत्र' अर्थ इस प्रकार निकाला है—**सिंधु-रिपु**—समुद्र का शत्रु—अगस्त्य, अगस्त्य-**हित**—राम; **तासु पतिनी**—राम की स्त्री—सीता, **सीता-भ्रात**—सीता का भाई—मंगल (मंगल की उत्पत्ति, सीता की तरह पृथ्वी से ही मानी गयी है), **सिव-कर जौन**—शिवजी के हाथ रहनेवाला—त्रिसूल। अब मंगल और त्रिशूल (=त्रशूल) के आदि अर्थात् पहले अक्षर मिलने से बना—मंत्र।

ऊपर जो कुछ विवेचना की गयी है, हम समझते हैं, उससे सूर की दृष्टकूट शैली का कुछ परिचय अवश्य मिल गया होगा। 'साहित्य-लहरी' के प्रायः सभी पदों की रचना में उक्त एक-न-एक प्रणाली की ही प्रधानता है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर, संभव है, इसी प्रकार की दो-एक प्रणालियाँ और भी ज्ञात हों; परंतु मुख्य यही हैं। इनके अतिरिक्त कुछ कूट पदों में सूरदास ने एक ही शब्द की अनेक बार आवृत्ति की है। ऐसे शब्द अनेकार्थी होते हैं और प्रायः प्रत्येक आवृत्ति में उनका भिन्नार्थ लगता है; जैसे—

(अ) बोल न बोलिए ब्रजचंद ।
कौन है संताप मिलि जानि आप अनंद ।
कहै **सारँग**-सुत बदन सुनि रही नीचे हेर ।
निरखि **सारँग** बदन **सारँग** सुमुख सुंदर फेर ।
गहत **सारँग** - रिपु **सुसारँग** दियौ **सारँग** सीस ।
कियौ भूषन पुत्र - **सारँग** संग **सारँग** दीस ,
उदै **सारँग** जान **सारँग** गयो अपने देस ।
'सूर' स्याम सुजान संग ह्वै चली बिगत कलेस[3] ।

---

१. 'साहित्यलहरी', पद १११ । २. 'लहरी'०, पद ११६ ।
३. 'लहरी'०, पद २६ ।

इस पद में 'सारंग' शब्द दस बार आया है और क्रमशः इन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—(१) समुद्र (सारंग-सुत=समुद्र का सुत, चंद्रमा,) (२) कृष्ण, (३) कमल, (४) दीपक (सारंग-रिपु=दीपक का शत्रु, वस्त्र,) (५) कर-कमल, (६) मेघ, पयोधर स्तन, (७) दीपक (पुत्र सारंग=दीपक का पुत्र, काजल), (८) कृष्ण, (९) सूर्य और (१०) चंद्रमा।

(आ) **सारँग सारँग**वरहिं मिलावहु।
सारँग बिनय करति **सारँग** सौं **सारँग** दुख बिसरावहु,
सारँग समय दहत अति **सारँग, सारँग** तिनहिं दिखावहु।
सारँग पंति[1] **सारँगधर** जे हैं, **सारँग** जाइ मनावहु।
सारँग चरन सुभग कर **सारँग, सारँग** नाम बुलावहु।
सूरदास **सारँग** उपकारिनि, **सारँग** मरत जियावहु[2]।

इस पद में 'सारंग' शब्द सोलह बार प्रयुक्त हुआ है जिनके अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) श्रेष्ठ उर या हृदयवाली (सारंग=मयूर; मयूर का पर्याय है 'वर्ही'=वरही=वर हिय, श्रेष्ठ हृदयवाली), (२) गिरि (सारंगधर=गिरिधर), (३) अनंत (असीम सारंग=आकाश, अनंत), (४) विष्णु, (५) ताप, काम-ताप (सारंग=सूर्य तपन, ताप), (६) रात्रि, (७) कमल, हृदय-कमल, (८) कृष्ण, (९) दीप्त, (१०) दीपक, (११) नेह, स्नेह, (१२) कमल, (१३) कमल, (१४) सखी (सारंग=अलि, सखी,) (१५) दुर्दशाग्रस्त, पीड़ित (सारंग=मृग, कुरंग; फिर कुरंग=बुरे रंगवाला, कांतिहीन, दुर्दशाग्रस्त, पीड़ित), (१६) सखी।

दृष्टकूटों की रचना का उद्देश्य—

अब प्रश्न यह है कि सूरदास ने इन पदों की रचना किस उद्देश्य से की। क्या वे केवल अपने समय में प्रचलित तत्संबंधी शैली से प्रभावित होकर ही इस ओर अग्रसर हुए थे अथवा इसमें इनका कोई विशेष उद्देश्य है?

आरंभ में नाथ-पंथी, सहजयान अथवा संत कवियों ने जिस प्रकार के दृष्टकूटों की रचना की थी, उसके दो मुख्य उद्देश्य थे—

(१) अपने विचारों को इस ढंग से व्यक्त करना कि वे सर्वसाधारण

१. पाठांतर—'सारंगपति' ('सूरसागर' पद २०१७)।
२. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद २०१७।

के लिए सहज बोधगम्य न हो जायँ। उन्हें भय था कि ज्ञान और साधना-संबंधी बातें जितनी ही प्रचलित और सुलभ होंगी, उनका और उनके उपदेशकों का मूल्य उतना ही घटता जायगा।

(२) दूसरी बात यह थी कि अपने दृष्टकूटों का पूर्ण अर्थ समझने के लिए वे जनता को अपने पर निर्भर रखना चाहते थे; कारण, इससे सर्वसाधारण की दृष्टि में उनका महत्व बढ़ता था। वस्तुतः ज्ञान, साधना, योग आदि का रहस्य जाननेवाले अधिक नहीं होते। इसके लिए विस्तृत अध्ययन, गंभीर मनन, सतत प्रयत्न और तीव्र अंतर्दृष्टि के साथ-साथ शारीरिक और मानसिक संयम भी अपेक्षित है। ये सर्वसाधारण के वश की बातें नहीं हैं। इसलिए ज्ञान-योग की दुहाई देनेवालों में यथार्थतः उनका रहस्य समझनेवाला कदाचित् ही कोई होता हो—अधिकांश ज्ञानी, साधक अथवा योगी होने का केवल आडंबर करनेवाले होते हैं। जब ये लोग दृष्टकुटों की रचना करते हैं, इनका उद्देश्य अपने पांडित्य का प्रदर्शन-मात्र होता है। इसी प्रकार, कालांतर में, दृष्टकूटों की जो प्रणाली प्रचलित हुई उसके मूल में यही पांडित्य-प्रदर्शन-भावना प्रधान थी। इसे हम दृष्टकूटों की रचना का तीसरा उद्देश्य भी मान सकते हैं।

सूरदास ज्ञानमार्गी थे ही नहीं। इसलिए उन्होंने प्रथम दो उद्देश्यों को सामने रखकर दृष्टकूटों की रचना की होगी, यह मानने को हम तैयार नहीं हैं। हमारी समझ में, तीसरी बात से मिलता-जुलता ही उद्देश्य सूर का रहा होगा। इतना कह सकते हैं कि उन्होंने केवल अपने पांडित्य-प्रदर्शन के लिए ही ऐसे पद न रचकर कहीं-कहीं कौतूहल-वश भी ऐसा किया होगा। यह बात असाधारण और असंगत नहीं है। स्वभावतः प्रेम में लीन, कृष्ण की भक्ति में रँगे सूर के सामने किसी शिष्य ने, बड़े आश्चर्य से, कुछ कूटपद सुनाकर उनका सुना-सुनाया अर्थ उन्हें बताया होगा। कुशल कवि सूर उसकी बात सुनकर हँस पड़े होंगे और उन्होंने उसी क्षण से कूटपद बना, अपने शिष्यों और मित्रों की जिज्ञासा शांत करके, अपने प्रति उनकी श्रद्धा-भावना को दृढ़ कर दिया होगा। कहने का आशय यह है कि सूर ने दृष्टकूटों की रचना केवल जिज्ञासा-शांति और अपनी काव्य-प्रतिभा का कुछ परिचय देने के लिए, अहंकार-भाव से नहीं, गंभीर गुरु की मंद मुस्कराहट के साथ की होगी।

'साहित्य-लहरी' के प्रायः सभी पद इस कथन के प्रमाण-स्वरूप दिये जा

सकते हैं। उनमें किसी गूढ़ विषय की व्याख्या नहीं हैं, गंभीर रहस्यों के उद्घाटन का प्रयत्न नहीं किया गया है। कवि ने अपने प्रिय इष्टदेव और उनकी प्रिया के प्रेम, सौंदर्य, मान, क्रीड़ा आदि साधारण और परिचित विषयों को लेकर ही कूटपदों की रचना की है। 'सूरसागर' के साधारण पदों में इन विषयों का जैसे वर्णन है, प्राय: वैसा ही 'साहित्य-लहरी' के कूट पदों में भी हैं। अंतर केवल इतना है कि सरल पदों का अर्थ सहज ही समझ में आ जाता है और कूटपदों में शब्दों का अर्थ निकालने में बड़ी माथापच्ची करनी पड़ती है।

'साहित्यलहरी' में कवि के आचार्य - रूप के भी कहीं-कहीं दर्शन होते है। इस कथन का प्रमाण 'साहित्यलहरी' में संकलित अनेक पदों में नायिकाओं और अलंकारों के नामों का प्रयुक्त होना है; यथा—

१. सूरस्याम सुजान **सुकिया अघट उपमा** दाव[१]।
२. सूरस्याम को बिदा **सुभूषन** कर **बिपरीत** बनावै[२]।
३. सूरज प्रभु **उल्लेख** सबन कौ हौ **पर पतिनी** हेरो[३]।
४. सूरज प्रभु पर होहु **अनूढ़ा सुमिरन** जनि बिसरावो[४]।
५. सूर **छेक** ते **गुप्त** बात हू तोको सब समुझैहैं[५]।
६. सूर सरस **सरूप गर्वित दीपकावृत** चाह[६]।
७. सूर **प्रस्तुत** कर **प्रशंसा** करत **षंडिता** नास[७]।
८. सूरज प्रभू **बिरोध सो** भाषत **बस-परजंक** निहार[८]।
९. सूर **अनसँग** तजत तावत **अयोपतिका** सूप[९]।

इन वाक्यों में क्रमश: स्वकीया, प्रौढ़ा (कोविदा=पंडिता=प्रौढ़ा), परकीया, अनूढ़ा, सुरतगुप्ता, रूपगर्विता, खंडिता, वासकसज्जा (बस-परजंक=पर्यंक पर बसी या बैठी), आगतपतिका नायिकाओं और पूर्णोपमा (अघट=न घटने वाली=पूर्ण), प्रतीप (विपरीत=उल्टा=प्रतीप), उल्लेख, स्मरण, छेकापह्नुति, आवृत्ति-दीपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, विरोधाभास, असंगति (अनसंग=अन्य का संग)

---

१. **'साहित्यलहरी', पद १।**
२. **'लहरी'०, पद ४।**
३. **'लहरी'०, पद ६।**
४. **'लहरी'०, पद ६।**
५. **'लहरी'०, पद १०।**
६. **'लहरी'०, पद १६।**
७. **'लहरी'०, पद २८।**
८. **'लहरी०', पद ३५।**
९. **'लहरी'०, पद २६।**

अलंकारों का उल्लेख हुआ है। इनके अतिरिक्त 'साहित्यलहरी' में अनेक पद ऐसे भी हैं जिनमें केवल अलंकारों के ही नाम आये हैं; जैसे—

१. सूरदास अनुराग प्रथम तें **विषम** बिचार बिचारो[1] ।
२. सूरस्याम सुजान **सम** बस भई है रस रीति[2] ।
३. सूरदास **अधिक** का कहिए करो सत्रु-सित्र साखी[3] ।
४. **अल्प** सूर सुजान कासो कहो मन की पीर[4] ।
५. **उक्तगूढ़** तें भाव उदै सब सूरज स्याम सुजान[5] ।

इन वाक्यों में क्रमशः विषम, सम, अधिक, अल्प और गूढ़ोक्ति अलंकारों के नाम आये हैं। इसी प्रकार 'साहित्यलहरी' के कुछ पदों में संचारी भावों के साथ-साथ अलंकारों का नाम-निर्देश है; जैसे—

१. **एक अवल** करि रही **असूया** सूर सुनत कह चाई[6] ।
२. भूषन **सार सूर स्रम** सीकर सोभा उड़त अमल उजियारी[7] ।
३. सूरज **आलस जथासंख** कर बूझ सखी कुसलात[8] ।
४. कासो कहो समूचे **भूषन सुमिरन** करत बखानो[9] ।
५. **अपसमार** जहँ सूर सम्हारत बहु **बिषाद** उर पेरों[10] ।

इन वाक्यों में एकावलि, सार, यथासंख्य, समुच्चय और विषाद अलंकारों के साथ साथ असूया, श्रम, आलस्य, स्मरण और अपस्मार संचारी भावों के नाम आये हैं। इनके अरिरिक्त कुछ ऐसे पद भी 'साहित्यलहरी' में हैं जो रस-विशेष के उदाहरण-रूप में प्रस्तुत किये गये जान पड़ते हैं[11] ।

---

१. 'साहित्य लहरी', पद ४० ।
२. 'लहरी'०, पद ४१ ।
३. 'लहरी'०, पद ४३ ।
४. 'लहरी'०, पद ४४ ।
५. 'लहरी'०, पद ८५ ।
६. 'लहरी'०, पद ४६ ।
७. 'लहरी'०, पद ५१ ।
७. 'लहरी'०, पद ५२ ।
९. 'लहरी'०, पद ५५ ।
१०. 'लहरी'०, पद ६७ ।
११. 'लहरी'०, पद-संख्या ७२ से ७८ तक ।

सूर का वात्सल्य-वर्णन : कुछ प्रसंग

माता-पिता का अपनी संतान के प्रति एवं वृद्धों का छोटे-छोटे सुंदर, हृष्टपुष्ट और हँसमुख बच्चों के प्रति, जो स्नेह होता है, मुख्यतः उसी का वर्णन वात्सल्य-रस के अंतर्गत आता है। यह विषय सार्वकालीन और सार्वजनीन है। आज से लाखों वर्ष पहले माता-पिता के हृदय में अपनी संतान के प्रति जैसा प्रेम था, वैसा ही आज भी ज्यों का त्यों वर्तमान है। इस स्नेह के लिए स्थिति की, धन की, पद की, किसी की अपेक्षा नहीं। माता भिखारिणी हो, पिता मजदूरी करता हो; परंतु इससे क्या! अपनी भोली-भाली और अबोध संतान के लिए निर्धन दंपति के हृदय में वैसा ही स्नेह का स्रोत प्रवाहित रहता है, जैसा किसी राजा-रानी के हृदय में अपने राजकुमार के प्रति। इसी वात्सल्य का सूर के काव्य में विस्तृत वर्णन है। विषय की दृष्टि से कवि ने इस वर्णन में बड़ी सूक्ष्मदर्शिता दिखायी है। वात्सल्य के संबंध में छोटी-से-छोटी बात भी नहीं छूटी है; सभी बातों का, सभी दृष्टियों से, उन्होंने विशद वर्णन किया है। माता यशोदा, पिता नंद तथा अन्य वयोवृद्ध ग्रामीणों—यहाँ तक कि राह चलते पथिकों—के शुद्ध और प्रफुल्लित हृदय में बालक कृष्ण की सुंदर और मनोमोहिनी मूर्ति एवं चपल और मनोहारी बालक्रीड़ाएँ देखकर जो सहज स्नेह उत्पन्न होता है, उसका अत्यंत स्वाभाविक, सरल और मनोहर चित्र अंधकवि सूरदास हमारे सामने रखने में सफल हुए हैं।

सूरदास ने कृष्ण-जन्म के पूर्व ही मोह-ममता की एक झलक दिखाकर सिद्ध कर दिया है कि वात्सल्य का भाव इतना नैसर्गिक है कि वह भावुक और सहृदय माता-पिता के हृदयों में ही नहीं, वज्र-कठोर और निष्ठुर हृदयों में भी सुगमता से उमड़ सकता है; और इसके लिए यह भी आवश्यक नहीं है कि बालक अपना ही हो। कंस के कारागार में देवकी का पहला बालक जन्मता है। प्रतिज्ञानुसार वसुदेव उसे कंस के पास ले जाते हैं। भोले-भाले नवजात शिशु को देखकर अन्यायी और

अत्याचारी कंस का कठोर हृदय भी इतने वात्सल्य से भर जाता है कि वह वसुदेव को बालक लौटाकर सब अपराध क्षमा कर देता है—

पहिलौ पुत्र देवकी जायौ, लै बसुदेव दिखायौ।
बालक देखि कंस हँसि दीन्यौ, सब अपराध छमायौ[1]।

श्रीकृष्ण के जन्म पर शिशु की रक्षा के लिए देवकी विकल हो जाती है। जिस माता के सात पुत्र जन्मते ही मार डाले गये हों, उसके हृदय का आठवें के जन्म पर बिलखना निस्संदेह बहुत करुण है। उसके दुख का कारण दोहरा है। पहला प्रश्न जो उसे अत्यंत चिंतित किये हुए है, नवजात शिशु की रक्षा का है; दूसरे, आठ-आठ शिशुओं को जन्म देकर भी वह उनकी बाल-लीला का सुख न देख सकी—इस कारण भी वह बहुत दुखी है। अत्यंत कातर शब्दों में वह पति से कहती है—

अहो पति सो उपाइ कछु कीजै।
जिहिं उपाइ अपनौ यह बालक, राखि कंस सौं लीजै।
मनसा, बाचा, कहत कर्मना, नृप कबहूँ न पतीजै।
बुधि-बल, छल-बल, कैसैंहु करिकै, काढ़ि अनतहीं दीजै।
नाहिंन इतनौ भाग जो यह रस, नित लोचन-पुट पीजै।
सूरदास ऐसे सुत कौ जस, स्रवननि सुनि-सुनि जीजै[2]।

वसुदेव ने पत्नी की बात सुनी। वे स्वयं पुत्र की जीवन-रक्षा के लिए चिंतित थे; परंतु जब उसका कोई उपाय न देखकर वे अपनी विवशता बताते हैं, तब माता देवकी पृथ्वी पर गिर पड़ती है और बिलख बिलखकर रोने लगती है—

यह सुनतहिं अकुलाइ गिरी धर, नैन नीर भरि-भरि दोउ ढारै[3]।

वसुदेव बालक कृष्ण को गोकुल ले जाने के लिए तैयार होते हैं, तब उसकी रक्षा-कामना करनेवाली माता देवकी शिशु से बिछुड़ने का दुख नहीं सह पाती। उसके मुख से स्वतः निकल पड़ता है—हाय, ऐसे सुत के बिछुड़ने के दुख से तो यही अच्छा था कि कंस विवाह के दिन ही मुझको मार डालता—

तब कत कंस रोकि राख्यौ पिय, बरु वाही दिन काहैं न मारी।
कहि, जाकौ ऐसौ सुत बिछुरै, सौ कैसैं जीवै महतारी[4]॥

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद ४। २. 'सागर', पद ६।
३. 'सागर', पद १०। ४. 'सागर', पद ११।

वसुदेव जी अपने बालक को गोकुल पहुँचा आते हैं। नंद और यशोदा बालक कृष्ण को अपने औरस पुत्र की भाँति स्वीकार करते हैं। क्षण-भर में समस्त व्रज में, यहाँ तक कि मथुरा में भी, यह बात फैल जाती है कि नंद जी के पुत्र हुआ है। जन्मोत्सव का आनंद व्रज में सर्वत्र छा गया। समस्त व्रज में मंगलाचार होने लगे; बधावे बजने लगे; दान देना आरंभ हो गया। व्रज की सब स्त्रियाँ अपना काम-काज छोड़कर बालक कृष्ण का मुख देखने की लालसा से नंद जी के घर पहुँच गयीं। पुरुष भी अपना दैनिक कार्य छोड़कर उत्सव मना रहे हैं। स्त्री-पुरुष परस्पर कह रहे हैं—

> **आज बन कोऊवै जनि जाइ।**
> **ढोटा है रे भयौ महरि कैं, कहत सुनाइ-सुनाइ।**
> **सबहिं घोष मैं भयौ कोलाहल आनँद उर न समाइ[1]॥**

आनंद उर में समाता भी कैसे? व्रज में आज अलौकिक प्रसन्नता छाई है, सभी प्रफुल्लित हैं। आनंद और उत्साह में मग्न हो नर-नारी नाच उठते हैं। नर-नारी ही क्यों, सारा व्रज जैसे उत्सव मना रहा है। तभी तो उसकी सुंदरता अपूर्व हो गयी है; समस्त संसार की सोभा और श्री आज उसे प्राप्त हो गयी है। कवि कहता है—

> **सोभा-सिंधु न अन्त रही री।**
> **नन्द-भवन भरिपूरि उमँगि चलि, ब्रज की बीथिनि फिरति बही री[2]।**

यह वर्णन नितांत स्वाभाविक है। समस्त व्रजवासी आनंद में मग्न हैं; कृष्ण-दर्शन की लालसा से उत्कंठित हैं, सबके मुँह से बस इतना ही निकलता है—

> **कत हौ गहरु करत रे भैया बेगि चलौ उठि धाइ।**
> **अपने-अपने मन कौ चीत्यौ नैननि देखौ आइ[3]॥**

स्त्रियाँ नंद के घर पहुँच गयीं। बालक कृष्ण के सुंदर दर्शन करके उन्होंने अपने नेत्र सफल किये। सभी नवजात शिशु को गोद में लेने को उत्सुक हैं। उनकी उत्कंठा का आभास इन पंक्तियों में मिलता है—

> **नैंकु गोपालहिं मोकौं दै री।**
> **देखौं कमल बदन नीकैं करि ता पाछैं तू कनियाँ लै री[4]।**

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद १७। २. 'सागर', पद २९।
३. 'सागर', पद २०। ४. 'सागर', पद २४।

इधर नंद जी पुत्रोत्सव में दान दे रहे हैं। याचकों को वे सब तरह से संतुष्ट करते हैं। उनका ताँता लगा हुआ है। पुत्र-जन्म सुनते ही दूर-दूर से भिक्षुक और याचक उनके घर आते हैं —

बंदीजन अरु भिच्छुक सुनि-सुनि दूरि-दूरि तैं आये[1]।

इन्हें देखकर नंद जी को अपार हर्ष होता है। दान पाकर और अत्यंत संतुष्ट होकर मार्ग में जाते हुए ये याचक ऐसे जान पड़ते हैं, मानो कहीं के राजा जा रहे हों—

ते पहिरे कंचन-मनि-भूषन नाना बसन अनूप।
....मानो जात कहूँ के भूप[2]॥

बालक कृष्ण के दर्शन भी नंद जी ने इन भिक्षुकों को कराये हैं। उस मनोहर मूर्ति को देख सब बड़े मुग्ध हुए। कुछ याचक तो केवल एक बार दर्शन करके लौट गये; परंतु अनेक नित्य-प्रति कृष्ण के प्रिय दर्शन के लिए नंद के द्वार पर ही पड़े रहना चाहते हैं। गोवर्द्धनवासी एक अतिथि अपनी जो अभिलाषा नंदजी से बताता है, वह इस प्रकार है—जब तक बालक कृष्ण चलने और बोलने नहीं लगता, तब तक मुझे यहीं पड़ा रहना दीजिए। चलने और बोलने की इनकी सुंदर क्रीड़ाएँ देखने के पश्चात् मैं चला जाऊँगा—

दीजै मोहिं कृपा करि सोई जो हौं आयौ माँगन।
जसुमति - सुत अपने पाइँनि चलि खेलन आवैं आँगन।
जब तुम मदनमोहन करि टेरौ कहि-सुनि कै घर जाऊँ[3]।

इसी प्रकार आनंदोत्सव में कुछ दिन बीत गये। अब नवजात शिशु के लिए एक छोटे पालने की आवश्यकता हुई। विचार मन में आते ही बढ़ई बुलाया गया और स्वयं माता यशोदा ने अपने पुत्र के लिए एक बड़ा सुंदर रँगा हुआ पालना बना लाने का आदेश दिया। उनका यह आदेश निश्चय ही मातृ-हृदय में उमड़ते सहज स्नेह का द्योतक है—

पालनौ अति सुन्दर गढ़ि ल्याउ रे बढ़ैया।
सीतल चन्दन कटाउ धरि खराद रंग लाउ, बिबिध चौकी बनाउ धाउ रे बनैया[4]।

बालक कृष्ण एक दिन इसी पालने पर पड़ा था। उसने हाथ से पैर का अँगूठा पकड़कर मुँह में दे लिया। यह दृश्य अत्यंत स्वाभाविक है; नित्यप्रति

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद ३९। २. 'सागर', पद ३९।
३. 'सागर', पद ३९। ४. 'सागर', पद ४१।

पालने में पड़े हृष्ट-पुष्ट बालक अँगूठा चूसा करते हैं। सूरदास ने इस क्रिया का वर्णन करते हुए लिखा है—

> **कर पग गहि अँगुठा मुख मेलत।**
> **प्रभु पौढ़े पालनैं अकेले हरषि-हरषि अपनैं रंग खेलत[1]।**

इसी प्रकार आनंद में मग्न बालक कृष्ण एक दिन पालने में पड़ा-पड़ा उलट गया। है तो यह बिल्कुल साधारण बात; परंतु माता के हृदय में इससे जो प्रसन्नता होती है, वह सूर की दृष्टि से बच न सकी। उन्होंने माता यशोदा की प्रसन्नता का वर्णन इन पंक्तियों में किया है—

> **महरि मुदित उलटाइ कै मुख चूमन लागी।**
> **चिरजीवौ मेरौ लाड़िलौ मैं भई सभागी॥**
> **एक पाख त्रय मास कौ मेरौ भयौ कन्हाई।**
> **पटकि रान उलटौ परयौ, मैं करौं बधाई[2]।**

पालने में झूलते-झूलते एक दिन कुछ ही महीनों का बालक कृष्ण जमीन पर गिर पड़ा और बिलख-बिलख कर रोने लगा। उस समय यशोदा की आकुलता—जल्दी से दौड़कर पुत्र को गोदी में उठा लेना, उसका शरीर सहलाना, दूसरों पर बिगड़ना और फिर उसे पुचकार कर चुप कराना भी सूर ने वर्णन किया है। बच्चे को सुलाने के लिए माता का उसे पालने में झुलाना और 'जोइ-सोइ' गाना भी सूर के मुँह से सुन लीजिए—

> **जसोदा हरि पालनैं झुलावै।**
> **हलरावै दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै॥**
> **मेरे लाल कौ आउ निंदरिया, काहैं न आनि सुवावै।**
> **तू काहैं न बेगहिं आवै, तोकौं कान्ह बुलावै[3]॥**

लोरी सुनते-सुनते बालक कृष्ण सोने लगता है। कुछ नींद-सी आ जाती है। वह आँखें मूँद लेता है। उसे सोता जान माता यशोदा स्वयं तो चुप हो ही जाती है, दूसरों को भी संकेत से चुप रहने को कहती है। परंतु क्षण भर में ही बालक जाग जाता है और माता यशोदा फिर गाने लगती है—

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद ६२। २. 'सागर', पद ६८।
३. 'सागर', पद ४३।

कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि, करि-करि सैन बतावै।
इहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि जसुमति मधुरैं गावै[1] ॥

तीन चार महीनों का बालक अब बोलना चाहता है। सूरदास उसके 'अटपटात कलबल कर बोल' भी सुनते हैं—

सबद जोरि बोल्यौ चाहत हैं प्रगट बचन नहिं आवत[2]।

इसी प्रकार माता यशोदा की गोद में बालक कृष्ण किलकारी मारता भी दिखायी देता है—

हरि किलकत जसुदा की कनियाँ[3]।

भोले-भाले अबोध बालक की ऐसी बाल-क्रीड़ाएँ देखकर माता का हृदय पुत्र-स्नेह से भर जाता है। वह प्रफुल्लित हो जाती है—

निरखि-निरखि मुख कहति लाल सौं, मो निधनी के धनियाँ[4]।

अब माता के मन में तरह-तरह की अभिलाषाएँ उठती हैं। बालक के 'कलबल बोल' सुनकर वह अभिलाषा करती है कि यह कब बोलने लगेगा; उसे बैठते और हाथ के बल चलने का प्रयत्न करते देखकर वह सोचती है, कब यह चलना सीखेगा। इसी प्रकार की और भी बहुत-सी अभिलाषाएँ हैं—

नन्द-घरनि आनन्द-भरी सुत स्याम खिलावै।
कबहिं घुटरुवनि चलहिंगे कहि बिधिहिं मनावै।
कबहिं दँतुलि द्वै दूध की देखौं इन नैननि।
कबहिं कमल-मुख बोलिहैं सुनिहौं उन बैननि।
चूमति कर-पग-अधर-भ्रू, लटकति लट चूमति[5]।

\+ \+ \+

नान्हरिया गोपाल लाल, तू बेगि बड़ो किन होहि।
इहिं मुख मधुर बचन हँसिकै धौं, जननि कहै कब मोहि।
यह लालसा अधिक मेरैं जिय जो जगदीस कराहिं।
मो देखत कान्हा इहिं आँगन, पग द्वै धरनि धराहिं।

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद ४३। २. 'सागर', पद १०२।
३. 'सागर', पद ८१। ४. 'सागर', पद ८१।
५. 'सागर', पद ७४।

खेलहि हलधर-संग रंग रुचि, नैन निरखि सुख पाऊँ।
छिन-छिन छुधित जानि पय कारन, हँसि-हँसि निकट बुलाऊँ[1]।

अभिलाषाओं का अन्त यहीं नहीं हो जाता। वास्तव में यह तो उनका आरंभ है। दिन-दिन ऐसी अनेक अभिलाषाएँ बढ़ती ही जाती हैं और यह स्वाभाविक भी है। माता की लालसा पुत्र की उन्नति देखने की होती है। अतः जब वह अपने पुत्र को बड़े बालकों की-सी बातें करते देखती है, तब अभिलाषा करती है कि कब यह अपने प्रयत्न में सफल होकर हमें सुख देगा और जब वह दूसरे बड़े बालकों को अपने माता-पिता को सुख देते देखती है, तब वह उस दिन की प्रतीक्षा करती है, जिस दिन उसका बालक भी उतना बड़ा होकर अपनी बाल-क्रीड़ाओं से उसे प्रसन्न करेगा। इस दूसरे प्रकार की अभिलाषा का सूर-साहित्य में प्रायः अभाव है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि सूर अपने बालकृष्ण की लीलाओं से अधिक सुखकर अन्य बालकों की लीलाएँ नहीं दिखाना चाहते थे। हाँ, प्रथम प्रकार की अभिलाषा-संबंधी कई पद सूर-काव्य में मिलते हैं। एक पद यहाँ और दिया जाता है—

जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरौ लाल घुटरुवनि रेंगै कब धरनी पग द्वैक भरै।
कब द्वै दंत दूध के देखौं कब तुतरे मुख बैन भरै।
कब नन्दहिं कहि बाबा बोलै कब जननी कहि मोहिं ररै।
कब मेरौ अँचरा गहि मोहन जोइ-सोइ कहि मोसौं झगरै।
कब धौं तनक-तनक कछु खैहै अपने कर सौं मुखहिं भरै।
कब हँसि बात कहैगौ मोसौं जा छबि तैं दुख दूरि हरै[2]।

कुछ दिनों में ही माता यशोदा की अधिकांश अभिलाषाएँ पूरी हो जाती हैं। बहुत शीघ्र ही बालक कृष्ण घुटनों चलना सीख जाता है। परंतु अभी तक वह देहली नहीं लाँघ पाता। एक-आध बार प्रयत्न करने पर जब वह गिर पड़ा, तब चतुर-बुद्धि बालक देहली के पास पहुँचकर लौटने लगा। माता को यह देखकर बड़ी प्रसन्नता होती है—

चलत देखि जसुमति सुख पावै।
ठुमुकि-ठुमुकि पग धरनी रेंगत, जननी देखि दिखावै।

---

१. 'सूरसागर' दशम स्कंध, पद ७४। २. 'सूरसागर', पद ७६।

देहरि लौं चलि जात बहुरि फिरि फिरि इतहीं कौं आवै।
गिरि-गिरि परत बनत नहिं नाँघत........................[1]।

बालक कृष्ण ने घुटनों चलना सीखा तो मट्टी खाना भी आरम्भ किया। यही नहीं, अबोध बालकों की तरह एक दिन स्वयं मट्टी खाकर वह माता को भी खिलाने पहुँचा[2]। माता यशोदा एक बार तो हँसी, पर धूल में सना शरीर और वस्त्र देखकर हाथ में छड़ी लेकर उसने धमकाना शुरू किया—

मोहन काहैं न उगिलौ माटी।
बार-बार अनरुचि उपजावति, महरि हाथ लिए साँटी[3]।

पुत्र को घुटनों चलते देखकर माता को बहुत संतोष होता है। अब वह उसे पैरों चलना सिखाती है। बालक कृष्ण भी हँसता हुआ साथ चलता है, परंतु अभी उसके पैर सीधे नहीं पड़ते हैं—

सिखवति चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत डगमगाइ धरनी धरै पैया[4]।

बालक कृष्ण छः महीने का हो गया है। शुभ दिन पूछकर अन्नप्राशन की तैयारी की गयी है। खूब उत्सव मनाया जा रहा है। तरह-तरह के व्यंजन बनवाकर नन्द जी बालक को गोद में लेकर बैठे हैं। माता यशोदा ने कृष्ण को स्नान कराकर, सुन्दर वस्त्राभूषण पहनाकर, पहले ही सजा दिया है। व्रज के सभी स्त्री-पुरुष हर्ष से गा-बजा रहे हैं। अन्नप्राशन का आरम्भ होता है और बाद को सभी सगे-संबंधी और मित्र बैठकर आनन्द से भोजन करते हैं। माता की यह भी एक बड़ी अभिलाषा पूरी होती है।

कुछ दिन बाद ही बालक कृष्ण बोलने लगता है। अब तो माता-पिता

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद १२६।

२. 'माटी-प्रसंग' की ये पंक्तियाँ भी देखिए—

मैं बचपन को बुला रही थी, बोल उठी बिटिया मेरी।
नंदन वन सी फूल उठी वह छोटी सी कुटिया मेरी।
'माँ ओ'! कहकर बुला रही थी, मिट्टी खाकर आयी थी।
कुछ मुँह में, कुछ लिये हाथ में, मुझे खिलाने आयी थी।
—श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान (मेरा नया बचपन)।

३. 'सूरसागर', पद २५४।   ४. 'सागर', पद ११५।

और व्रजवासियों की प्रसन्नता का वारापार नहीं है। कविवर सूरदास भी प्रसन्नता से गा उठते हैं—

कहन लागे मोहन मैया मैया।
नन्द महर सौं बाबा-बाबा अरु हलधर सौं भैया[१]।

सुख के दिन बहुत जल्दी बीतते हैं। बालक कृष्ण अब साल भर का हो जाता है। उसकी वर्षगाँठ की तैयारियाँ होती हैं। माता-पिता को तो प्रसन्नता है ही, व्रज की अन्य स्त्रियाँ और पुरुष भी बहुत प्रसन्न हैं। सभी उत्सव मना रहे हैं। गाँव भर में गाना-बजाना हो रहा है। माता ने कृष्ण को नहला दिया है। बालक कृष्ण इस पर मचल रहा है; रो रहा है। माता सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषण पहनाती है और पुचकार कर बहलाने का प्रयत्न करती है। पश्चात्, वर्षगाँठ का उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। इसका वर्णन सूर के शब्दों में सुनिए—

आजु भोर तमचुर के रोल।
गोकुल मैं आनंद होत है, मंगल-धुनि महराने टोल।
फूले फिरत नन्द अति सुख भयौ, हरषि मँगावत फूल तमोल।
फूली फिरति जसोदा तन-मन उबटि कान्ह अन्हवाइ अमोल।
तनक बदन, दोउ तनक-तनक कर तनक चरन पोंछति पट झोल।
कान्ह गरैं सोहति मनि-माला, अंग अभूषन अँगुरिनि गोल।
सिर चौतनी डिठौना दीन्हे आँखि आँजि पहिराइ निचोल।
स्याम करत माता सौं झगरौ अटपटात कलबल करि बोल।
दोउ कपोल गहिकै मुख चूमति, बरस-दिवस कहि करति कलोल।
सूर स्याम ब्रजजन-मन-मोहन बरस गाँठि कौ डोरा खोल[२]।

वर्षगाँठ के इस वर्णन में विशेषता केवल इतनी है कि सूरदास ने दिन-प्रति की साधारण बातें दिखाकर माता और वर्ष भर के शिशु के पारस्परिक भावों से हमें परिचित करा दिया है। यही बात हम कर्ण-वेध-संस्कार के वर्णन में देखते हैं। प्यारे शिशु का कन-छेदन होगा, माता को इस बात की एक ओर तो अत्यंत प्रसन्नता है, परंतु दूसरी ओर पुत्र के कष्ट का ध्यान करके उसका जी धुकधुकाने लगता है। इसी प्रकार बालक को भी पहले तो उत्सव का नाम

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद ११९। २. 'सागर', पद ६४।

सुनकर सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषण देखकर प्रसन्नता होती है, परंतु कन-छेदन के समय कष्ट का अनुभव करके वह रोने लगता है, कर्णवेध-संस्कार के वर्णन में माता और शिशु की इन्हीं अवस्थाओं का वर्णन सूरदास ने किया है—

कान्ह कुँवर को कनछेदन है, हाथ सुहारी भेली गुर की
..............................जसुमति की धुकधुकी उर की।

* * *

लोचन भरि-भरि दोऊ माता, कनछेदन देखत जिय मुरकी।
रोवत देखि जननि अकुलानी दियौ तुरत नौवा कौ घुरकी[1]।

बालक कृष्ण और बड़ा होता है। अब उसे पैरों चलना आ गया है। परंतु नहाने से उसे अब भी चिढ़ है। माता उसे नहलाने के लिए फुसला रही है। लेकिन वह तो हाथ पकड़ते ही रोने लगता है। बालक को बहलाने के लिए माता नहलाने का सामान छिपाकर रख लेती है और दही-माखन देने का बहाना करके पूछती है—क्यों रोता है? हम तो तुझे माखन देने के लिए बुला रही हैं। परंतु बालक कृष्ण इतना बुद्धिमान है कि माता के बहकावे में नहीं आता; वह समझ जाता है कि माता किस लिए बुला रही है और फिर रो देता है—

जसुमति जबहिं कह्यौ अन्हवावन रोइ गये हरि लोटत री।
तेल उबटनौ लै आगै धरि, लालहिं चोटत-पोटत री।
मैं बलि जाउँ न्हाउ जनि मोहन, कत रोवत बिनु काजैं री।
पाछैं धरि राख्यौ छपाइ कै उबटन-तेलसमाजैं री।
महरि बहुत बिनती करि राखति, मानत नहीं कन्हैया री।
सूर स्याम अति हीं बिरुझाने सुनि-सुनि अन्त न पैया री[2]।

जैसा सरल और स्वाभाविक वर्णन ऊपर के पद में मिलता है, वैसा ही एक चित्र और देखिए। बालक कृष्ण नंद जी के पास बैठा भोजन कर रहा है। खाते-खाते धोखे से उसने मिर्च कुतर ली। बस, वह मुँह पीटता हुआ बाहर भागता है; आँखों में पानी आ जाता है। माता भी उसके साथ ही दौड़ती है, पानी पिलाकर, मीठा खिलाकर, चुप कराकर, बहलाती है। देखिए, कैसा सरल वर्णन है—

जेंवत कान्ह नन्द इक ठौरे।
कछुक खात लपटात दुहूँ कर बाल-केलि अति भोरे।

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद १८०। २. 'सागर', पद १८६।

बड़ौ कौर मेलत मुख भीतर मिरिच दसन टुक तोरे।
तीछन लगी नैन भरि आये रोवत बाहर दौरे।
फूँकति बदन रोहिनी ठाढ़ी लिये लगाइ अँकोरे।
सूर स्याम कौं मधुर कौर दै कीन्हे तात निहोरे[1]।

रोते हुए बालक कृष्ण का चित्र भी सूरदास ने खींचा है। पुत्र की माखन-चोरी के उलाहने सुनते-सुनते जब माता बहुत खीझ जाती है, तब बुरी आदत छुड़ाने के लिए बालक कृष्ण को वह बाँध देती है। इस प्रकार दंड पाकर वह चोर-शिरोमणि आँगन में बैठा रो रहा है—

देखौ माई, कान्ह हिलकियनि रोवै।
इतनक मुख माखन लपटान्यौ डरनि आँसुवनि धोवै[2]।

बालक कृष्ण अब दो-तीन वर्ष का हो गया है। पर माता का ही दूध अभी तक पीता है। माता चाहती है कि बच्चे की यह आदत छूट जाय। अतः वह कृष्ण को फुसलाती और लालच देती है—अब तू बड़ा हो गया है, तुझे माता का दूध नहीं पीना चाहिए। ब्रज के लड़के तुझे माता का दूध पीते देखते हैं तो हँसी उड़ाते हैं। माता का दूध पीने से तेरे ये अच्छे-अच्छे दाँत बिगड़ जायँगे। कृष्ण इतना सुनके ही मुँह छिपाकर मुसकराने लगता है—

जसुमति कान्हहिं यहै सिखावति।
सुनहु स्याम, अब बड़े भये तुम कहि स्तन-पान छुड़ावति।
ब्रज-लरिका तोहिं पीवत देखत, हँसत, लाज नहिं आवति।
जैहैं बिगर दाँत ये आछे तातैं कहि समुझावति।
अजहूँ छाँड़ि, कह्यौ करि मेरौ, ऐसी बात न भावति।
सूर स्याम यह सुनि मुसुक्याने अंचल मुखहिं लुकावत[3]।

माता के सामने एक और कठिनाई उपस्थित हो गयी है। अब तो बालक कृष्ण दिन भर इधर-उधर खेलने-कूदने में इतना मस्त रहता है कि उसे खाने-पीने की भी चिंता नहीं होती। गाय का दूध पीना तो जैसे उसके लिए मुसीबत ही है। ऐसी स्थिति में माता बड़ी चतुराई से, स्पर्धा का भाव बालक के मन में पैदा करती हुई, उसे दूध पीने के लिए उत्साहित करती है—

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद २२४। २. 'सागर', पद ३४७।
३. 'सागर', पद २२२।

कजरी कौ पय पियहु लाल जासौं तेरी बेनि बढ़ै।
जैसैं देखि और ब्रज बालक, त्यौं बल-बैस चढ़ै[1]।

कुछ दिन पहले की बात है। जब बालक कृष्ण छोटा था और घुटनों चलता था, तब कमरे और आँगन के फर्श तथा खंभों पर अपना प्रतिबिंब देखकर पकड़ने दौड़ता था। सूरदास ने इस संबंध में लिखा है—

बालबिनोद खरो जिय भावत।
मुख प्रतिबिंब पकरिबे कारन हुलसि घुटुरुवनि धावत[2]।

बालक कृष्ण और बड़ा हो गया है। अब वह पैरों चलता है। एकांत में पहुँचकर अब जब वह अपना प्रतिबिंब देखता है तब उसे पकड़ने तो नहीं दौड़ता, परंतु उसे अपने सामने हिलते-डुलते देख नाचने अवश्य लगता है। उसकी ऐसी बाल-लीलाओं में तो सहज स्वाभाविकता है ही, सूरदास की कुशलता इस बात के सूचित करने में है कि पुत्र की ऐसी मनोहर लीलाएँ माता छिपकर देखती है, सामने नहीं आती—

हरि अपनैं आँगन कछु गावत।
तनक-तनक चरननि सौं नाचत मनहीं मनहिं रिझावत।
बाहँ उँचाइ काजरी-धौरी गैयनि टेरि बुलावत।
कबहुँक बाबा नन्द बुलावत कबहुँक घर मैं आवत।
माखन तनक आपनैं कर लै तनक बदन मैं नावत।
कबहुँक चितै प्रतिबिंब खंभ मैं लौनी लिये खवावत।
दुरि देखति जसुमति यह लीला हरष अनन्द बढ़ावत।
सूर स्याम के बाल-चरित नित नित ही देखत भावत[3]।

अंतिम पंक्तियों में माता यशोदा का पुत्र की बाल-लीलाओं को छिपकर देखना कवि की सूक्ष्म अंतर्दृष्टि का परिचायक है। माता जानती है कि सामने जाते ही बालक शरमा जायगा; इसी से वह छिपकर लाड़ले पुत्र की बाल-क्रीड़ा का आनंद उठा रही है।

एकांत में नाचनेवाला यह बालक जब दूसरे बालकों को खेलते-कूदते देखता है, तब उसके मन में भी वैसा ही करने की इच्छा उत्पन्न होती है। उसकी यह

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद १७४। २. 'सागर', पद १०२।
३. 'सागर', पद १७७।

अभिलाषा तभी पूरी हो सकती है, जब वह बड़ा हो जाय। अतः बालक कृष्ण अपनी माता के पास जाकर, उसके गले से लिपट कर, अत्यंत भोले स्वर में कहता है—

मैया मोहिं बड़ौ करि लै री।
दूध-दही-घृत-माखन-मेवा जो माँगौं सो दै री[1]।

रात्रि में एक दिन माता ने बालक को चंदा दिखा दिया। बस, कृष्ण उसे लेने के लिए मचल जाता है। आकाश की ओर संकेत करके वह उसे खेलने को माँगता है—

(मेरौ माई) ऐसौ हठी बालगोबिन्दा।
अपने कर गहि गगन बतावत खेलन को माँगै चंदा[2]।

यहाँ तक तो गनीमत है। चंदा को खेलने के लिए माँगने में तो कोई हानि नहीं है; पानी में उसकी छाया से बालक खेल सकता है। पर बालक कृष्ण को तो मचलने के लिए कुछ बहाना चाहिए। अतः वह कहता है—मैं तो इसे खाऊँगा। यही नहीं, माता को वह धमकाता है और धौंस भी देता है—चंदा नहीं देगी तो मैं धरती पर लोटकर शरीर और वस्त्र गंदे कर लूँगा, तेरी गोद में नहीं आऊँगा, दूध नहीं पियूँगा, चोटी नहीं कराऊँगा। धौंस की ये बातें तो साधारण हैं; सबसे बड़ी धमकी उसकी यह है कि चंदा न मिलने पर मैं तेरा पुत्र न रहकर बाबा नंद का पुत्र बन जाऊँगा—

मैया, मैं तौ चंद-खिलौना लैहौं।
जैहौं लोटि धरनि पर अबहीं, तेरी गोद न ऐहौं।
सुरभी कौ पय पान न करिहौं, बेनी सिर न गुहैहौं।
ह्वैहौं पूत नंद बाबा कौ, तेरौ सुत न कहैहौं[3]।

अब तो माता सन्नाटे में आ गयी। वह सोचती है कि बालक का यह हठ पूरा तो किया जा नहीं सकता, अतः उसे बहलाया कैसे जाय कि वह रोना-धोना छोड़कर प्रसन्न हो जाय। तब यशोदा पुत्र को फुसलाने के लिए कहती है—

अनहोनी कहुँ भई कन्हैया, देखी सुनी न बात।
यह तौ आहि खिलौना सबकौ, खान कहत तिहिं तात?

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद १७६। २. 'सागर', पद १९२।
३. 'सागर', पद १९३।

यहै देत लवनी निति मोकौं, छिन-छिन साँझ-सबारे।
बार-बार तुम माखन माँगत, देउँ कहाँ तैं प्यारे।
मधु - मेवा - पकवान - मिठाई, माँगि लेहु मेरे छौना।
चकई-डोरि, पाट के लटकन, लेहु मेरे लाल खिलौना[१]।

बालक अपना हठ नहीं छोड़ता। माता उसका ध्यान बटाने के लिए इधर-उधर की बातें करती है, यहाँ-वहाँ की चीजें दिखाती है; लेकिन मचलता हुआ कृष्ण गोदी से खिसका पड़ता है—

आन बतावति, आन दिखावति, बालक तौ न पतीजै।
खसि-खसि परत कान्ह कनियाँ तैं, सुसुकि-सुसुकि मन खीझै[२]।

माता ने तब दूसरा उपाय किया। वह चंद्रमा से बातें करने लगती है—

बार-बार जसुमति सुत बोधति, आउ चंद तोहिं लाल बुलावै।
मधु-मेवा-पकवान-मिठाई, आपुन खैहै, तोहिं खवावै।
हाथहिं पर तोहिं लीन्हे खेलै, नैंकु नहीं धरनी बैठावै[३]।

सब तरह से फुसलाने पर भी जब बालक कृष्ण नहीं मानता और चंदा लेने का हठ नहीं छोड़ता, तब माता यशोदा खीझती और पछताती है—

किहिं बिधि करि कान्हहिं समुझैहौं।
मैं ही भूलि चंद दिखरायौ, ताहि कहत मैं खैहौं[४]।

मचलता - मचलता बालक गोदी से उतर जाता है। माता इस पर एक नया प्रलोभन देती है—

आगैं आउ, बात सुनि मेरी, बलदाउहिं न जनैहौं।
हँसि समुझावति, कहति जसोमति, नई दुलहिया दैहौं[५]।

प्रस्ताव बहुत आकर्षक था। बालक कृष्ण ने उसे सुना, क्षण भर विचार किया और तब सहमत होकर बोला—

तेरी सौं, मेरी सुनि मैया, अबहिं बियाहन जैहौं[६]।

अब तो एक नयी समस्या उठ खड़ी हुई। कपड़े की गुड़िया तो तत्काल मिल

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद १९२। २. 'सागर', पद १९०।
३. 'सागर', पद १९१। ४. 'सागर', पद १७९।
५. 'सागर', पद १९३। ६. 'सागर', पद १९३।

नहीं सकती, 'दुलहिया' कहाँ मिलती ? हार कर यशोदा ने पात्र के पानी में चंद्रमा की छाया बालक को दिखा दी और कहा—ले, इसी के लिए तू इतनी देर से मचल रहा था ? मैंने एक पक्षी भेजकर आकाश से इसे पकड़ मँगाया है, अब तू जो चाहे सो इसका कर ले—

लै लै मोहन, चंदा लै ।
कमल-नैन बलि जाउँ सुचित ह्वै, नीचैं नैंकु चितै ।
जा कारन तैं सुनि सुत सुंदर, कीन्ही इती अरै ।
सोइ सुधाकर देखि कन्हैया, भाजन माँहि परै ।
नभ तैं निकट आनि राख्यौ है, जल-पुट जतन जुगै ।
लै अपने कर काढ़ि चंद कौं, जो भावै सो कै ।
गगन-मँडल तैं गहि आन्यौ है, पंछी एक पठै ।
सूरदास प्रभु इती बात कौं, कत मेरौ लाल हठै[1] ।

बालक ने पक्षी को भेजकर चंद्रमा को पकड़ मँगाने की बात सुनी और जल-पात्र में उसकी छाया देखी। उसे माता की बात पर विश्वास हो गया। दो-चार मिनट कृष्ण इस छाया मे खेलता रहा; परंतु जब उसे पकड़ न पाया, तब खीझ कर कहता है—

मैया री मैं चंद लहौंगौ ।
कहा करौं जलपुट भीतर कौ, बाहर ब्यौंकि गहौंगौ ।
यह तौ झलमलात झकझोरत, कैसें कै जु लहौंगौ ।
वह तौ निपट निकटहीं देखत, बरज्यौ हौं न रहौंगो ।
तुम्हरौ प्रेम प्रगट मैं जान्यौ, बौराएँ न बहौंगो ।
सूर स्याम कहै कर गहि ल्याऊँ, ससि-तन-दाप दहौंगौ[2] ।

माता को भी नया सूत्र मिल गया। उसने पुत्र को उत्साहित करते हुए कहा—चंद्रमा तो तुझसे डरता है, तेरे कुंडलों की उजियाली देखकर वह मन ही मन सकाता है। इसीसे कभी तो वह पाताल भाग जाता है, कभी कहता है—मैं आपकी शरण हूँ—

तुव मुख देखि डरत ससि भारी ।
कर करि कै हरि हेर्‌यौ चाहत, भाजि पताल गयौ अपहारो ।

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद १६५ । २. 'सागर', पद १६४ ।

वह ससि तौ कैसेंहु नहिं आवत, यह ऐसी कछु बुद्धि बिचारी।
बदन देखि बिधु बुधि सकात मन, नैन कंज कुंडल उजियारी।
सुनौ स्याम, तुमकौं ससि डरपत, यहै कहत मैं सरन तुम्हारी।
सूर स्याम बिरुझाने सोए, लिए लगाइ छतिया महतारी[1]।

एक दिन नंद जी भोजन करने बैठे। बालक कृष्ण कहीं खेल रहा था। माता उसे बुलाने पहुँची। पिता नंद के प्रतीक्षा करने की बात वह कहती है और फिर बताती है कि जल्दी न चलने से भोजन ठंढा हो जायगा। बालक उसकी ओर देखता है, सारी बात समझता है, पिता के पास चलने को भी तैयार हो जाता है; परंतु किसी तरह की शीघ्रता नहीं दिखाता। इस पर माता उसे किस प्रकार उत्साहित करती है, देखते ही बनता है—

नंद बुलावत हैं गोपाल।
आवहु बेगि बलैया लेउँ हौं, सुंदर नैन बिसाल।
परस्यौ थार धर्यौ मग जोवत, बोलति बचन-रसाल।
भात सिरात तात दुख पावत, बेगि चलौ मेरे लाल।
हौं वारी नान्हे पाइनि की, दौरि दिखावहु चाल।
छाँड़ि देहु तुम लाल अटपटी, यह गतिमंद मराल।
सो राजा जो अगमन पहुँचै, सूर सु भवन उताल।
जौ जैहैं बलदेव पहिलैं ही, तौ हँसिहैं सब ग्वाल[2]।

एक दिन बालक कृष्ण ने ग्वालों को दूध दुहते देखकर हठ करना शुरू किया—मैं भी दूध दुहूँगा। इस हठ का मूल कारण स्पर्धा नहीं है; स्पर्धा का भाव तो बराबर वालों को कोई काम करते देखकर पैदा होता है; बालक कृष्ण तो नितांत भोला है। दूध दुहने के लिए वह जो हठ कर रहा है, उसका कारण बर्तन में पड़नेवाली धार की आवाज है। दूध की धार का बर्तन में 'बजना' बालक कृष्ण को अत्यंत प्रिय है। अतः वह स्वयं गाय का दूध दुह कर धार को वैसे ही 'बजाना' चाहता है। संध्या के समय अपने पिता के पास जाकर वह कहता है—

मैं दुहिहौं मोहिं दुहन सिखावहु।
कैसैं गहत दोहनी घुटुवनि, कैसैं बछरा थन लै लावहु।

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद १६६। २. 'सागर', पद २२३।

कैसैं लै नोइ पग बाँधत, कैसैं लै गैया अटकावहु।
कैसैं धार दूध की बाजति सोइ-सोइ बिधि तुम मोहिं बतावहु[1]।

नंदजी पुत्र की बात सुनकर हँस पड़े; परंतु वे बच्चे का दिल भी नहीं तोड़ना चाहते। उन्होंने दूसरे दिन प्रातःकाल बालक को दुहना सिखाने का वचन दिया। कृष्ण को प्रसन्नता का ठिकाना नहीं है। सवेरा होते ही उछलता-कूदता वह माता के पास जाकर कहता है—

तनक कनक की दोहनी दै दै री मैया।
तात दुहन सीखन कह्यो मोहिं धौरी गैया[2]।

अब बालक कृष्ण का प्रथम बार गाय दुहना और इसे देखकर नन्द जी का मुदित होना भी देख लीजिए—

अटपट आसन बैठिकै गो-थन कर लीन्हौं।
धार अनतहीं देखिकै ब्रजपति हँसि दीन्हौं[3]।

एक दिन माता ने अपने पुत्र को रामचंद्र जी की कथा सुनायी। बालक इससे बहुत प्रभावित हुआ। अतः वह भी बाहर जाने के लिए हठ करने लगा। इसका दूसरा कारण यह भी था कि वह नित्य-प्रति अपनी अवस्था के बालकों को स्वतंत्रतापूर्वक खेलते देखा करता था। स्वभावतः उसके मन में उनके साथ खेलने की इच्छा उत्पन्न हुई। पर माता नहीं चाहती कि मेरा पुत्र मेरी आँख से ओझल होकर दूसरी जगह खेलने जाय। उसके हृदय में एक ओर तो पुत्र के प्रति सहज वात्सल्य का भाव उमड़ता है और दूसरी ओर कंस के नित्य-प्रति होनेवाले अत्याचारों से वह भयभीत है। पर पुत्र के सामने इन बातों को रखने की आवश्यकता वह नहीं समझती। जब उसे कोई उपाय न सूझा, तब उसने 'हाऊ' के आने की बात कहकर भोले-भाले पुत्र को डराना शुरू किया। बालक कृष्ण की समझ में यह बात नहीं आती कि जब छोटे-छोटे अनेक बालक बाहर खेला करते हैं, और 'हाऊ' उनको कोई नुकसान नहीं पहुँचाता, तब माता हमें ही क्यों रोकती है। माता भी प्रिय पुत्र के मन का यह भाव ताड़ गयी। उसने हाऊ के डर से दूसरे बालकों का भी भागना समझाकर बालक को दूर खेलने जाने से रोकना चाहा—

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद ४०१। २. 'सागर', पद ४०६।
३. 'सागर', पद ४०६।

खेलन दूरि जात कत कान्हा ?
आज सुन्यौ बन हाऊ आयौ तुम नहिं जानत नान्हा ।
इक लरिका अबहीं भजि आयौ, रोवत देख्यौ ताहि ।
कान तोरि वह लेत सबनि के लरिका जानत जाहि[१] ।

माता के डराने-धमकाने से एक-आध दिन तो बालक भले ही मान जाय; पर अंत में वह अपनी बात पूरी करके ही छोड़ता है। बालक कृष्ण की भी बाहर जाकर खेलने की इच्छा बहुत शीघ्र पूरी हो गयी। बाहर घूमने-फिरने पर जब उसे कहीं 'हाऊ' नहीं मिलता, तब वह माता से हँसकर यह भी पूछता है कि 'हाऊ' को भेजा किसने है—

दूरि खेलन जनि जाहु लाल मेरे, बन मैं आए हाऊ ।
तब हँसि बोले कान्हर, मैया, कौन पठाए हाऊ[२] ।

कृष्ण स्वतंत्र होकर साथियों के साथ खेलने लगा। इस समय उसकी अवस्था छह-सात वर्ष की है। एक दिन उसने अपने साथियों से माखन-चोरी का प्रस्ताव किया—

करैं हरि ग्वाल संग बिचार ।
चोरि माखन खाहु सब मिलि करहु बाल बिहार[३] ।

सब सखा बालक कृष्ण के मुख से यह बात सुनकर आश्चर्य करने लगे; इसलिए नहीं कि व्रजाधिपति-कुमार चोरी का प्रस्ताव कर रहा है; प्रत्युत इसलिए कि उसने अपनी चतुर बुद्धि से एक ऐसा नवीन ढंग खोज निकाला है, जिससे मनोरंजन होगा और साथ ही बढ़िया-बढ़िया दही और माखन भी खाने को मिलेगा। सब सखा ताली बजाने लगे और प्रसन्नता के कारण उनके मुख से केवल इतना ही निकल सका—

यह सुनत सब सखा हरषे, भली कही कन्हाइ ।
हँसि परस्पर देत तारी, सौंह करि नँदराइ ।
कहाँ तुम यह बुद्धि पाई स्याम चतुर सुजान[४] ।

प्रस्ताव हुआ। समर्थन हुआ। सर्वसम्मति से वह पास भी हो गया। सब लोग टोह लेने निकले और एक सूने घर में जाकर—

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद २२०। २. 'सागर', पद २२१।
३. 'सागर', पद २६६। ४. 'सागर', पद २६६।

प्रथम करी हरि माखन चोरी।
...............................आप भजे ब्रज-खोरी[1] ।

यह वर्णन पूरा नहीं है। इन पंक्तियों में तो केवल इतना संकेत है कि पहली चोरी में जल्दी ही सब लोग भाग आये। 'चोर-शिरोमणि' के 'चौर्य चातुर्य' का कुछ आभास, पाठक को, आगे की पंक्तियों में मिलेगा--

सखा सहित गये माखन चोरी।
देख्यौ स्याम गवाच्छ-पंथ ह्वै, मथति एक दधि भोरी[2] ।

मौका देख लिया गया। चौकन्ने होकर चारो ओर भी एक बार देख लिया गया। और तब—

पैठे सखनि सहित घर सूनैं दधि-माखन सब खाइ।
छूछी छाँड़ि मटुकिया दधि की हँसि सब बाहिर आइ[3] ।

पलक मारते काम पूरा हो गया। पहली बार ही आशातीत सफलता पाकर सबकी हिम्मत बढ़ गयी। साथ-साथ उत्साह भी बढ़ता गया। पहले तो केवल माखन और दही खाकर ही सब भागते थे, अब वे बरतन फोड़ डालते हैं, सोते हुए लड़कों को जगा देते हैं, उन पर दही और माखन छिड़क कर भाग जाते हैं—

गए स्याम ग्वालिनि घर सूनैं।
माखन खाइ, डारि सब गोरस, बासन फोरि किए सब चूनैं।
बड़ौ माट इक बहुत दिननि कौ, ताहि कर्‍यौ दस टूक।
सोवत लरिकनि छिरक मही सों, हँसत चले दै कूक[4] ।

अब तक गोपियाँ चुप रहीं। पड़ोस का ही नहीं, व्रजाधिपति के पुत्र का मामला है; जरा-जरा सी बात में नाराज होने में अपना ही ओछापन प्रकट होता है। फिर, कृष्ण को वे बहुत ज्यादा प्यार भी करती हैं। अतः यशोदा से उलाहना देना वे उचित नहीं समझतीं। फिर भी व्रज में सब गोपियाँ परस्पर कानाफूसी तो किया ही करती हैं—

चली ब्रज घर-घरनि यह बात।
नंद-सुत सँग सखा लीन्हें चोरि माखन खात[5] ।

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद २६८। २. 'सागर', पद २७०।
३. 'सागर', पद २७०। ४. 'सागर', पद ३१७।
५. 'सागर', पद २७२।

इस समय तक बालक कृष्ण के चोरी करने की बात मनोरंजन का ही एक विषय हो रही है। सब गोपियाँ चाहती हैं कि सखा सहित कृष्ण हमारे यहाँ आ जाय—

कोउ कहति किहिं भाँति हरि कौं, लखौं अपनैं धाम।
हेरि माखन देउँ आछौ खाइ जितनौ स्याम।
कोउ कहति मैं देखि पाऊँ भरि धरौं अँकवारि।
कोउ कहति, मैं बाँधि राखौं, को सकै निरवारि[1]।

यहाँ तक तो मनोरंजन और हँसी रही। पर जिस कृष्ण का वे स्वागत करने को प्रस्तुत हैं, वह जब सखाओं सहित आकर उन्हें कष्ट देने लगा—माखन खाने में तो कोई हानि नहीं हैं, पर जब वह उनके बरतन-भाड़े फोड़ने लगा—तब तो वे खीझ उठती हैं। उपद्रव की भी तो हद है! देखिए, कृष्ण और उसके सखाओं का साहस कितना बढ़ गया है—

हरि सब भाजन फोरि पराने।
हाँकि देत पैठे दै पैला नैंकु न मनहिं डराने।
सींके छोरि, मारि लरिकनि कौं माखन-दधि सब खाइ।
भवन मच्यौ दधिकाँदौ, लरिकनि रोवत पाए जाइ[2]।

उत्पात असह्य हो गया। गोपियों को यशोदा के पास जाकर उलाहना देने के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं सूझता। पर माता कैसे विश्वास कर ले कि मेरा छोटा-सा बालक इतने उत्पात कर सकता है? अतः माता यशोदा अपने पुत्र का पक्ष लेकर गोपियों को झूठा बताने लगी। पर जब उलाहने पर उलाहने आने लगे, तब एक दिन बहुत खीझकर उसने बालक की खबर लेने की ठानी। घर में घुसते ही यशोदा ने छड़ी लेकर कृष्ण से धमकाते हुए पूछा—कहाँ गया था तू? चोरी करता फिरता है? पिता की 'नन्हाई' करने पर तुला है? अच्छा सपूत पैदा हुआ है तू! अब तक तो छोड़ दिया, आज खबर लूँगी तेरी—

कन्हैया, तू नहिं मोहिं डरात।
षटरस धरे छाँड़ि, कत पर घर, चोरी करि करि खात।
बकत-बकत तोसौं पचि हारी, नैंकुहुँ लाज न आई।
ब्रज - परगन - सिकदार महर तू, ताकी करत नन्हाई।

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद २७३। २. 'सागर', पद ३२८।

पूत सपूत भयौ कुल मेरैं, अब मैं जानी बात।
सूर स्याम अब लौं तुहिं बकस्यौ, तेरी जानी घात[1] ॥

बालक कृष्ण ने डरते-डरते अपनी तुतलाती भाषा में अत्यंत भोले बनकर उत्तर दिया—

मैया, मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि मेरैं मुख लपटायौ।
देखि तुही सींके पर भाजन ऊँचैं धरि लटकायौ।
हौं जु कहत नान्हें कर अपनैं मैं कैसैं करि पायौ।
(मुख दधि पोंछि, बुद्धि इक कीन्हीं; दोना पीठि दुरायौ।
डारि साँटि मुसुकाइ जसोदा स्यामहिं कंठ लगायौ)[2]।

कहिए, कितने अकाट्य प्रमाण हैं! इनको कौन काट सकता है? गोपियाँ भी बातें सुनकर मुसकरा दीं। माता ने तब बालक को डराने के लिए गोपी से कहा—

सुनु री ग्वारि, कहौं इक बात।
मेरी सौं तुम याहि मारियौ, जबहीं पावौ घात[3]।

यही नहीं, मैं भी इसकी बातों में नहीं आऊँगी और, अगर अबकी इसकी शिकायत आयी, तब—

तब मैं याहि जकरि बाँधौंगी, बहुतै मोहिं खिझायौ।
साँटिनि मारि करौं पहुनाई, चितवत कान्ह डरायौ[4]।

परंतु कृष्ण और उसके साथियों को चोरी करने और ग्वालिनों को खिझाने में इतना मजा आने लगा है कि अब वे सौ काम छोड़कर उसी में लगे रहते हैं। फलस्वरूप उलाहने भी इतने बढ़ गये कि सबेरे, शाम, दोपहर जब देखो, तब गोपियाँ यशोदा के सामने खड़ी ही रहती हैं। अंत में यशोदा उनसे खीझ कर कहती है—अगर कृष्ण तुम्हारे यहाँ आता है, तो तुम उसे पकड़कर क्यों नहीं लातीं? जरा-सा बालक, जब देखो तब उसी ने चोरी की? पकड़कर लाना अबकी, जो चोरी करने जाय वह तुम्हारे यहाँ; तभी तुम्हारी बात सच मानी जायगी।

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद ३२१। **२. 'सागर', पद ३३४।**
३. 'सागर', पद ३३०। **४. 'सागर', पद ३३०।**

गोपियाँ चली गयीं। अब वे इस ताक में रहने लगीं कि कृष्ण को चोरी करते पकड़ ले चलना चाहिए। शीघ्र ही उन्हें अवसर मिल गया। बालक कृष्ण अपने साथियों के साथ एक घर में चोरी करने घुसा। गोपी पहले ही सतर्क थी। उसने दौड़कर कृष्ण को पकड़ लिया। साथी तो सब इधर-उधर भाग गये; पर उनका सरदार पकड़ा गया। गोपी ने पूछा—कहो, क्या करने आये थे यहाँ? भोले-भाले बालक ने उत्तर दिया—

मैं जान्यो यह घर अपनौ है, या धोखैं में आयौ।
देखत हौं गोरस मैं चींटी, काढ़न कौं कर नायौ[1]।

बालक की भोली-भाली बात सुनकर गोपी हँस दी, उसने बच्चे को छाती से लगा लिया। परंतु कृष्ण जब हर बार पकड़े जाने पर ऐसी ही बातें बनाने लगा, तब गोपियाँ उसकी बातों में नहीं आतीं। यशोदा के सामने उन्हें बार-बार लज्जित होना पड़ता है। अतः चोरी करते कृष्ण को एक बार पकड़ ले जाकर वे यशोदा को यह दिखला देना चाहती हैं कि हम झूठ नहीं बोलतीं। एक दिन उन्हें सफलता मिल जाती है और वे कृष्ण को पकड़कर माता के पास ले जाती हैं।

बालक कृष्ण को चोर[2] के रूप में देखकर माता का सिर झुक गया। क्षोभ और क्रोध से उसका मुँह लाल हो गया। व्रजाधिपति का पुत्र साधारण गोपियों के घर चोरी करे और वे उसे पकड़कर घसीटती हुई लावें! माता का क्रोध भभक उठा। वह गोपी को डाँटती हुई कहती है—

तैं जु गँवारि पकरि भुज याको बदन दह्यौ लपटायौ[3]।

अंत में अपराधी पुत्र के हाथ-पैर बाँधकर माता यशोदा ने डाल दिया। कितना सच्चा और स्वाभाविक चित्र है!

एक दिन कृष्ण ने माता से गाय चराने की आज्ञा माँगी। माता ने इसका विरोध किया। सबसे पहला प्रश्न तो प्रतिष्ठा का है—व्रज के स्वामी का पुत्र गाय चराने जायगा! विरोध का दूसरा कारण माता का स्नेह है। सूरदास ने अपने काव्य में इसी दूसरे कारण को प्रधानता दी है। तीसरे, माता को भय है कि कंस के भेजे हुए राक्षस कहीं उसका अनिष्ट न करें।

---

१. **'सूरसागर', दशम स्कंध, पद २७६।**
२. **'ह्वै गये सुता पराई' वाला प्रसंग जानकर छोड़ दिया गया है—लेखक।**
३. **'सागर', पद ३३६।**

परंतु कृष्ण के सामने इन तीनों बातों का कोई मूल्य नहीं है। उसने माता के सब तर्कों का उत्तर सरलता से दे दिया है। माता और पुत्र दोनों के तर्क इस प्रकार हैं—

आजु मैं गाइ चरावन जैहौं।
बृंदाबन के भाँति-भाँति फल अपने कर मैं खैहौं।
ऐसी बात कहौ जनि बारे, देखौ अपनी भाँति।
तनक-तनक पग चलिहौ कैसैं, आवत ह्वैहै राति।
प्रात जात गैया लै चारन, घर आवत हैं साँझ।
तुम्हरौ कमल बदन कुम्हिलैहै रेंगत घामहिं माँझ।
तेरी सौं मोहिं घाम न लागत, भूख नहीं कछु नेक।
(सूरदास प्रभु कह्यौ न मानत, पर्‌यौ आपनी टेक)[1] ॥

प्रश्न है कि कृष्ण को गाय चराने का आखिर शौक ही क्यों हुआ? उसके लिए पचीसों और खेल थे तब उसे गाय चराने में ही क्या लाभ दिखायी दिया? उसका उत्तर है कि पहले तो मैं अब काफी बड़ा हो गया हूँ, फिर मेरे सभी साथी—रैता, पैता, मना, मनसुखा आदि—जब गाय चराने जाते हैं, तो मैं क्यों पीछे रहूँ—

मैया हौं गाइ चरावन जैहौं।
तू कहि महर नंद बाबा सौं, बड़ौ भयौ न डरैहौं।
रैता, पैता मना, मनसुखा हलधर संगहिं रैहौं।
बंसीबट तर ग्वालनि कैं सँग, खेलत अति सुख पैहौं[2]।

अपनी बात पूरी करते-करते चतुर बुद्धि बालक को माता के स्नेह का ध्यान आ जाता है। वह सोचता है कि माता के विरोध के दो ही कारण हो सकते हैं—एक तो यह कि वन जाने पर मैं भूखा रहूँगा और दूसरे, मैं जाकर यमुना में नहाऊँगा। अतः दोनों शंकाओं का समाधान भी वह स्वयं ही कर देता है—

ओदन भोजन दै दधि काँवरि, भूख लगे तैं खैहौं।
सूरदास है साखि जमुन-जल सौंह देहु जु नहैहौं[3] ॥

माता ने फिर भी जब आज्ञा न दी तो कृष्ण चुपचाप चल दिया। यशोदा

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद ४११। २. 'सागर', पद ४१२।
३. 'सागर', पद ४१२।

भी सतर्क थी। उसने शीघ्रता से जाकर कृष्ण को पकड़ लिया। इस समय बलराम बहुत काम आये। उन्होंने माता से कहा—मेरे साथ इसे जाने दे; आज जल्दी लौट आयँगे। यशोदा को जल्दी में कोई उत्तर न सूझा। बेमन से माता ने पुत्र का हाथ छोड़ते हुए बलराम से कहा—इसको देखे रहना—

चले सब गाइ चरावन ग्वाल।
हेरी टेर सुनत लरिकनि की दौरि गए नँदलाल।
फिरि इत-उत जसुमति जो देखै, दृष्टि न परै कन्हाई।
जान्यौ जात ग्वाल सँग दौर्‌यौ, टेरति जसुमति धाई।
जात चल्यौ गैयनि के पाछैं, बलदाऊ कहि टेरत।
पाछैं आवति जननी देखी, फिरि-फिरि इत कौं हेरत।
बल देख्यौ मोहन कौं आवत, सखा किए सब ठाढ़े।
पहुँची आइ जसोदा रिस भरि, दोउ भुज पकरे गाढ़े।
हलधर कह्यौ, जान दै मो सँग, आवहिं आज सवारे।
सूरदास बल सौं कहै जसुमति, देखे रहियौ प्यारे[1]॥

यशोदा बड़बड़ाती हुई लौट आयी। उसकी खिझलाहट की गूँज इन पंक्तियों में भी सुनायी दे रही है—

प्रातहिं तैं लागे याही ढँग अपनी टेक कर्‌यौ है।
देखौ जाइ आजु बन कौ सुख, कहा परोसि धर्‌यौ है[2]।

पुत्र के हठ के सामने माता को झुकना तो पड़ा—उसने कृष्ण को गाय चराने जाने तो दिया—पर अपने हृदय को वश में करना उसके हाथ में न था। बड़ी कठिनता से उमड़ते हुए हृदय को रोककर उसने पुत्र के लिए अच्छे-अच्छे भोजन बनाकर दिये। सूरदास ने लिखा है—

(क) जोरति छाक प्रेम सौं मैया[3]।

(ख) माखन, रोटी अरु सीतल जल जसुमति दियौ पठाई[4]।

बालक कृष्ण के गाय चराने जाने की बात सूरदास ने कई पदों में लिखी है। एक बार वे फिर इसका वर्णन करते हुए लिखते हैं कि कृष्ण की प्रसन्नता का आज वारापार नहीं है। उसे वन में जाकर गाय चराने की आज्ञा मिल गयी है। सब

---

१. 'सूरसागर' दशम स्कंध, पद ४१३। २. 'सागर', पद ४१४।
३. 'सागर', पद ४२७। ४. 'सागर', पद ४१४।

काम जल्दी-जल्दी हो रहे हैं। सखाओं ने आकर आवाज दी। दोनों भाई जल्दी से दौड़ पड़े—

ग्वालनि बोल लियौ अधजेंवत, उठि दौरे दोउ भइया[1]।

साथियों को बुलाकर, स्नेह से गद्‌गद् होकर, अनुनय-विनय करके समझाते हुए माता ने कहा—इसकी खबर रखना। कृष्ण अपने साथियों के साथ प्रसन्न होकर जब जाने लगा, तब माता वात्सल्यपूर्ण दृष्टि से बड़ी देर तक उसकी ओर ताकती रहती है। जब कृष्ण आँख से ओझल हो गया, तब मन-ही-मन उसकी कुशलता के लिए देवी-देवताओं को मनाती हुई लौटती है। पर इतने से ही उसे संतोष नहीं होता। दिन में कई बार वह अपने प्रिय पुत्र की कुशल जानने के लिए आदमी दौड़ाती है। दिन-भर अनमनी-सी घूमती है, घर के किसी काम में उसका चित्त नहीं लगता। ज्यों-ज्यों शाम होती जाती है, त्यों-त्यों उसकी उत्सुकता और बेचैनी भी बढ़ती जाती है। बार-बार वह बाहर आकर वन-पथ की ओर ध्यान से देखती है। इस प्रकार सूरदार ने माता यशोदा की मानसिक स्थिति का बड़ा सूक्ष्म और स्वाभाविक वर्णन किया है।

समस्त व्रज-वासी अब नित्य-प्रति प्रातःकाल यह मनोहर दृश्य देखने लगे—

बछरा चारन चले गोपाल।
सुबल सुदामा अरु श्रीदामा संग लिए सब ग्वाल[2]।

कृष्ण को अब बाहर जाकर खेलने-कूदने का पूरा अवसर मिल गया। दिन भर कोई काम तो है नहीं। गायें चर रही हैं, लड़के खेल रहे हैं। इधर-उधर पेड़ों पर चढ़कर फल तोड़कर खा रहे हैं। खेलते-खेलते जब थक गये, तब घर से आया हुआ भोजन करने बैठ गये। इस समय छूत-छात का, ऊँच-नीच का ध्यान नहीं है। भोजन भी साथ बँधा है। फिर भी छीना-झपटी हो रही है। इसका कारण बाल-मनोविज्ञान के विशेषज्ञों को ही मालूम होगा। हम तो केवल इतनी बात जानते हैं कि पास के भोजन में वह स्वाद नहीं आता, जो अपने साथी को धोखा देकर, उसके हाथ से उसका हिस्सा छीनकर, बड़ा-सा कौर मुँह में ठूँस लेने पर, आता है। सूरदास के काव्य में इस प्रकार के अनेक चित्र देखकर कहना पड़ेगा कि अपनी बंद आँखों से ही उन्होंने बाल-मनोविज्ञान की इस विशेषता का सूक्ष्म निरीक्षण अवश्य किया था। वे लिखते हैं—

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद ४२६। २. 'सागर', पद ४१०।

(१) सूर स्याम अपनौ नहिं जेंवत, ग्वालनि कर तैं लै-लै खात[1] ।

(२) ग्वालनि कर तैं कौर छुड़ावत ।

जूठौ लेत सबनि के मुख कौ अपनैं मुख लै नावत ।
षट्रस के पकवान धरे सब तिनमैं रुचि नहिं लावत ।
हा-हा करि-करि माँगि लेत हैं कहत मोंहि अति भावत[2] ।

शाम हुई । वन से सब ग्वाल-बाल लौटे । उन्होंने कृष्ण को आगे कर लिया है । माता के लिए कृष्ण कुछ फल तोड़कर लाया है । यशोदा दौड़कर उसे छाती से लगा लेती है और सूरदास प्रसन्नता से गा उठते हैं—

जसुमति दौरि लिए हरि कनियाँ ।
आजु गयौ मेरौ गाइ चरावन, हौं बलि जाउँ निछनियाँ ।
मो कारन कछु आन्यौ है बलि, बन-फल तोरि नन्हैया ।
तुमहि मिलै मैं अति सुख पायौ, मेरे कुँवर कन्हैया[3] ।

यह तो पहले दिन की बात हुई । कृष्ण अभी अवस्था में बहुत छोटा है, पर जानता है कि इतना हठ करने पर माता ने आज तो किसी तरह जाने दिया, लेकिन कल नहीं जाने देगी । 'कल' की चिंता उसे वन से ही लगी है । आज बलराम की कृपा से वह आ सका था । इसलिए वन में बड़े भोलेपन के साथ, बहुत सीधा बनकर, वह बलराम से कहता है—

बलदाऊ, मोकौं जनि छाँड़ौ, संग तुम्हारैं रैहौं ।
कैसेहुँ आजु जसोदा छाँड़्यौ, काल्हि न आवन पैहौं[4] ।

बलराम ने छोटे भाई की चालाकी समझ ली । उन्होंने बड़े स्नेह से कृष्ण की ओर देखा । इससे उत्साहित होकर कृष्ण कहता है—

सोवत मोकौं टेरि लेहुगे, बाबा नंद दुहाई ।
सूर स्याम बिनती करि बल सौं, सखनि समेत सुनाई[5] ।

बलराम तथा सखाओं को तो तैयार कर लिया गया, पर माता का डर अभी बाकी है । इसके लिए भी चतुरबुद्धि कृष्ण को एक बढ़िया तरकीब सूझ जाती है । माता से वह कहता है—

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद ४६९ ।
२. 'सागर', पद ४६८ ।
३. 'सागर', पद ४१८ ।
४. 'सागर', पद ४१९ ।
५. 'सागर', पद ४१९ ।

मैं अपनी सब गाय चरैहौं।
प्रात होत बल कैं सँग जैहौं, तेरे कहैं न रैहौं।
ग्वाल बाल गाइनि के भीतर, नैंकहुँ डर नहिं लागत।
आजु न सोवौं नंद-दुहाई, रैनि रहौंगौ जागत।
और ग्वाल सब गाइ चरैहैं मैं घर बैठौ रैहौं[1] ?

माता और सब बातें तो सुनती और हँसती रही, लेकिन पिता की दुहाई देकर जब कृष्ण ने रात भर जगाते रहने की बात कही, तब हारकर उसे पुत्र से कहना ही पड़ा---

सूर स्याम तुम सोइ रहौ अब, प्रात जान मैं दैहौं[2] ।

वन में नित्य-प्रति ग्वाल-बाल खेलते हैं। सूरदास अपनी बंद आँखों से उनके कौतुकपूर्ण खेल को देखकर लिखते हैं—

खेलत स्याम ग्वालनि संग ।
सुबल, हलधर अरु श्रीदामा, करत नाना रंग ।
हाथ तारी देत भाजत, सबै करि-करि होड़[3] ।

साथियों को देखकर श्याम के मन में भी खेलने की उमंग उठी, वह भी साथ ही दौड़ चला। तभी बड़े भाई बलराम ने अपना बड़प्पन जताते हुए कहा— श्याम, तुम छोटे हो। इन लोगों के साथ मत खेलो, नहीं तो चोट लग जायगी। परंतु श्याम कहाँ सुनने लगा! उसने दौड़ते-दौड़ते ही उत्तर दिया—जी! मुझे भी दौड़ना आता है; मेरे शरीर में भी बल है। और उधर जब मेरी गुइयाँ हाथ मारे जा रही है, तब भी मैं न दौड़ूँ?

बरज हलधर, स्याम, तुम जनि चोट लागै गोड़।
तब कह्यौ, मैं दौरि जानत, बहुत बल मो गात।
मेरी जोरी है श्रीदामा, हाथ मारे जात[4] ।

सखा से बाजी लगाकर श्याम दौड़े। दौड़कर सखा ने कृष्ण को छू लिया। श्याम 'चोर' हुए, तो लगे बेइमानी करने। बोले—मैं तो अपने आप खड़ा हो गया था, तुमने मुझे छू लिया तो इसमें तारीफ ही क्या है। इतना सुनते ही सब ग्वाल-बाल हँस पड़े। बेचारा कृष्ण शरमा गया—

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद ४२०। २. 'सागर', पद ४२०।
३. 'सूरसागर', पद २१३। ४. 'सागर', पद २१३।

उठे बोलि तबै श्रीदामा, जाहु तारी मारि।
आगैं हरि पाछैं श्रीदामा धर्यौ स्याम हँकारि।
जानिकै मैं रह्यौ ठाढ़ौ, छुवत कहा जु मोहि।
सूर हरि खीझत सखा सों, मनहिं कीनौ कोह[1]।

कृष्ण ने कदाचित् यह सोचा होगा कि इस प्रकार क्रोधित हो जाने से अन्य सखा दब जायँगे, उन्हें मनाने लगेंगे। परंतु वे क्यों दबने लगे? और फिर एक दिन की बात हो तो सह भी ली जाय; अभी उस दिन जब 'बटा' का खेल अच्छी तरह जम रहा था, तब भी तो कृष्ण ने ही कुछ गड़बड़ किया था—

बटा धरनी डारि दीनौ, लै चले ढरकाइ।
आपु अपनी घात निरखत, खेल जम्यौ बनाइ।
सखा जीतत स्याम जाने, तब करी कछु पेल[2]।

इस तरह हर बार झगड़ा करनेवाले से कोई कहाँ तक दबे? इसलिए सब सखा श्रीदामा की तरफ हो गये और उन्होंने साफ-साफ कह दिया—बड़े होंगे, तो अपने घर के होंगे, हम किसी के दबैल थोड़े ही हैं—

खेलत मैं को काकौ गुसैयाँ?
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ[3]?

सब सखाओं को श्रीदामा ने अपनी ओर देखा तो वह और भी चंग पर चढ़ गया और लगा ललकार कर कहने—

जाति-पाँति हमतैं बड़ नाहीं, नहीं बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातैं, अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ[4]।

श्रीदामा ने अकड़ने का साहस किया तो सखाओं ने भी ऐंठ दिखायी। सबने साफ-साफ कह दिया—जो खेल में भी गड़बड़ी करे, उसके साथ हमें नहीं खेलना है। बेचारा कृष्ण अकेला पड़ गया; तब हारकर उसने नंद की दुहाई देते हुए श्रीदामा का दाँव दिया—

रूहठि करै तासों को खेलै? रहे पौढ़ि जहँ-तहँ सब ग्वैयाँ।
सूरदास प्रभु खेल्यौइ चाहत, दाउँ दियौ करि नंद दुहैया[5]।

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद २१३। २. 'सागर', पद २४४।
३. 'सागर', पद २४३। ४. 'सागर', पद २४३।
५. 'सागर', पद २४३।

यहीं तक होता तो कोई बात नहीं थी, पर मामला तो और भी आगे बढ़ गया। साथियों में बड़े भाई बलराम भी थे : चाहिए तो उन्हें यह था कि कृष्ण का पक्ष लेते, परंतु इसके विपरीत, वे भी कृष्ण को बनाने लगे, यह 'घर सों बैर पड़ोसी सों नाता' नहीं तो क्या है—

> **बीचहिं बोलि उठे हलधर तब याके माय न बाप।**
> **हारि-जीति कछु नैंकु न समुझत, लरिकनि लावत पाप।**
> **आपुन हारि सखनि सों झगरत.................................[1]।**

और बलराम की यह अकाट्य उक्ति सुनकर सब सखाओं को कृष्ण की हँसी उड़ाने का पूरा अवसर मिल गया। इस सबका परिणाम जो होना चाहिए था, वही हुआ। चारो तरफ से निराश होकर—

> **सूर स्याम उठि चले रोइकै, जननी पूछति धाइ[2]।**

माता पर पुत्र को बड़ा भरोसा रहता है। सब तरफ से निराश होकर बालक कृष्ण भी माता की ही गोद में जाता है। माता ने व्याकुल होकर रोने का कारण पूछा। श्याम को साथियों पर उतना क्रोध नहीं है, जितना है बलराम पर। बलराम जब अपने होकर हमें बनाते हैं, हमारी हँसी उड़ाते हैं, तब सखा भी वैसा क्यों न करेंगे ? अतः कृष्ण ने साफ-साफ माता से कहा—

> **मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायो।**
> **मोसौं कहत मोल कौ लीनौ, तू जसुमति कब जायौ।**
> **कहा करौं इहि रिसि के मारैं खेलन हौं नहिं जात।**
> **पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरौ तात।**
> **गोरे नन्द, जसोदा गोरी, तुम कत स्यामल गात।**
> **चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसुकात।**
> **तू मोही को मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै[3]।**

इतने से ही कृष्ण को संतोष नहीं हुआ। माता ने जब बहते हुए आँसू पोंछकर उसे गोद में छिपा लिया, तब दुख का वेग और भी तीव्र हो गया। इस पर यशोदा कृष्ण को मनाती और उसकी प्रशंसा करती हुई कहती है—

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद २१४। **२. 'सागर', पद २१४।**
३. 'सागर', पद २१५।

मोहन, मानि मनायौ मेरौ।
हौं बलिहारी नंदनँदन की, नैंकु इतै हँसि हेरौ।
कारौ कहि कहि तोहि खिझावत, बरजत खरौ अनेरौ।
इंद्रनील मनि तैं तन सुंदर, कहा कहै बल चेरौ।
न्यारौ जूथ हाँकि लै अपनौ, न्यारी गाइ निबेरौ।
मेरौ सुत सरदार सबनि कौ, बहुतै कान्ह बड़ेरौ[1]।

माता की इस सांत्वना से बालक कृष्ण के आँसू तो अवश्य रुक गये, पर सिसकियाँ लेते हुए उसने फिर कहा—

खेलन अब मेरी जाइ बलैया।
जबहिं मोहिं देखत लरिकनि सँग, तबहिं खिझत बल भैया।
मोसौं कहत—पूत बसुदेव कौ, देवकि तेरी मैया।
मोल लियौ कछु दै करि तिनकौ, करि-करि जतन बढ़ैया।
अब बाबा कहि कहत नन्द सौं जसुमति को कहै मैया।
ऐसे कहि सब मोहिं खिझावत, तब उठि चल्यौ खिसैया[2]।

खेलने से रुठने का एक और भी कारण है। वन में लोग कृष्ण को बनाते हैं, सो तो किसी सीमा तक क्षम्य है, पर इनसे एक काम भी लेते हैं। तभी तो वह माता से कहता है—

मैया हौं न चरैहौं गाइ।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसौं, मेरे पाइँ पिराइ।
जौ न पत्याहि पूछ बलदाउहिं, अपनी सौंह दिवाइ[3]।

माता यशोदा और पिता नंद पहली बातें सुनकर तो मन-ही-मन मुसकराते रहे, केवल बालक का मन रखने के लिए नंद ने बलराम को बुरा-भला कहा, जिससे बालक कृष्ण फिर प्रसन्न हो गया—

सूर नन्द बलरामहिं घिरयौ सुनि मन हरष कन्हैया[4]।

परंतु अंतिम बात अर्थात् यह सुनते ही कि सब ग्वाल मिलकर कृष्ण को कष्ट देते हैं, माता यशोदा को क्रोध आ गया और उसी आवेश में उसने ग्वालों

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद २१६। २. 'सागर', पद २१७।
३. 'सागर', पद ४१०। ४. 'सागर', पद २१७।

को गालियाँ दीं। कहीं माता अपने पुत्र के कष्ट देनेवाले को सरलता से छोड़ सकती है?

यह सुनि माइ जसोदा ग्वालनि गारी देति रिसाइ।
मैं पठवति अपने लरिका कौ, आवै मन बहिराइ।
सूर स्याम मेरौ अति बालक, मारत ताहि रिंगाइ[1]।

खेलते-खेलते बालकों के झगड़ पड़ने का एक चित्र और देख लीजिए। कृष्ण ने श्रीदामा के गेंद मारी। उस चपल बालक ने मुड़कर अपने को बचा लिया और गेंद जाकर गिरी कालीदह में। वह स्थान था काली नाग का और वह नाग इतना भयानक था कि उसके विष के प्रभाव से जमुना का जल भी विषैला हो गया था। समस्त व्रज-वासी ऐसे स्थान से दूर रहते थे। जो गेंद कालीदह में गिरी थी, वह गेंद अगर कृष्ण की होती, तो कोई बात नहीं थी; पर गेंद का स्वामी था श्रीदामा। उसने दौड़ कर कृष्ण की फेंट पकड़ी और साफ साफ कहा—मेरी गेंद मँगा कर सीधी तरह दे दो, नहीं तो अच्छा नहीं होगा। मुझे और लड़कों-सा न समझना, मैं बड़ा टेढ़ा हूँ—

स्याम सखा कौं गेंद चलाई।
श्रीदामा मुरि अंग बचायौ, गेंद परी कालीदह जाई।
धाइ गही तब फेंट स्याम की, देहु न मेरी गेंद मँगाई।
और सखा जनि मोकौं जानौ, मोसौं तुम जनि करौ ढिठाई।
जानि-बूझि तुम गेंद गिराई, अब दीन्हैं ही बनैं कन्हाई।
सूर सखा सब हँसत परस्पर, भली करी हरि गेंद गँवाई[2]।

सखाओं के सामने इस तरह फेंट का पकड़ा जाना कृष्ण को अच्छा नहीं लगा। यों भी कह सकते हैं कि श्रीदामा की यह हरकत सूरदास को अच्छी नहीं लगी; गाँव के अहीर का लड़का और सूर के स्वामी की फेंट पकड़ने का साहस करे। बहुत डाँटकर तब कृष्ण ने कहा—

फेंट छाँड़ि मेरी देहु श्रीदामा।
काहे कौं तुम रारि बढ़ावत, तनक बात कैं कामा।
मेरी गेंद लेहु ता बदलैं, बाँह गहत हौं धाइ।
छोटौ बड़ौ न जानत काहूँ, करत बराबरि आइ[3]।

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद ५१०।   २. 'सागर', पद ५३५।
३. 'सागर', पद ५३६।

श्रीदामा भी कमजोर नहीं है जो ऐसी-ऐसी घुड़कियों में आ जाय। वह भी तड़प कर कहता है—

हम काहे कौं तुमहि बराबर, बड़े नंद के पूत।
सूर स्याम दीन्हैं ही बनिहै, बहुत कहावत धूत[1]।

इतने साथियों के सामने 'धूत' कहा जाना कृष्ण को बहुत चुभा। बहुत खीझ कर बड़े व्यंग्य के साथ वह कहता है—

तोसौं कहा धुताई करिहौं।
जहाँ करी तहँ देखी नाहीं, कह तोसौं मैं लरिहौं।
मुँह सम्हारि तू बोलत नाहीं, कहत बराबरि बात[2]।

इतना कहते-कहते कृष्ण ने अपनी फेंट झटका देकर छुड़ा ली और लपक कर वह कदंब पर चढ़ गया। यह देखकर सब सखा हँसने लगे। बेचारा श्रीदामा खिसिया गया और चला यशोदा से शिकायत करने। अब तो श्याम घबराया। उसने श्रीदामा को आवाज देकर कहा—ले, अपनी गेंद ले। और वह गेंद लाने के लिए कालीदह में कूद पड़ा—

रिस करि लीन्ही फेंट छुड़ाइ।
सखा सबै देखत हैं ठाढ़े, आपुन चढ़े कदम पर धाइ।
तारी दै-दै हँसत सबै मिलि, स्याम गए तुम भाजि डराइ।
रोवत चले श्रीदामा घर कौं, जसुमति आगै कहिहौं जाइ।
सखा-सखा कहि स्याम पुकार्‌यौ, गेंद आपनी लेहु न आइ।
सूर स्याम पीताम्बर काछे, कूदि परे दह मैं भहराइ[3]।

घर पर भी बालक कृष्ण का खेलना देख लीजिए। वह आज अपनी माता से 'चकरी - भौंरा' माँगकर खेल रहा है और यशोदा उसकी प्रसन्नता देखकर मन-ही-मन अपना जीवन धन्य मानती है—

दे मैया भौंरा चक डोरी।
जाइ लेहु आरे पर राख्यौ, काल्हि मोल लै राखे कोरी।
लै आए हँसि स्याम तुरत हीं, देखि रहे रँगरँग बहु डोरी।
मैया बिना और को राखै, बार-बार हरि करत निहोरी।

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध पद ५३६। २. 'सागर', पद ५३७।
३. 'सागर', पद ५३९।

बोलि लिये सब सखा संग के खेलत कान्ह नन्द की पोरी ।
तैसेइ हरि, तैसेइ सब बालक कर भौंरा चकरिनि की जोरी ।
देखति जननि जसोदा यह सुख, बार-बार बिहँसति मुख मोरी ।
सूरदास प्रभु हँसि-हँसि खेलत ब्रजबनिता डारति तृन तोरी[1] ।

श्रीकृष्ण की प्रकृति का परिचय उक्त प्रसंगों से बहुत-कुछ मिल जाता है। साथ-साथ अन्य बालकों के स्वभाव का चित्रण भी सूरदास ने यत्र-तत्र किया है, विशेषकर कृष्ण के अलौकिक कृत्य देखकर उनका अत्यंत चकित होना नितांत स्वाभाविक है। वन में कृष्ण ने अनेक राक्षसों का वध किया। पूतना और तृणावर्त के मारे जाने के समय तो कृष्ण इतनी छोटी अवस्था का था कि उनको मारने और बालक की रक्षा करने का श्रेय 'कुलदेव' को मिला था। परंतु वन में आये हुए राक्षस तो सब ग्वाल-बालों के सामने मारे गये थे। प्रत्येक राक्षस के मारे जाने पर सब ग्वाल-बाल आँखें फाड़-फाड़ कर उसका विशाल शरीर देखते और तब परस्पर कहते हैं—

ब्रज मैं को उपज्यौ यह भैया ।
संग सखा सब कहत परस्पर, इनके गुन अगमैया ।
जब तैं ब्रज अवतार धर्‍यौ इन, कोउ नहिं घात करैया ।
तृनावत पूतना पछारी, तब अति रहे नन्हैया ।
कितिक बात यह बका बिदार्‍यौ, धनि जसुमति जिनि जैया ।
सूरदास प्रभु की यह लीला, हम कत जिय पछितैया[2] ।

इतना कहकर ही बालकों को संतोष नहीं होता। जल्दी-जल्दी घर पहुँचकर वे माता यशोदा से सारा वृत्तांत सुनाते हैं और सो भी बड़े विस्तार से—

आजु जसोदा जाइ कन्हैया महा दुष्ट इक मार्‍यौ ।
पन्नग-रूप गिले सिसु गो-सुत इहिं सब साथ उबार्‍यौ ।
गिरि-कंदरा समान भयानक जब अघ बदन पसार्‍यौ ।
निडर गोपाल पैठि मुख-भीतर, खंड-खंड करि डार्‍यौ ।
याकैं बल हम बदत न काहुहिं, सकल भूमि तृन चार्‍यौ ।
जीते सबै असुर हम आगैं, हरि कबहूँ नहिं हार्‍यौ ।
हरषि गए सब कहति महरि सौं, अबहिं अघासुर मार्‍यौ ।
सूरदास प्रभु की यह लीला ब्रज कौ काज सँवार्‍यौ[3] ॥

---

१. 'सूरसागर' दशम स्कंध, पद ६६६ । २. 'सागर', पद ४२८ ।
३. 'सागर', पद ७३३ ।

इसी प्रकार प्रबंध-वध का वर्णन भी ग्वाल-बालों ने बड़े विस्तार से किया है—

आजु कन्हैया बहुत बच्यौ री।
खेलत रह्यौ घोष कैं बाहर, कोउ आयौ सिसु-रूप रच्यौ री॥
मिलि गयौ आइ सखा की नाईं, लै चढ़ाइ हरि कंध सच्यौ री।
गगन उड़ाइ गयौ लै स्यामहिं, आनि धरनि पर आप दच्यौ री॥
धर्म सहाय होत है जहँ तहँ, स्रम करि पूरब पुन्य पच्यौ री।
(सूर स्याम अबकैं बचि आए, ब्रज-घर-घर सुख-सिंधु मच्यौ री)[1]।

आलोचना—

सूरदास के वात्सल्य-वर्णन—बालकों की सहज प्रकृति और माता के स्वाभाविक प्रेम—का संक्षिप्त दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है। इस विषय को लेकर काव्य-रचना बहुत कम कवियों ने की है। आदि कवि वाल्मीकि के काव्य में अवश्य इसका थोड़ा-बहुत वर्णन मिलता है, पर उनके पश्चात् के संस्कृत कवियों ने इस विषय पर कलम नहीं उठायी। "भारत के कवि-सम्राट कालिदास ने 'ययौ तदीयामवलम्ब्य चङ्गुलिम्' इत्यादि सरल शब्दों में पितृ-पुत्र-भाव की नैसर्गिकता का अनोखा चित्र खींचा, परंतु यह चित्र परिष्कृत था, कलाओं के आधार पर बना था"[2]। अँगरेजी साहित्य में भी इस विषय का प्रायः अभाव है। केवल दो-चार कवियों ने ही बालकों की स्वाभाविक सरलता, सुकुमारता और निष्कपटता आदि पर मुग्ध होकर कुछ छोटी-बड़ी कविताएँ लिखी हैं। लाँगफेलो की ये पंक्तियाँ इसी प्रकार के भावोद्गार का फल हैं—

You are better than all ballads,
That ever were sung or said;
For ye are the living palms,
And all the rest are dead.

हाँ, ख्यातिप्राप्त वर्तमान विश्व-कवियों में कवींद्र रवींद्र ने वात्सल्य के कुछ चित्र अवश्य खींचे हैं। इनकी विशेषता यह है कि बालक के मनोविज्ञान का परिचय देने में ये सफल हुए हैं। उनके बालक में उस स्वभावोचित सरलता और प्रकृति-जन्य मनोहरता के दर्शन नहीं होते, जो सूर के बालकृष्ण की बाल-लीलाओं के

---

१. 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद ६०६।

२. डा० सूर्यकांत शास्त्री, 'हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास', पृष्ठ ३४१।

रूप में माता-पिता के लालसामय हृदय को मुग्ध और उल्लसित किया करती हैं। भावों की विभिन्नता और वर्णन की विशदता का भी रवींद्र के वात्सल्य-चित्रण में अभाव ही समझिए। अतः इस संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि कवींद्र का प्रयास सफल होते हुए भी सूर की समता नहीं कर सकता।

अब केवल एक तुलसीदास ही ऐसे रह जाते हैं, जिनसे सूर की तुलना की जा सकती है। परंतु वात्सल्य-वर्णन में तुलसी भी सूर के सामने नहीं ठहरते। 'मानस' में तो उनका बाल-चरित् वर्णन बहुत चलताऊ है, 'गीतावली' और 'कविता-वली' में इस कमी को दूर करने का प्रयत्न किया गया जान पड़ता है। परंतु क्या विस्तार की दृष्टि से और क्या स्वाभाविकता, सरलता और सर्वांगीणता की दृष्टि से, इस क्षेत्र में तुलसी भी सूर की समता नहीं कर पाते। वस्तुतः वात्सल्य-वर्णन में सूर विश्व-कवियों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं।

अंधकवि सूरदास के वात्सल्य-वर्णन की सब से बड़ी विशेषता यह है कि इस संबंध में छोटी-से-छोटी बात भी उसकी दृष्टि से नहीं छूटी है। कवि जानता है कि पुत्र की छोटी-छोटी बातें भी माता-पिता का मन मुग्ध कर लेती हैं। इसी से उसने बालक कृष्ण की बाल-लीला के सभी अंगों का सांगोपांग वर्णन किया है। वास्तव में यह उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण का ही फल है कि उसके काव्य में बालकों की लीलाएँ, उनके खेल, उनका लड़ना-झगड़ना, मचलना आदि के चित्र एक ओर और माता के हृदय की छोटी-से-छोटी अभिलाषा, भावना, प्रसन्नता और कामना आदि के चित्र दूसरी ओर मिलते हैं। पहली बात में उसकी तुलना तुलसी से किसी सीमा तक की भी जा सकती है, परंतु वात्सल्य के विभिन्न क्षेत्रों का उद्घाटन, तथा तत्संबंधी विभिन्न मानसिक वृत्तियों के विशद वर्णन में उनकी समता तुलसी क्या, कदाचित् कोई कवि नहीं कर सकता।

दूसरी विशेषता है वर्णन की स्वाभाविकता और लीलाओं का यथार्थ रूप में वास्तविक चित्रण। सूर के वात्सल्य-वर्णन की अन्य प्रमुख विशेताओं की ओर से यदि आँख मूँद भी ली जाय तो भी स्वाभाविक और यथातथ्य चित्रों के कारण सूर-काव्य का यह अंश चिरंतन और सार्वकालीन रहेगा। नित्यप्रति आज भी हम भोले-भाले और स्वस्थ बालकों की जिन लीलाओं पर मुग्ध होते हैं, उनका ही वर्णन हमें 'सूरसागर' में मिलता है।

तीसरी और अंतिम विशेषता है कवि की तल्लीनता। कवि स्वयं कृष्ण के

बाल-स्वरूप, बाल-स्वभाव तथा वात्सल्य-वर्णन में इतना अधिक तल्लीन हो गया जान पड़ता है कि अपनी स्थिति भूलकर कभी वह स्वयं बालक-सा भोला बन जाता है और कभी माता बनकर अत्यंत मुग्ध दृष्टि से कृष्ण की हृदयहारिणी लीलाएँ देखने लगता है। सूर-काव्य की उक्त दोनों विशेषताओं का मूल कारण यही है।

सारांश यह कि कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन भक्त-शिरोमणि सूरदास ने बड़े ही मधुर और हृदयहारी पदों में किया है। इनका सरल, स्वाभाविक और पूर्ण चित्र तो हमारा हृदय हरता ही है, माता यशोदा के मातृ-स्नेह का वात्सल्यपूर्ण सूक्ष्म वर्णन सहृदय पाठक को मुग्ध कर लेता है। कवि ने आलेख्य चित्रण में इतनी सूक्ष्मता और कुशलता दिखायी है कि पिछले लगभग चार सौ वर्षों से माता यशोदा और बालक कृष्ण ने सजीव होकर पाठक को सच्चे दृश्य-दर्शन का सा मधुर आनंद दिया है। अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वात्सल्य-वर्णन से संबंधित अंश यदि सूर-साहित्य से अलग कर दिया जाय तो महाकवि सूरदास का व्यक्तित्व अपूर्ण ही रह जायगा।

भ्रमर-गीत-प्रसंग

अपनी बाल्य और शैशवावस्था के दिन कृष्ण ने जिनके साथ बिताये थे, जिनके साथ वे खेला करते थे, नाचते-गाते थे, एक दिन कंस के बुलाने पर उन्हीं प्यारी गोपियों को छोड़कर वे मथुरा जाने पर विवश होते हैं। उनके जाते ही सरलहृदया गोपियों की दशा बड़ी दयनीय हो जाती है। कृष्ण ने उनको प्रेम करना सिखलाया था, उन्हें प्रेम करने का अवसर दिया था, और प्रेम करने को उत्साहित किया था। गोपियों ने प्रिय कृष्ण के साथ रास-लीला अवश्य की, परंतु इतने से उनकी प्रेम-वृत्ति को संतोष न हुआ—इससे तो उनकी बढ़ती हुई प्रेमाग्नि में घी-सा पड़ा। इसी प्रकार यमुनातट के शीतल कुंजों का कृष्ण ने उन्हें मार्ग दिखाया; दान-लीला-प्रसंग से भी उनके प्रेम को प्रोत्साहन-मात्र मिला। इसी समय जब उनके मन में तरह-तरह की उमंगें उठ रही थीं, भविष्य के संबंध में अत्यंत मनोहर और लुभावने स्वप्न वे देख रही थीं, तभी उनकी समस्त आशाओं का केंद्र, उनका प्यारा कृष्ण, उन्हें रोती-रोती बिलखती छोड़कर मथुरा चला गया; जाने पर विवश हुआ। फलतः गोपियां का प्रेम-पाठ अधूरा रह गया, उन्हें तत्संबंधी पूर्ण अनुभव न हो सका। उनके मन की मन में ही रह गयी; वे मन-मसोसकर रह गयीं। ऐसा मालूम होने लगा जैसे उनके शरीर का रक्त कोई खींच ले गया हो। जीवन उन्हें खोखला लगने लगा। दिन-रात अनमनी-सी होकर वे मथुरा की ओर ताका करती थीं। अब उन्हें जीवित रखनेवाली कृष्ण के लौट आने की आशा थी। नंद जी उनके साथ मथुरा गये थे और व्रजवासियों को यह सांत्वना दे गये थे कि मैं शीघ्र ही कृष्ण के साथ वापस आ जाऊँगा। गोपियों के जीवन का सहारा यही आशा थी। नित्यप्रति कृष्ण के आने की राह उत्सुकता से देखी जाने लगी। आते-जाते सबकी दृष्टि मथुरा-पथ की ओर ही लगी रहती। गोप-बालक पेड़ों पर चढ़कर दूर तक उसी ओर देखा करते; कभी

मीलों तक यह देखने दौड़े चले जाते कि कृष्ण आ तो नहीं रहे हैं। परंतु जब कृष्ण के आने की सूचना न मिलती, तो बेचारे निराश, खिन्न मुख लौट आते।

अंत में एक दिन नंदजी लौट आये। गोपी-ग्वाल सभी उनके आने की बात सुनते ही कृष्ण-दर्शन-लालसा से दौड़ पड़े। परंतु नंदजी तो अकेले लौटे थे। यह देखते ही व्रजवासियों के धैर्य का बाँध टूट गया, उनकी आशा पर पानी पड़ गया, उनकी सारी उमंगें नष्ट हो गयीं। गोपियों के लिए तो अब जीवन में कोई आकर्षण ही न रहा। कृष्ण की प्रिय स्मृति में अब वे घुलने लगीं। उनके सामने अब कृष्ण की मूर्ति तो न थी; उनकी मधुर स्मृति ही साकार बनकर उन्हें लुभाने लगी। घर में, वन में, सर्वत्र कृष्ण के साथ वे घूमी थीं, खेली थीं। इन स्थानों में उन्हें अब भी जाना पड़ता था। पहले यहाँ वे प्रेम की मधुर माधुरी का पान करती थीं, अब वे अस्त-व्यस्त स्थिति में पागलों सी घूमने लगीं। घर उन्हें काटने दौड़ता था, वन सायँ-सायँ करता था। मधुवन, करील-कुंज, वंशीवट, सभी रम्य रंगस्थल उनके लिए दुखदायी थे। प्रिय कृष्ण के पास उन्होंने संदेश भेजने आरंभ किये। माता ने भी कुशल-समाचार मँगाया; एक बार प्यारा और भोला मुख दिखला जाने को कहा। संदेशों की संख्या और पूछनेवालों का ताँता इतना बढ़ गया कि परेशान होकर पथिकों ने वह मार्ग ही छोड़ दिया। गोपियों ने पवन, मेघ, कोयल से संदेश ले जाने की प्रार्थना की; पर सब व्यर्थ। कृष्ण का उन्हें कोई संदेश नहीं मिला। इससे जैसे उनका हृदय फट गया; रोते-रोते आँखों के आँसू सूख गये; शरीर क्षीण हो गया; कांति नष्ट हो गयी। सारा व्रजमंडल शोक से कातर हो गया। जड़ प्रकृति भी इस दुख को न सह सकी; यहाँ तक कि यमुना तो उनके वियोग में जलकर नीली हो गयी।

यशोदा-विलाप—

हिंदी-कवियों ने कृष्ण-वियोग-जन्य दुख से दुखी गोपियों के उद्‌गारों को खूब बिस्तार दिया है; परंतु माता-पिता की दयनीय दशा देखकर भी वे उसे भूल-से गये हैं। सूरदास ने भी इने-गिने पद लिखकर ही इस प्रसंग को समाप्त कर दिया है। संभव है, इसका कारण मधुर-भाव की उपासना-संबंधी उनका ध्येय हो; परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसा करके उन्होंने काव्य का एक अत्यंत मार्मिक विषय खो दिया। आधुनिक कवियों में पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय

'हरिऔध' ने 'प्रिय-प्रवास' नामक अपने प्रबंधकाव्य में इस विषय का यथोचित विस्तृत वर्णन करके अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। इनका 'यशोदा-विलाप' हिंदी-साहित्य की अनूठी चीज है।

कृष्ण-दशा—

अपना प्यारा व्रज छोड़कर, अपने साथ खेली हुई सुंदर गोपियों को छोड़कर और जिन माता-पिता की स्नेहमयी गोद में वे खेले थे, जिन्हें तरह-तरह की बाल-क्रीड़ाओं से मुग्ध किया था, स्वार्गोपम सुख दिया था, उन्हीं को छोड़कर कृष्ण को मथुरा जाना पड़ा था। उनके पास प्रेमी हृदय था। माता-पिता से उन्हें स्वाभाविक प्रेम था; साथ खेली हुई व्रजबालाओं से उन्हें मधुर और स्वाभाविक प्रेम था; जिन गैयों को वे दिन-रात चराया करते थे, जिनका दूध वे जंगल में थन में मुँह लगाकर पिया करते थे, जिनकी पीठ सहलाने में उन्हें बड़ा आनंद आता था, उन मूक पशुओं से भी उन्हें बड़ा प्रेम था और जिस व्रजभूमि पर लोट-लोटकर वे बड़े हुए थे उससे भी उन्हें सहज प्रेम था। ऐसा प्रेमी मथुरा जैसे सुंदर और रमणीक नगर में जाकर राज्य और समाज के कुचक्रों में तो भले ही फँस गया हो, परंतु व्रज की प्रत्येक स्मृति उसका हृदय अवश्य सालती रही होगी। कई दिन तो राजधानी में उसका मन ही न लगा होगा।

कृष्ण और ऊधव—

मथुरा में रहते हुए कृष्ण दिन भर सोचते रहते थे—माता-पिता की, प्यारे ग्वाल-बालों की क्या दशा होगी! मेरे वियोग में उन्हें कितना दुख होगा! न जाने उनके दिन कैसे बीते रहे होंगे! रोज वे आना चाहते थे, परंतु आ न सके। दिन-दिन परिस्थिति और समस्याएँ जटिल ही होती जाती थीं। धीरे-धीरे उन्हें जान पड़ने लगा कि कम से कम अभी तो उनका व्रज लौटना असंभव ही है। इसी बीच में कुब्जा नाम की एक दासी ने उनकी बड़ी सेवा की। उससे वे प्रसन्न भी हो गये। इस प्रसन्नता का समाचार कृष्ण के प्रेम का संवाद बनकर गोपियों के पास पहुँचा। कृष्ण को इसका कुछ पता न था।

अंत में व्रजवासियों को सांत्वना और संतोष देने के लिए श्रीकृष्ण ने ऊधव

के द्वारा संदेश भेजने का निश्चय किया। प्रसंग यह भी है कि ऊधव को अपने ज्ञान का बड़ा गर्व था। कृष्ण को गोपियों के, अपने मित्रों के और माता-पिता के वियोग में दुखी देखकर वे कभी-कभी हँस भी दिया करते थे। गोपियों की बात सुनकर भी उन्हें हँसी आयी। उन्होंने बड़े गर्व से कहा—मैं उन्हें निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देकर मोह-ममता से मुक्त कर सकता हूँ। ऐसे शुष्क हृदय व्यक्ति के द्वारा माता-पिता और गोपियों के पास कृष्ण ने अपना संदेश कदाचित् इसी उद्देश्य से भेजा होगा कि यह प्रेम और ममता की महिमा समझ जाय; इसे पता हो जाय कि सांसारिक ममता और मोह, निस्वार्थ भक्ति और प्रेम का बंधन कितना शक्तिशाली होता है।

ऊधव का व्रज पहुँचना—

ब्रह्मज्ञान, अद्वैतवाद और योग की शिक्षा देने, मन में तरह-तरह के तर्क-कुतर्क करते हुए ऊधव व्रज में पहुँचे। दूर से उनका रथ आता देखकर व्रजवासियों ने समझा—कृष्ण आ गये। उमड़ती प्रसन्नता से हाथ का काम छोड़कर सब उसी ओर दौड़े; पर कृष्ण को न पाकर वे खिन्न हुए। कवि जैसे इस खिन्नता से यह आभास दे देता है कि ऊधव से मिलकर व्रजवासियों को आगे भी खिन्नता ही होगी। ऊधव को कृष्ण का मित्र जानकर सबने बड़ी आवभगत की। सबको आशा थी कि ये प्रिय कृष्ण का मधुर और शांतिदायक संदेश लाये होंगे। इससे ऊधव का और भी अधिक सम्मान हुआ।

ऊधव-गोपी-संवाद—

माता यशोदा और पिता नंद को सांत्वना देकर ऊधव गोपियों से मिलते हैं। व्रजबालाओं के मन में उस समय तरह-तरह के विचार उठ रहे थे। कोई कृष्ण की निष्ठुरता के विषय में सोच रही थी, कोई सोच रही थी कि मथुरा जाकर वे हमें भूल ही गये। वहाँ की नागरिक स्त्रियों के सामने उन्हें हमारी क्या चिंता होगी? किसी का अनुमान था कि ऊधव को भेजकर कृष्ण ने क्षमा माँगी होगी, और कोई विचारती थी कि कृष्ण ने अपने आने का समाचार इनके द्वारा भेजा होगा। अतः वे ऊधव से बड़े उल्लास से मिलती हैं। कुशल-प्रश्न के पश्चात् गोपियाँ अपनी प्रीति का परिचय और कृष्ण की निष्ठुरता के लिए उन्हें उलाहना

देना चाहती हैं। वे अपनी दीन दशा का वर्णन करती हैं, स्वयं ऊधव भी कृष्ण-वियोग में दुखी गोपियों की दशा देखते-समझते हैं। प्रिय-मित्र के रूप में ऊधव को पाकर गोपियों के हृदय में सोती हुई स्मृति जैसे जाग जाती है, हृदय के उद्‌गार उमड़ आते हैं, आँसू बहने लगते हैं। अपने विषय में वे जो कुछ कहना चाहती हैं, कह नहीं पातीं। गोपियों की इस दयनीय दशा का दिग्दर्शन कराना 'भ्रमर-गीत' का प्रथम उद्देश्य है। इस विषय का प्रतिपादन भी सूरदास तथा अन्य कवियों ने बड़ी कुशलता से किया है। 'भ्रमर-गीत' के अनेक पदों में गोपियों की विरह-जन्य कातर दशा का करुण और हृदय-स्पर्शी चित्र खींचा गया है। सहृदय व्यक्ति उसे पढ़कर अपने आँसू नहीं रोक सकते। इसके पश्चात् ऊधव-गोपी-संवाद आरंभ होता है। काव्य की दृष्टि से कृष्ण-काव्य का यह अंश सबसे विस्तृत और सुंदर है।

विरह में व्याकुल गोपियों के लिए बहुत समय पश्चात् सुख का दिन आया है। कृष्ण के आने के विषय में तो वे निराश ही हो चुकी हैं, परंतु एक बार उनका संदेश पाने की बड़ी इच्छा है। कृष्ण के पास उन्होंने इतने संदेश भेजे थे कि मधुवन के सब कुएँ भर गये होंगे। परंतु इनका कोई उत्तर कृष्ण की ओर से अब तक नहीं मिला था। आज ऐसा शुभ दिवस आया है कि संदेशों का उत्तर ही नहीं, कृष्ण के प्रिय मित्र उनके पास आये हैं। इतने समय के पश्चात् आज उन्हें हँसने-बोलने का अवसर मिला है। ऊधव से वे हास-परिहास तक करती हैं। प्रिय-मित्र से परदा ही क्या? फिर ऊधव तो रूप-रंग में, वसन-भूषण में भी कृष्ण के समान ही हैं। शुष्क ब्रह्मज्ञानियों के पास इस हास-परिहास और विनोद का उत्तर नहीं है। उत्तर वे दें भी क्या! रसिकता से वे भागते हैं, प्रेम से वे कोसों दूर हैं। ऐसी दशा में गोपियों के प्रेम-विषयक विनोद को ऊधव ने उनका प्रलाप ही समझा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। हक्का-बक्का से वे गोपियों का मुँह ताकने लगे।

हाँ, जब गोपियों ने अपनी विरह-दशा का वर्णन करना आरंभ किया; कृष्ण-वियोग में किस तरह तड़प-तड़प कर उन्होंने जीवन का इतना समय काटा है, कृष्ण से वे कितना प्रेम करती हैं, कृष्ण के न आने से उनकी दशा कितनी दयनीय हो गयी है, उनके दर्शनों की इन्हें कितनी लालसा है आदि अनेकानेक बातें इन्होंने बतलायीं, तब ऊधव को इन्हें समझाने और अपनी बात कहने का अवसर मिल गया। उन्होंने गोपियों को ज्ञान और योग का उपदेश दिया। ऊधव

के शुष्क ज्ञान और श्रम-साध्य योग की बातें गोपियों की समझ में नहीं आयीं। रसिक-प्रवर कृष्ण के प्रिय सखा के मुख से ऐसा सुनने की उन्हें आशा भी नहीं थी। अतः आरंभ में तो वे यही नहीं समझ पायीं कि वे जाग रही हैं या स्वप्न देख रही हैं; परंतु बार-बार ऊधवं ने जब वे ही बातें दोहरायीं तब उन्हें मालूम हो जाता है कि ऊधव का निर्माण किस तत्व से हुआ है। प्रिय-सखा की हृदयहीनता का परिचय पाकर गोपियों को बड़ी निराशा होती है। वे ऊधव के ज्ञान और योग का खंडन करती हैं और समझाती हैं कि तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म से हमारा काम नहीं चल सकता ; हमें उसकी तनिक भी चाह नहीं है, हम अपने प्रिय उस कृष्ण को चाहती हैं जिसके साथ हम खेल चुकी हैं, जिससे हमारा 'लरिकाई का प्रेम है' और जो प्रेम-पूर्ण व्यवहारों का उत्तर देने में कुशल है। अपनी बातों पर ऊधव को ध्यान न देते और अपनी ही अलापते देख गोपियों को स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे निर्गुण ब्रह्म का प्रचार करने ही व्रज में आये हैं। अब वे ऊधव की हँसी उड़ाने लगती हैं।

भ्रमर-गीत—

इसी समय एक भ्रमर उधर से उड़ता हुआ निकलता है। किंवदंती है कि यह भ्रमर मथुरा की ओर से आता और राधा के चरण-कमलों पर मँडराने लगता है। सब गोपियों का ध्यान स्वभावतः उसकी ओर आकर्षित हो गया। इधर ऊधव अपनी तरंग में ज्ञानोपदेश दिये जा रहे हैं ; उधर भ्रमर भ्रम में पड़ा गुनगुनाता चला जा रहा है। रूप-रंग तो दोनों का समान है ही ; हठधर्मीपन भी मिल जाता है। इसलिए गोपियाँ अब भ्रमर को संबोधित करके उत्तर देना आरंभ करती है। गोपियाँ बातें सुना तो रही हैं ऊधव को, पर कह रही हैं भ्रमर से। गोपियों की इन्हीं उक्तियों को 'भ्रमरगीत' नाम दिया गया है। इस प्रसंग में गोपियों ने ऊधव क खूब आड़े हाथों लिया है—खरी-खोटी, उलटी-सीधी सभी सुनायी हैं। संबोधन वे कभी तो सीधे ऊधव को करती हैं और कभी भ्रमर को। यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिए कि दोनों प्रकार के संबोधन सार्थक हैं। जहाँ गोपियों ने सीधी-सादी साधारण व्यंग्य की बात कही है वहाँ प्रायः ऊधव को संबोधित किया है ; परंतु जहाँ व्यंग्य कुछ कटु हो गया है, प्रसंगवश आवेश में कोई कटूक्ति उनके मुख से निकल गयी है, वहाँ प्रियवर कृष्ण के मित्र की सम्मान-रक्षा के लिए भ्रमर को संबोधित किया गया है।

गोपियों की उक्ति का सार यह है कि अपने निर्गुण ब्रह्म के विषय में जो तुम तरह-तरह की बातें बना कर कह रहे हो उन्हें सुनना कौन चाहता है?

उन पर विश्वास कौन करेगा ? अविश्वास का मूल कारण यह है कि तुम अपनी बातों से ईश्वर के उस सगुण रूप को लोक से छिपाना चाहते हो जो मनुष्यमात्र आदिकाल से अपने चारो ओर प्रत्यक्ष देखता रहा है । अतः तुम्हारा यह प्रयत्न वैसा ही हास्यास्पद है जैसा तिनके की ओट में सुमेरु को छिपाने का प्रयत्न । अपने इस उद्योग में तुम कभी सफल नहीं हो सकते । कहीं तिनके की ओट में पहाड़ छिप सकता है ?

ऊधव की पराजय—

गोपियों के प्रेम के सामने ऊधव को झुकना ही पड़ता है । यह पराजय दो रूपों में हुई । पहली बात तो यह थी कि ऊधव अपने निर्गुण ब्रह्म की साधना के लिए गोपियों को तैयार न कर सके—तैयार करना तो दूर की बात, गोपियों को पूरी बात सुनने को शांत भी न रख सके—और दूसरी यह कि उन्होंने स्वयं सगुण की महिमा स्वीकार करते हुए कहा—'हौं भयौं सगुन को चेरौ ।' उन्हें अब ईश्वर की निर्गुण सत्ता और अद्वैत ब्रह्म की साधना पर पूर्ववत् विश्वास न रह गया । अपने ज्ञान और पांडित्य पर भी उन्हें जो गर्व था वह जाता रहा । वे गोपियों की सच्ची भक्ति और प्रीति देखकर प्रभावित होते हैं और प्रेम तथा भक्ति को ज्ञान और योग से बढ़कर समझने लगते हैं ।

ऊधव और कृष्ण—

गोपियों की सच्ची प्रीति और उत्कट भक्ति की सराहना करते ऊधव व्रज से लौटे । उनका गर्व टूट गया, उनका अभिमान मिट गया । कृष्ण ने उन्हें गोपियों में पास प्रेम और भक्ति की महिमा समझने के लिए ही भेजा था । ऊधव के विचारों में अब कृष्ण की इच्छानुसार ही परिवर्तन हो गया । व्रज से लौट, कृष्ण के पास जाकर जो शब्द ऊधव ने कहे हैं उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है ।

कृष्णोद्गार—

ऊधव के भरे हुए हृदय की गद्गद् कंठ से निकली सहज प्रेमयुक्त बातें सुनकर कृष्ण का सूखा घाव जैसे हरा हो गया । प्रेम-प्रवर कृष्ण के मन में

बाल्यकाल की मनोरम स्मृतियाँ जाग उठीं। स्नेह और वात्सल्यमयी माता यशोदा और पिता नंद, प्रेम में विभोर सुंदरी व्रजबालाएँ, उन्हीं पर गर्व और मान करनेवाली सुकुमार प्रेममयी राधा, प्यारे ग्वालबाल—सभी के निष्कपट, सात्विक और सरल व्यवहार के मार्मिक दृश्य उनके सामने नाचने लगे। प्यारी गैयों और हरीभरी यमुनातटवर्ती कुंजों का भी स्मरण उन्हें हो आया। उनका हृदय इसी समय मूक स्वर से रो उठा। सूर द्वारा 'ऊधव मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं' से आरंभ होनेवाले पद में किया गया उनकी इस दशा का वर्णन कितना मार्मिक है, सहृदय ही समझ सकते हैं।

समीक्षा—

काव्य का विषय कथा के मार्मिक स्थल होते हैं। गीत-काव्य अथवा मुक्तक छंदों के रचयिता को तो मार्मिक स्थलों का चयन करने में विशेष सतर्क रहना ही पड़ता है; प्रबंध-काव्यकार की प्रतिभा की परख, कला की कुशलता, वर्णन का चमत्कार और उसकी सहृदयता का परिचय भी ऐसे स्थलों पर मिलता है। आशय यह कि गीत-काव्य-रचयिता के लिए ये स्थल मनोरम वाटिका के रम्य जलाशय और सुंदर सरोवर हैं, तो प्रबंध-काव्यकार के लिए विस्तृत और विविध गति से प्रवाहित काव्य-धारा के तटवर्ती नैसर्गिक छटावाले हृदयहारी कुंज हैं, तो कहीं वास्तु-कला के मानवी विकास के परिचायक मनोहर शोभावाले घाट और निकटवर्ती मंदिर। कुंजों, घाटों और मंदिरों का अस्तित्व जलधारा से भिन्न होते हुए भी उससे घनिष्ठ संबंध रखता है। कुंजों की मनोहरता और रमणीकता का मूल कारण तो उनको सींचनेवाली धारा है ही, घाटों-मंदिरों को भी यह ऐसी शोभा प्रदान करती है जो धारा के समीप न होने पर उनमें आ ही नहीं सकती। सौंदर्य का उपासक मनुष्य का मन इन रमणीक स्थलों को देखकर मुग्ध हो जाता है। अतः जिस धारा के तट पर ऐसे स्थलों की संख्या जितनी अधिक होगी, मानव-जाति उसका उतना ही अधिक सम्मान करेगी। इसी से कवि उसी कथा-धारा को अपनाने का सर्वदा प्रयत्न करते हैं, जिसमें उन्हें अधिक से अधिक मार्मिक और प्रभावोत्पादक स्थल मिल सकें। कृष्ण-कथा में ऐसे स्थलों की संख्या बहुत अधिक है। पौराणिक कथाओं को अपने काव्य का विषय बनानेवाले कवियों में कृष्ण-काव्य-धारा के कवियों की बहुत बड़ी संख्या होने का यही कारण है।

कृष्ण-कथा में सबसे मार्मिक स्थल उनका अपनी किशोरावस्था में जन्मभूमि

छोड़कर मथुरा जाना है। इस अप्रिय घटना से व्रज में सर्वत्र शोक छा जाता है। अपने प्रिय पुत्र के भावी जीवन के संबंध में माता-पिता से हृदयों में न जाने कितनी कोमल और मधुर आशाएँ थीं। अपने प्रिय सहचर को लेकर व्रज के गोप और गोपियाँ न जाने कितने मनोहर सुख-स्वप्न देखा करती थीं! अपने प्रिय राजकुमार की भावी उन्नति के विषय में व्रज के समस्त निवासी न जाने कितनी लुभावनी कल्पनाएँ किया करते थे! इस अचानक वज्रपात ने माता-पिता की कोमल और मधुर आशाओं, गोप-गोपियों के मनोहर सुख-स्वप्नों और व्रजवासियों की लुभावनी कल्पनाओं का अंत कर दिया। कृष्ण व्रज-सरिता के जल थे, व्रज-शरीर के प्राण थे। उनके मथुरा जाते ही व्रज की दशा जल-हीन सरिता और प्राणहीन-शरीर सी हो गयी। व्रज की समस्त शोभा, व्रज की समस्त श्री, व्रज का समस्त सुख और व्रज के समस्त सुखों का साधन नष्ट हो गया और विवशता की हथकड़ी और बेड़ी में जकड़े व्रजवासी खड़े अपनी आँखों से यह सब देखते रहे। किसी भी देश की किसी भी भूमि ने कदाचित् ऐसा सुंदर, मूल्यवान और सुखद रत्न कभी न खोया होगा; 'प्रियप्रवास' का कवि कहता है—

धाता द्वारा सृजित जग में ही धरा बीच आके।
पाके खोये रतन कितने प्राणियों ने अनेकों॥
जैसा प्यारा रतन व्रज ने हाथ से आज खोया।
पाके ऐसा रतन अब लौं है न खोया किसी ने[1]॥

ऐसा अमूल्य रत्न खोकर व्रज में निराशा की जो रात आयी, उसका फिर अंत ही न हुआ; व्रजवासियों का आशा-रवि जो एक बार अस्त हुआ, तो फिर उदय ही न हुआ। माता-पिता के, गोप-गोपियों के, नगर-निवासियों के जीवन के शेष दिन रोते बीते, उनके दिन फिर न फिरे—

व्रज-धरा-जन के उर आज जो
विरह-जात लगी यह कालिमा।
तनिक धो न सका उसको कभी
नयन का बहु वारि-प्रवाह भी॥

सुखद थे बहु जो जन के लिए
फिर नहीं व्रज के वे दिन भी फिरे।

---

१. पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', 'प्रियप्रवास' ४—८०।

मलिनता न समुज्ज्वलता हुई
दुख-निशा न हुई सुख की निशा[1] ॥

कृष्ण-कथा का सबसे मार्मिक स्थल यही है। हिंदी कवियों ने जिस क्षण से कृष्ण की कथा को अपने काव्य का विषय बनाया, उसी क्षण से उनकी दृष्टि उसके इस मार्मिक स्थल पर पड़ी। कथा के इस अंग से वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने कृष्ण की जीवन-गाथा का वर्णन किया चाहे न किया, इस विषय पर काव्य-रचना करना वे न भूले—कृष्ण-काव्य-धारा के अनेक कवियों का तो यही प्रिय विषय हो गया। यह कथा श्रीमद्भागवत के ४६वें और ४७वें अध्याय में मिलती है। हिंदी में इस विषय की विशद रचना सबसे पहले महात्मा सूरदास ने की। वल्लभ संप्रदाय में 'भागवत' का महत्व बहुत अधिक है। स्वयं महाप्रभु वल्लभाचार्य नित्यप्रति उसका पारायण किया करते थे। 'चौरासी वार्ता' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महाप्रभु ने ही अपने प्रिय शिष्य सूरदास को, उसकी कवि-प्रतिभा से परिचित होकर, 'भागवत' की कथा और उसका रहस्य समझा दिया था। इसके पश्चात् कवि ने 'सूरसागर' के सर्वश्रेष्ठ अंश 'भ्रमरगीत' की रचना में हाथ लगाया।

सूरदास के अतिरिक्त अनेक हिंदी कवियों ने इस विषय को लेकर सुंदर काव्यों की रचना की। इनमें मुख्य के नाम ये हैं—नंददास, हितवृंदावनदास, प्रागन कवि, बख्सी हंसराज, रीवाँनरेश रघुराजसिंह, सत्यनारायण, अयोध्यासिंह उपाध्याय और जगन्नादास 'रत्नाकर'। सूरदास की रचना इन सभी कवियों से परिमाण में अधिक तथा कला और भावपक्ष की दृष्टि से सुंदर है।

सिद्धांत और महत्व—

'भ्रमरगीत' के ऊधव-गोपी-संवाद में सूर-सिद्धांत की झलक मिलती है। हम देखते हैं कि निर्गुण ब्रह्म की ज्ञानसापेक्ष-साधना की अपेक्षा सूरदास प्रेम-परक साकार उपासना को श्रेष्ठ समझते हैं। मतिमान, अध्ययनशील प्रकृतिवाले व्यक्तियों के मन में जो द्वंद्व होता है, उसकी मनोवैज्ञानिक विवेचना हमें 'भ्रमरगीत' में मिलती है। सूर के समय में विभिन्न संप्रदाय धर्म-विषयक नये नये सिद्धांतों का प्रचार कर रहे थे। कोई 'अहं ब्रह्मास्मि' के मनमाने अर्थ लगा रहा था, कोई

---

१. पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', 'प्रियप्रवास' २—६३—६४।

'अलख-अलख' चिल्लाता फिरता था, तो कोई अंधविश्वास और पाखंड का ही प्रचारक बना हुआ था। ऐसे लोगों को तुलसीदास ने कई बार फटकारा है। समाज में बढ़ती हुई इस धार्मिक उच्छृंखलता को रोकने के लिए सूरदास ने दूसरे मार्ग का अवलंबन किया। उन्होंने ज्ञानवाद, अद्वैतवाद आदि के प्रचारकों का खंडानात्मक विरोध न करके यह अच्छा समझा कि जनता को स्वयं अपने लिए मार्ग निर्धारित करने का अवसर दिया जाय। ऊधव के विचार-परिवर्तन द्वारा उन्होंने जैसे संकेत किया है कि साधारण जनता निर्गुण और निराकार ब्रह्म की उपासना नहीं करना चाहती; अपने तोष के लिए उसे ऐसा ब्रह्म चाहिए, जो साकार हो, सर्वगुण-संपन्न हो और जिसके पास ऐसा प्रेमी हृदय हो, जो प्रेम के प्रत्युत्तर में प्रेम भी कर सके। कृष्ण, उनकी दृष्टि में, शील और सौंदर्य के ऐसे ही निधान थे। वे प्रेम के प्रतीक हैं और मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षियों तक से प्रेम करनेवाले हैं। अतः गोपियों की तरह तन-मन से कृष्ण की भक्ति करना सूर का मूल सिद्धांत जान पड़ता है। ऐसे कृष्ण के प्रेम में लीन हो जाने पर मनुष्य को, गोपियों की तरह, केवल उन्हीं का ध्यान रह जाता है; सर्वत्र कृष्ण ही कृष्ण दिखायी देने लगते हैं। ज्यों-ज्यों मनुष्य इस स्थिति की ओर अग्रसर होता जाता है—कृष्ण के प्रति उसकी प्रीति और लगन तीव्रतर होती जाती है, त्यों-त्यों वह संसार के बंधनों से मुक्त होता जाता है—कम-से-कम संसार की वासना और तज्जन्य भौतिक सुख-कामना से उसका चित अवश्य हट जाता है। योग, भक्ति, ज्ञान और कर्मकांड, तीनों का उद्देश्य, स्थूल रूप से, अपने मन को इसी स्थिति तक पहुँचाना है; केवल इनके मार्ग भिन्न हैं। भक्ति और प्रेम द्वारा जब सरलता से मनुष्य इस स्थिति तक पहुँच सकता है—'सर्वत्र सर्वदा ब्रह्म की अनन्यता का अनुभव' कर सकता है—तब योग की कष्टसाध्य साधना और कर्म का अप्रिय झंझट तथा कष्ट क्यों सहा जाय? साधारण जनता के लिए इन्हें असाध्य समझकर ही निर्गुण और निराकार ब्रह्म की उपासना को स्वीकार करते हुए भी सूरदास ने उसे नीरस और अग्राह्य प्रमाणित किया है। उनकी सम्मति में, सगुण भक्ति ही अपेक्षाकृत हृदयग्राही है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि सूरदास निर्गुण ब्रह्म अथवा उसकी उपासना के विरोधी थे। वास्तव में योग और ज्ञान की अपेक्षा भक्ति और प्रीति की महत्ता सिद्ध करने से सूर का उद्देश्य केवल इतना था कि ये जनता के लिए सरल, सरस और साध्य हैं। सिद्धांत-रूप में उन्होंने ज्ञान और योग का विरोध करने की चेष्टा कहीं नहीं की है।

निर्गुणोपासना सरल नहीं होती। जिस ईश्वर का कोई रूप, कोई रंग, कोई

गुण नहीं है, जो अज्ञेय होने के साथ-साथ शून्य ही है, उसकी उपासना कैसे की जा सकती है? निर्गुण और निराकारोपासना के प्रचारकों ने स्वयं इस कठिनाई का अनुभव किया है। फलस्वरूप अपने निर्गुण ब्रह्म में उन्हें सगुण के गुणों का आरोप तक करना पड़ा है। 'भ्रमरगीत' में सूर ने निर्गुणोपासना का जो विरोध किया है, उसका कारण यही है। उन्होंने 'सूरसागर' के आरंभ में ही लिखा है—

अबिगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूँगैं मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै।
परम स्वाद सबही सुनिरंतर अमित तोष उपजावै।
मन बानी कौ अगम-अगोचर, सो जानै जो पावै।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगुति बिनु निरालंब कित धावै।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातैं सूर सगुन पद गावै[1]।

तात्पर्य यह कि अज्ञेय के विषय में मनुष्य वैसे ही कुछ नहीं कह पाता, जैसे गूँगा मीठे फल का आनंद केवल अनुभव करके रह जाता है, प्रकट नहीं कह सकता। जो निर्गुण ब्रह्म असीम आनंद देता है, जो मन के लिए अगम है तथा जिसके विषय में वाणी भी कुछ नहीं कह पाती, उसको इस संसार में केवल वे ही जानते हैं, जिन्होंने उसे पा लिया है, उसका सान्निध्य प्राप्त कर लिया है। साधारणतः मानव का मन ब्रह्म के रूप, रंग, गुण, संबंध, स्वभाव आदि के विषय में कुछ परिचय अथवा संकेतात्मक आधार न पाकर घबरा जाता है; वह उसे अगम समझ बैठता है। इसी से सूर ईश्वर की उन लीलाओं का वर्णन करते हैं जो उसने सगुण रूप में की थीं। स्पष्ट है कि सूर निर्गुण ब्रह्म पर अविश्वास तो नहीं करते थे, पर उसे जन-साधारण के लिए अगम अवश्य समझते थे। इसी से उन्होंने निर्गुण और निराकारोपासना का उपदेश देनेवाले ऊधव को सगुण रूप की भक्ति करनेवाली गोपियों द्वारा पराजित कराया है।

वैष्णवों के अनुसार जीवात्मा की उत्कट अभिलाषा परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करने की रहती है; वह आत्म-समर्पण करके ईश्वर-संयोग-सुख प्राप्त करना चाहती है। जीव और परमात्मा के बीच में माया का आवरण है। इसके हटने पर ही ईश्वर से संयोगात्मक साक्षात्कार हो सकता है। परंतु वैष्णव भक्त इससे संतुष्ट नहीं होता; अद्वैतवादियों की तरह वह परमात्मा के साथ एकीभूत होने की

---

१. 'सूरसागर', प्रथम स्कंध, पद २।

आकांक्षा नहीं रखता। उसकी दृष्टि में ईश्वर पूर्ण चैतन्य है; परंतु अज्ञान और माया के कारण जीव का परमात्मा से साक्षात्कार नहीं होता। वैष्णव भक्त की कामना रहती है कि माया का यह आवरण तो ज्यों का त्यों बना रहे—ईश्वर और जीव अपने अपने रूपों में रहें—और तब वह शुद्ध चैतन्य ईश्वर के साक्षात्कार की आनंदानुभूति में मग्न हो जाय। ज्ञानी और योगी को इस आनंदानुभूति के लिए प्रयत्न करना पड़ता है; परंतु भक्त सहज ही इसमें तल्लीन हो जाता है। ऐसे सहज, सुलभ सुख के राजमार्ग पर न चलकर ऊबड़-खाबड़ पगडंडियों पर चलना सूर को अनुचित ही प्रतीत होता है और यह ठीक भी है।

'भ्रमरगीत' काव्यकला की दृष्टि से 'सूरसागर' का सर्वश्रेष्ठ अंश है। उसे हम कवि की रचनात्मक प्रतिभा की सर्वोत्तम देन कह सकते हैं। इसमें विप्रलंभ शृंगार की अपूर्व रस-धार प्रवाहित है। भक्तों के लिए 'भ्रमरगीत' का मूल्य उसमें प्रतिपादित कवि के भक्ति और प्रेम-संबंधी सिद्धांतों के कारण है। काव्य-प्रेमियों और रसिकों के लिए इसका विरह-वर्णन और इसकी चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ बड़े मूल्य की हैं। सृष्टि के आदि से नर-नारियों में परस्पर एक नैसर्गिक आकर्षण रहा है। अवस्था-विशेष पर पहुँचकर पुरुष, स्त्री की ओर, और स्त्री, पुरुष की ओर आकर्षित होने लगती है। इस प्रबल आवेग पर नियंत्रण करना एक असंभव-सी बात है और अस्वाभाविक भी। सूरदास इसे समझते थे। कौमार्यावस्था साथ-साथ बितानेवाली गोपियाँ, कृष्ण से और कृष्ण, गोपियों से प्रेम करने लगते हैं। 'भ्रमरगीत' में कवि ने इस प्रेमपूर्ण प्रबल आकर्षण का अत्यंत स्वाभाविक और सुंदर चित्र खींचा है। इस चित्रण में सूरदास ने बड़ी कुशलता दिखलायी है। नायक-नायिका का बाह्य सौंदर्य पारस्परिक प्रीति का प्रथम कारण होता है। सूर ने इसका वर्णन सविस्तार किया है। प्रीति के पश्चात् मिलन की उत्कंठा आदि आवेगपूर्ण मनोभावों की विवेचना भी सूर ने बड़ी सहृदयता से की है। इन्हीं सब कारणों से 'सूर-कव्य' का 'भ्रमरगीत' अंश हिंदी साहित्य का सुंदर और बहुमूल्य रत्न समझा जाता है।

तुलसी का राम-रूप-वर्णन

सुंदर रूप का प्रभाव मानव पर ही नहीं, पशु-पक्षियों तक पर बहुत अधिक पड़ता है। किसी के शील, स्वभाव और चरित्र के प्रति श्रद्धा का भाव हमारे मन में तभी उत्पन्न हो सकता है जब हम अथवा अन्य व्यक्ति उसके संपर्क में आयें, परंतु सौंदर्य में इतना आकर्षण होता है कि केवल एक बार सुंदर छवि देखते ही मन में उसके प्रति आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाता है। यही कारण है कि सभी कवि अपने-अपने आदर्श और रुचि के अनुसार नायक-नायिकाओं को सुंदरतम रूप प्रदान करते हैं।

तुलसी के राम परब्रह्म का अवतार थे और परम ऐश्वर्यवान महाराज के यहाँ उत्पन्न हुए थे। उनके सौंदर्य का क्या कहना! दूसरे, अपने नायक के प्रति तुलसी के हृदय में बड़े सम्मान का भाव था। वे उन्हें सर्वोपरि देव मानते थे और अवतार में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य। इसलिए उन्होंने राम के सौंदर्य का बड़ी लगन से चित्रण किया है। सीता के अनुपम सौंदर्य का वर्णन करते समय तो वे कहीं-कहीं हिचके भी हैं; क्योंकि उन्हें वे जगज्जननी माता के रूप में देखते थे और उनके अपार रूप के विषय में निःसंकोच कुछ कहना अनुचित समझते थे; पर राम के सौंदर्य का उन्होंने विशद वर्णन किया है। कैसा भी अवसर हो, यदि उन्हें राम के रूप का स्मरण हो आया, तो दो-चार उज्ज्वल पंक्तियाँ उन्होंने अवश्य कह दी हैं और जहाँ काव्य की दृष्टि से उनके रूप-वर्णन की आवश्यकता, है वहाँ उन्होंने बड़े विस्तार से बहुत रोचक और प्रभावशाली वर्णन किया है।

तुलसी-द्वारा चित्रित राम के असीम सौंदर्ययुक्त चित्र पर शत्रु - मित्र, सभी मुग्ध हैं। सौंदर्य में जो आकर्षण है, राम के संबंध में वह बहुत बढ़ गया है। माता-पिता, गुरुजन, परिजन आदि तो राम पर मुग्ध हैं ही, संसार से उदासीन

ऋषि-मुनि, साधु-संन्यासी ही नहीं, शत्रु तक उनके दिव्य सौंदर्य को देखकर वशीभूत हो जाते हैं। दिन हो या रात, नगर में हों या वन में, वस्त्राभूषणों से सज्जित हों अथवा जटा-जूट बाँधे, राम का सौंदर्य सर्वत्र समान है और जो कोई भी सामने आता है उनके रूप पर लट्टू हो जाता है। तुलसी यही चाहते भी थे। यों तो हमें उनके इस आदर्श के संबंध में कुछ कहना नहीं है, क्योंकि यह अपनी-अपनी रुचि और आदर्श का प्रश्न है, परंतु एक-आध स्थल पर राम के प्रति उनके शत्रुओं का आकर्षण कुछ आलोचकों को खटकता है। उदाहरण के लिए खर-दूषण का यह कथन देखिए—

नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते॥
हम भरि जनम सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई।
जद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा। बध लायक नहि पुरुष अनूपा[1]॥

आलोचकों का कहना है कि बहन के अपमान का बदला लेने के लिए बड़े क्रोध में आनेवाले खर-दूषण के मुख से उक्त बात कहलाना अनुचित है। हमारी सम्मति में, शत्रु का शत्रु के रूप-गुण पर मुग्ध हो जाना अस्वाभाविक नहीं; इसलिए खर-दूषण का कथन भी उचित ही है। इसके द्वारा बड़ी कुशलता से कवि ने अपने राम के उस सौंदर्य की ओर संकेत किया है जो नाग, असुर, सुर, नर, मुनि के सौंदर्य से बढ़कर है—एक शब्द में, अनुपम है। मनुष्य का मन तो साधारण सौंदर्य पर भी मुग्ध हो सकता है; अतः जिस सौंदर्य पर राक्षस मुग्ध हो जायँ, यहाँ तक कि अपना क्रोध, अपमान, आवेश भी भूल जायँ, वह अवश्य ही अनुपमेय होगा। क्रोधावेश में लाल, खर-दूषण के मुँह से उक्त पंक्तियाँ कहला कर कवि ने यही बात सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

बाल-रूप-वर्णन—

किसी भी विषय का वर्णन करते समय कवि अपने सामने एक-न-एक आदर्श अवश्य रखता है। आदर्श जितना महान होगा, साधारणतया चित्र भी उतना ही उत्तम बनेगा। राम के सौंदर्य का वर्णन करते समय तुलसी परब्रह्म परमात्मा के जिस दिव्य और अलौकिक रूप का दर्शन कर रहे थे, उसकी एक झाँकी देखकर आप भी नेत्र सफल कर लीजिए—

---

१. 'मानस', अरण्यकांड, दोहा १९।

नील सरोरुह नीलमनि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तनु सोभा निरखि कोटि-कोटि सत काम॥

सरद मयंक बदन छबि सींवाँ। चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवाँ॥
अधर अरुन रद सुंदर नासा। बिधुकर निकर बिनिंदक हासा॥
नव अंबुज अंबक छबि नीकी। चितवनि ललित भावँती जी की॥
भृकुटी मनोज चाप छबि हारी। तिलक ललाट पटल दुतिकारी॥
कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा। कुटिल केस जनु मधुप समाजा॥
उर श्रीवत्स रुचिर बनमाला। पदिक हार भूषन मनिजाला॥
केहरि कंधर चारु जनेऊ। बाहु बिभूषन सुंदर तेऊ॥
करि-कर सरिस सुभग भुज-दंडा। कटि निषंग कर सर-कोदंडा॥

तड़ित-बिनिंदक पीत पट उदर रेख बर तीनि।
नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भवँर छबि छीनि॥

पद राजीव बरनि नहिं जाहीं। मुनि-मन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं[1]॥

परम-पिता परमात्मा ने इस रूप के दर्शन स्वायंभुव राजा मनु और उनकी रानी शतरूपा को कराये थे; क्योंकि इन्होंने अपने घोर तप से उन्हें प्रसन्न कर लिया था। राजा-रानी ने भगवान को प्रसन्न जान उनसे वर माँगा कि तुम्हारे समान ही हमारे पुत्र हो। भगवान उनका आशय समझ गये; मुसकराये और बोले—अपने समान दूसरा मैं कहाँ ढूँढ़ता फिरूँगा; चलो, मैं ही तुम्हारे पुत्र-रूप में जन्म लूँगा। यों राम का अवतार हुआ। माता-पिता उनका वही रूप देखना चाहते थे जिसका स्मरण शिवजी किया करते हैं। राम के सौंदर्य का वर्णन करते समय तुलसी ने यह बात सर्वदा अपने ध्यान में रखी है और उनके श्याम वर्ण, मुख, कपोल, ठुड्ढ़ी, गरदन, ओंठ, दाँत, नाक, हास्य, आँख, चितवन, भौंहें, माथा, तिलक, कुंडल, मुकुट, केश, स्कंध, भुजदंड, पीतांबर, त्रिरेखाएँ, नाभी, चरण आदि की दिव्य और अनुपम शोभा का वर्णन करते समय कवि बराबर उनके उक्त अत्यंत सुंदर स्वरूप का दर्शन करता रहा है। राम का बालक रूप देखिए—

काम कोटि छबि स्याम सरीरा। नील कंज बारिद गंभीरा॥
अरुन चरन पंकज नख जोती। कमल दलन्हि बैठे जनु मोती॥

---

१. 'मानस', बालकांड, दोहा १४६-४७।

रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे । नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे ॥
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा । नाभि गँभीर जानि जेहि देखा ॥
भुज बिसाल भूषन जुत भारी । हिय हरि-नख अति सोभा रुरी ॥
उर मनिहार पदिक की सोभा । बिप्र - चरन देखत मन लोभा ॥
कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई । आनन अमित मदन छवि छाई ॥
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे । नासा तिलक को बरनै पारे ॥
सुंदर स्रवन सुचारु कपोला । अति प्रिय मधुर तोतरे बोला ॥
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे । बहु प्रकार रचि मातु सँवारे ॥
पीत झगुलिया तनु पहिराई । जानु पानि बिचरनि मोहि भाई[1] ॥

परमात्मा के जिस रूप का दर्शन तुलसी ने मनु और शतरूपा को कराया है, यह वर्णन भी उसी का है। यहाँ कवि ने नख-ज्योति, पैर के तलवे में वज्र, ध्वजा और अंकुश की रेखाएँ, भृगु-चरण-चिन्ह, कान आदि का वर्णन और बढ़ा दिया है, जैसे पूर्व-वर्णन करते समय वह इन बातों को भूल गया था। साथ ही उसने बालरूप-संबंधी कुछ बातों, जैसे कर्ण, किंकिनि, दुइ दुइ दसन, मधुर तोतरे बोल, गभुआरे केश, जानु-पानि बिचरनि आदि का वर्णन किया तो है, पर है वह संकेत रूप में ही। कारण स्पष्ट है। कवि की दृष्टि इस समय परमात्मा के पूर्वांकित चित्र पर ही है और वह राम के बाल-रूप का वर्णन करने के व्याज से अपने प्रिय पाठकों को उसी का पुनीत दर्शन कराना चाहता है। परंतु यह बात केवल 'मानस' में ही देखने को मिलती है। 'गीतावली' अथवा 'कवितावली' में कवि ने जब-जब राम के बाल-रूप का वर्णन किया है तब तब उन्हें बहुत सुंदर राजकुमार ही बताया है। स्वायंभुव मनु और शतरूपा को वही रूप प्रिय था। अतः 'गीतावली' और 'कवितावली' का रूप-वर्णन ही अधिक हृदयहारी और स्वाभाविक हुआ है। नीचे इस रूप की दो-एक झाँकियाँ देख लीजिए—

बालक राम पालने में झूल रहा है। चक्रवर्ती राजा का वह पुत्र है। सोने का उसका पालना है, जिसमें मणियाँ और रत्न जड़े हैं—

कनक - रतन मय पालनो रच्यो मनहुँ मार - सुतहार ॥
बिबिध खिलौना किंकिनी लागे मंजुल मुकुता हार[2] ॥

---

१. 'मानस', बालकांड, दोहा १९९ ।
२. 'गीतावली,' पद २२ ।

माता कौशल्या ने 'दशरथ-नंदन' को नहला-धुलाकर, तरह-तरह के सुंदर वस्त्राभूषणों से सजाकर पालने में पौढ़ा दिया है। इस समय की उसकी शोभा का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

मदन मोर के चंद की झलकनि निदरति तन-जोति।
नील कमल, मनि, जलद की उपमा कहे लघु मति होति।
मातृ-सुकृत-फल राम लला।
लघु-लघु लोहित ललित हैं पद पानि अधर एक रंग।
को कवि जो छबि कहि सकै नख-सिख सुंदर सब अंग।
परिजन-रंजन राम लला॥
पग नूपुर, कटि किंकिनि, कर-कंजनि पहुँची मंजु।
हिय हरि-नख अद्‌भुत बन्यो मानो मनसिज मनि-गन गंजु।
पुरजन-सिरमनि राम लला॥
लोचन नील सरोज-से भ्रू पर मसि बिंद बिराज।
जनु बिधु-मुख-छबि-अमिय को रच्छक राखे रसराज।
सोभासागर राम लला[1]॥

बालक राम के आभूषणों की गिनती हमें नहीं करनी है। हम तो केवल यह दिखाना चाहते हैं कि तुलसी ने 'गीतावली' के इस पद में राम को शिशु-रूप में ही देखा है। पद, पानि, अधर कवि को समान रूप से लाल-लाल लगते हैं। उसका सारा नख-सिख बहुत सुंदर हैं। बालक राम इसी कारण 'परिजन-रंजन' और 'पुरजन-सिरमनि' है। जो सुनता है, दर्शन करने दौड़ा चला आता है। इसलिए कवि, 'उसको नजर न लग जाय' के विचार से 'मसि-विंदु', लगाना भी नहीं भूला है। 'गीतावली' का एक पद और देखिए—

झूलत राम पालने सोहैं, भूरि भाग जननी जन जोहैं।
तनु मृदु मंजुल मेचकताई, झलकत बाल-बिभूषन झाँई।
अधर पानि पद लोहित लोने, सर-सिंगार-भव सारस सोने।
* * *
रंजित अंजन कंज-बिलोचन, भ्राजत भाल तिलक गोरोचन
लस मसि बिंदु बदन-बिधु नीको, चितवत चित चकोर तुलसी को[2]।

---

१. 'गीतावली', पद २२।
२. 'गीतावली', पद २४।

इस पद में कुछ बातें तो कवि ने पूर्व वर्णन की ही दोहरा दी हैं; नवीनता दूसरी और पाँचवीं पंक्ति में है। बालकों के नेत्रों में काजल लगाना आज भी आवश्यक समझा जाता है। विश्वास है कि ऐसा करने से बालक को एक तो नेत्र-रोग नहीं होते और दूसरे, उसकी आँखें बड़ी हो जाती हैं—बड़ी आँखों का सुंदर लगना तो कहने की जरूरत है ही नहीं। कवि ने यहाँ बालक राम के नेत्रों में काजल लगवा दिया है। दूसरी पंक्ति में बालकों के शरीर की कोमलता की ओर संकेत है। बालक राम के कोमल शरीर की स्वच्छता इतनी बढ़ी हुई है कि उस पर उनके छोटे-छोटे आभूषणों की छाया पड़ रही है। निःसंदेह यह कवि की बड़ी सुंदर और यथार्थ कल्पना है जो उसके सूक्ष्म निरीक्षण की परिचायक है।

अब बालक राम को गोद में देखिए। माता की गोद में तो बालक चौबीसों घंटों रहता है। काम-काजी पिता को ही उसे खिलाने का अवसर कम मिलता है। इसलिए श्रृंगार किये बालक को पिता की गोद में ही देखिए—

> **पग नूपुर औ पहुँची कर कंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिएँ।**
> **नवनीत कलेवर पीत झगा झलकैं, पुलकैं नृप गोद लिएँ।**
> **अरबिंद सों आनन रूप मरंद, अनंदित लोचन-भृंग जिएँ।**
> **मन मों न बस्यो अस बालक जो, तुलसी जग में फल कौन जिएँ।**
> **तन की दुति स्याम सरोरुह, लोचन कंज की मंजुलताई हरैं।**
> **अति सुंदर सोहत धूरि भरे, छबि भूरि अनंग की दूरि धरैं।**
> **दमकैं दँतियाँ दुति दामिनि ज्यौं, किलकैं कल बाल-बिनोद करैं।**
> **अवधेस के बालक चारि सदा, तुलसी मन-मंदिर में बिहरैं।**
> **बर दंत की पंगति कुंदकली, अधराधर-पल्लव खोलन की।**
> **चपला चमकै घन बीच जगै, छबि मोतिनि माल अमोलन की।**
> **घुँघरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर, कुंडल लोल कपोलन की।**
> **निवछावरि प्रान करै तुलसी, बलि जाउँ लला इन बोलन की[1]।**

'नवनीत कलेवर' वाली बात ऊपर आ चुकी है। 'दमकैं दतियाँ' और बर दंत की पंगति' की बात नयी है, यद्यपि बालक राम के छोटे-छोटे दो दाँत हम पहले निकलते देख चुके हैं। धूरि भरे' की शोभा भी यहाँ तुलसी की दृष्टि में

---

१. कवितावली, छंद २, ३, ५।

सुंदरतम है। इससे कवि का संकेत है कि अब बालक घर के बाहर भी खेलने योग्य हो गया है, क्योंकि महाराज दशरथ के मणियों-जड़े और बहुमूल्य संगमरमर के आँगन में घुटनों के बल चलने से, जिसका जिक्र ऊपर आ चुका है, शरीर में धूल नहीं लग सकती थी—धूल का वहाँ नाम ही नहीं था, लगती क्या ? दशरथ की गोद में एक बार इन्हें और देखिए—

सोहत सहज सुहाये नैन ।
खंजन मीन कमल सकुचत तब जब उपमा चाहत कवि दैन ।
सुंदर सब अंगनि सिसु-भूषन राजत जनु सोभा आये लैन ।
बड़ो लाभ, लालची लोभ-बस रहि गये लखि सुखमा बहु मैन ।
भोर भूप लिए गोद मोद भरे, निरखत बदन, सुनत कल बैन ।
बालक-रूप अनूप राम, छबि निवसति तुलसीदास-उर ऐन[1] ।

तुलसी ने इस पद के प्रथम तीन चरणों में कविजनोचित ढंग से 'नैन' और 'शिशु-भूषण' का वर्णन किया है और अंतिम पंक्ति में उनकी बाल-छवि को 'अनूप' कह कर संतोष कर लिया है।

घुटनों चलते-चलते बालक राम आँगन में खेलने भी लगा। अब तक तो वह अपने सौंदर्य के कारण माता-पिता, पुरजन और परिजन को प्रिय ही था, अब बाल-लीला के कारण और भी आकर्षक हो गया। साधारणत: इस स्थिति में कवि का ध्यान बाल-लीलाओं की ओर अधिक रहता है, सौंदर्य-वर्णन की ओर कम; तुलसी ने ऐसा नहीं किया है। उन्होंने बाल-लीला से अधिक राम के बाल-सौंदर्य का वर्णन किया है। नीचे इसके कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

बाल बिनोद करत रघुराई। बिचरत अजिर जननि सुखदाई।
मरकत मृदुल कलेवर स्यामा। अंग अंग प्रति छबि बहु कामा॥
नव राजीव अरुन मृदु चरना। पदज रुचिर नख ससि दुति हरना।
ललित अंक कुलिसादिक चारी। नूपुर चारु मधुर रवकारी।
चारु पुरट मनि रचित बनाई। कटि किंकिनि कल मुखर सुहाई।
रेखा त्रय सुंदर उदर नाभी रुचिर गँभीर।
उर आयत भ्राजत बिबिध बाल-बिभूषन चीर॥
अरुन पानि नख करज मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुंदर।

---

1. 'गीतावली', पद ३५।

कंध बाल केहरि दर ग्रीवाँ । चारु चिबुक आनन छबि सींवाँ ।
कलबल बचन अधर अरुनारे । दुइ दुइ दसन बिसद बर बारे ।
ललित कपोल मनोहर नासा । सकल सुखद ससिकर सम हाँसा ।
नील कंज लोचन भव मोचन । भ्राजत भाल तिलक गोरोचन ।
बिकट भृकुटि सम स्रवन सुहाये । कुंचित कच मेचक छबि छाये ।
पीत झीनि झगुली तन सोही । किलकनि चितवनि भावत मोही[1] ।

ऊपर के अवतरण में आयी हुई कुछ बातें कवि पहले ही वर्णन कर चुका है; कहीं-कहीं तो उसने पूर्व प्रयुक्त शब्द तक ज्यों के त्यों उठाकर रख दिये हैं। केवल दो बातों का वर्णन नवीन है। एक तो हाथ की उँगलियों और नखूनों का जिनके लिए कवि ने लिखा है—'अरुन पानि नख करज मनोहर' ; और दूसरे कंधों का। तुलसी को बालक राम के कंधे सिंह के बच्चे जैसे ऊँचे और बलशाली मालूम होते हैं। इस समय राम की अवस्था लगभग एक वर्ष की है; क्योंकि उनके 'दुइ-दुइ दसन' ही कवि ने देखे हैं। अतः कंधों को पुष्ट और छाती को विशाल बताकर कवि अपने आराध्य के बाल-रूप के स्वास्थ्य और उनकी भावी शक्ति की ओर सुंदर संकेत कर रहा है।

'गीतावली' के एक अन्य पद में आँगन में खेलते हुए बालक राम के रूप का लगभग ऐसा ही वर्णन तुलसी दास ने किया है—

आँगन फिरत घुटुरुवनि धाए ।
नील-जलद-तनु-स्याम राम-सिसु जननी निरखि मुकुट निकट बोलाए ।
बंधुक - सुमन - अरुन पद-पंकज अंकुस प्रमुख चिन्ह बनि आए ।
नूपुर जनु मुनिबर - कलहंसनि रचे नीड़ दै बाँह बसाए ।
कटि मेखल, बर हार ग्रीव दर रुचिर बाँह भूषन पहिराए ।
उर श्रीवत्स मनोहर हरि-नख हेम मध्य मनिगन बहु लाए ।
सुभग चिबुक द्विज अधर नासिका स्रवन कपोल मोहिं अति भाए ।
भ्रू सुंदर करुनारस-पूरन, लोचन मनहुँ जुगुल जलजाए ।
भाल-बिसाल ललित लटकन बर, बाल-दसा के चिकुर सोहाए ।
मनु दोउ गुरु सनि कुज आगे करि ससिहि मिलन तम के गन आए ।
उपमा एक अभूत भई तब जब जननी पट पीत ओढ़ाए ।
नील जलद उडुगन निरखत तजि सुभाव मनो तड़ित छपाए ।

---

१. 'मानस', उत्तरकांड, दोहा ७५-७६-७७ ।

अंग-अंग पर मार - निकर मिलि छबि - समूह लै लै जनु छाए ।
तुलसिदास रघुनाथ-रूप-गुन तो कहौं जो बिधि होहिं बनाए[1] ।

यह पद 'गीतावली' के सुंदर चुने हुए पदों में से है। कवि का ध्येय इस में रूप-वर्णन की ओर उतना नहीं है जितना क्लिष्ट कल्पनाओं के एकत्र करने की ओर है। उसने यहाँ राम-रूप-संबंधी किसी नयी बात का वर्णन नहीं किया है। जो नवीनता वह इस पद में ला सका है, अथवा लाने का उसने प्रयत्न किया है, वह उसकी कल्पना-जनित प्रतिभा का परिणाम है। वस्तुतः वर्णन की दृष्टि से वे ही पद सुंदर बन पड़े हैं जहाँ कवि ने संक्षेप में—

रघुबर बाल-छबि कहौं बरनि ।
सकल सुख की सींव, कोटि-मनोज सोभा-हरनि[2] ।

कहकर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा अथवा अन्यान्य अलंकारों की सहायता से विषय को हृदयंगम कराने का प्रयत्न किया है। वस्त्राभूषणों की नामावली गिना देने से सौंदर्य का अनुभव कोई नहीं करा सकता। हर्ष की बात है कि तुलसी ने ऐसा किया भी नहीं है। वे तो राम - रूप का स्मरण करते ही पुलकित हो जाते हैं और तभी रूप-वर्णन के पद गाने लगते हैं—

सुमिरत सुखमा हिय हुलसी है। गावत प्रेम पुलकि तुलसी है[3] ।

कभी-कभी तो परम प्रिय बालक राम का सुंदर रूप देखकर तुलसीदास अपने आपको ही भूल जाते हैं—

तुलसिदास प्रभु देखि मगन भई प्रेम बिबस कुछ सुधि न अपनियाँ[4] ।

कुछ बड़ा होकर बालक राम अपने छोटे भाइयों और साथियों के साथ अयोध्या की गलियों में खेलने लगा। नगरवासियों को इस समय उसका रूप देखने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। तुलसी ने भी उसके इस रूप का वर्णन कई बार किया है; परंतु वह चलताऊ ही है। 'मानस' में वे कहते हैं—

---

१. 'गीतावली', पद २६ ।
२. 'गीतावली', पद २७ ।
३. 'गीतावली', पद ३१ ।
४. 'गीतावली,' पद ३४ ।

करतल बान धनुष अति सोहा। देखत रूप चराचर मोहा।
जिन्ह बीथिनि बिचरहिं सब भाई। थकित होहिं सब लोग लुगाई।
कोसलपुर - बासी नर नारि बृद्ध - अरु बाल।
प्रानहु ते प्रिय लागत सब कहँ राम कृपाल[1] ॥

'बरवै रामायण' में कवि ने इसी प्रकार धनुप-बाण हाथ में लिये खेलते राम के रूप का वर्णन किया है—

कुंकुम - तिलक भाल स्रुति कुंडल लोल।
काक पच्छ मिलि सखि! कस लसत कपोल ॥
भाल तिलक श्री सोहत भौंह कमान।
मुख अनुहरिया केवल चंद समान ॥
तुलसी बंक बिलोकनि मृदु मुसकानि।
कस प्रभु नयन कमल अस कहौं बखानि ॥
काम - रूप मम सुलसी राम सरूप[2]।

मानस के सौंदर्य-वर्णन की एक खटकनेवाली बात यह है कि उसमें क्रमानुसार वर्णन न होकर आरंभ में ही राम को 'करोड़ों कामदेव' से सुंदर कह दिया गया है। 'बरवै रामायण' की उक्त पंक्तियों में यह बात नहीं है। यहाँ वर्णन में तो नवीनता नहीं है—पूर्व वर्णित बातें प्रायः उन्हीं शब्दों में दोहरा दी गयी हैं; परंतु क्रम ठीक है। 'कवितावली' में भी खेलते हुए राम का चित्र सुंदर है—

पद - कंजनि मंजु बनी पनहीं धनुहीं सर पंकज - पानि लिएँ।
लरिका सँग खेलत डोलत हैं सरजू तट चौहट हाट हिएँ ॥

*　　　*　　　*

सरजू बर तीरहिं तीर फिरैं रघुबीर सखा अरु बीर सबै।
धनुहीं कर तीर निषंग कसे कटि पीत दुकूल नवीन फबै[3] ॥

राजकुमार राम का यह चित्र अपेक्षाकृत पूर्ण है। पैरों में जूते की बात कहनी भी आवश्यक थी। कहीं राजकुमार गलियों में या सरयू के किनारे नंगे पैर घूम

---

१. 'मानस', बालकांड, दोहा २०४।
२. 'बरवै रामायण', छंद ८, ९, १०, ११।
३. 'कवितावली', छंद ६-७।

सकता है ? दो बातें अभी और रह गयी हैं। 'रामाज्ञा प्रश्न' के इस दोहे में उनमें से एक देख लीजिए—

> बाल बिभूषन बसन बर, धूरि - धूसरित अंग।
> बाल केलि रघुबर करत, बाल बंधु सब संग[1] ॥

खेलते समय छोटे-छोटे बालकों के शरीर में धूल लग जाना स्वाभाविक बात है। यहाँ तुलसी ने यही बात लिखी है। दूसरी बात है उनके गहनों के प्रकार की। इसके लिए 'गीतावली' का यह पद देखिए—

> **ललित ललित लघु लघु धनु सर कर, तैसी तनक सी कटि कसे पट पियरे।**
> **ललित पनही पाँय पैंजनी-किंकिनि धुनि, सुनि सुख लहै मनु रहै नित नियरे।**
> **पहुँची अंगद चारु हृदय पदिक हारु कुंडल-तिलक-छबि गड़ी कबि जियरे।**
> **सिरसि टिपारो लाल, नीरज-नयन बिसाल, सुंदर बदन, ठाढ़े सुरतरु सियरे।**
> **सुभग सकल अँग, अनुज बालक सँग, देखि नर-नारी रहैं ज्यों कुरंग दियरे।**
> **खेलत अवध खोरि, गोली भौंरा चक डोरि, मूरति मधुर बसै तुलसी के हियरे[2] ।**

इस पद में तुलसी ने गहनों की लंबी सूची दे दी है। हमारा अनुमान है कि यह अधूरी और अपूर्ण है। भला, चक्रवर्ती राजाओं के राजकुमारों के आभूषणों की कहीं गिनती हो सकती है ? जो हो, ऊपर जितने अवतरणों में हमने नगर में खेलते राम का दर्शन किया है, हमें उन सबमें सरल और सुंदर यह पद लगता है—

> **बिहरत अवध बीथिनि राम।**
> **संग अनुज अनेक सिसु नव - नील - नीरद - स्याम।**
> **तरुन - अरुन - सरोज - पद बनी कनकमय पदत्रान।**
> **पीत - पट कटि तून बर कर ललित लघु धनु - बान।**
> **लोचननि को लहत फल छबि निरखि पुर - नर - नारि।**
> **बसत तुलसीदास उर अवधेस के सुत चारि[3] ।**

यहाँ 'चारि सुत' की बात तुलसी ने मन रखने को कह दी है। वस्तुतः उन्हें राम ही प्यारे थे। ऊपर के अवतरणों से इस कथन की पुष्टि होती है। इसका

---

१. **'रामाज्ञा प्रश्न', छंद ४—३-१।**

२. **'गीतावली,' पद ४३।**

३. **'गीतावली', पद ४१।**

एक प्रमाण यह भी है कि उन्होंने राम के अतिरिक्त उनके किसी भी भाई के रूप-सौंदर्य का इतना विशद और पूर्ण वर्णन नहीं किया है।

किशोर रूप-वर्णन—

राम जब किशोरावस्था में पदार्पण कर चुके तब विश्वामित्र उन्हें यज्ञ-रक्षा के लिए बुलाने आये। महाराज दशरथ पर जैसे वज्रपात हो गया। वे हक्के-बक्के-से मुनि की ओर देखने लगे—

रहे ठगि से नृपति सुनि मुनिबर के बयन[1]।

बात भी उनके लिए अनहोनी थी। राम को ले जाना तो पिता के प्राण ले जाना ही था। इसलिए आवेश में दशरथ ने एक बार तो स्पष्ट कह दिया—

सब सुत प्रिय मोहि प्रान की नाईं। राम देत नहिं बनइ गोसाईं[2]।

परंतु बाद में मुनि-क्रोध के भय से राजा ने इच्छा न होते हुए भी राम-लक्ष्मण को उनके साथ कर दिया और छाती पर पत्थर रखकर पुत्रों का वियोग सहा। विश्वामित्र राम को यज्ञ-रक्षा के लिए माँगने आये थे; इसलिए तुलसी ने राम की सुकुमारता के साथ-साथ उनके वीर-रूप का वर्णन किया है। 'मानस' में वे लिखते हैं—

पुरुष-सिंह दोउ बीर हरषि चले मुनि-भय हरन।
कृपासिंधु मतिधीर अखिल बिस्व कारन-करन॥
अरुन नयन उर बाहु बिसाला, नील जलज तनु स्याम तमाला।
कटि पट पीत कसें बर भाथा, रुचिर चाप सायक दुहुँ हाथा।
स्याम गौर सुंदर दोउ भाई, बिस्वामित्र महानिधि पाई॥

किशोरावस्था के आरंभ से ही कवि राम को 'पुरुष-सिंह' कह रहा है। कारण स्पष्ट है। वह राम से वीरता के महान् कार्य कराना चाहता है और सो भी किसी अलौकिक शक्ति की सहायता से नहीं। आरंभ में राम को 'पुरुष-सिंह' कहने से लाभ यह प्रमाणित कर सकने का है कि अपने जीवन में वीरता के सब

---

१. 'गीतावली,' पद ४१।
२. 'मानस', बालकांड, दोहा २०८।
३. 'मानस', बालकांड, दोहा २०८ ख और २०९।

काम वे करने में समर्थ होंगे; क्योंकि जो किशोरावस्था में ही इतना शक्तिशाली प्रतीत होता है, युवावस्था में उसकी शक्ति का क्या ठिकाना ! अब विश्वामित्र के साथ जाते हुए राम के दर्शन कीजिए—

नील-पीत पाथोज-बरन बपु, बय किसोर बनि आई।
सर धनु - पानि, पीत पट कटि तट, कसे निषंग बनाई।
कलित कंठ मनि - माल, कलेवर चंदन खौरि सुहाई।
सुंदर बदन, सरोरुह लोचन, मुखछबि बरनि न जाई।
पल्लव, पंख, सुमन सिर सोहत, क्यों कहौं बेष-लुनाई।
मनु मूरति धरि उभय भाग भइ त्रिभुवन सुंदरताई[1]।

राम की किशोरावस्था के जिस सौंदर्य का वर्णन 'गीतावली' के इस पद में किया गया है, उसके दर्शन हम उनकी बाल्यावस्था में कर चुके हैं। इसलिए इस संबंध में 'जानकीमंगल' की कुछ पंक्तियाँ देखकर आगे चलिए—

स्यामल गौर किसोर मनोहरता निधि।
सुखमा सकल सकेलि मनहुँ बिरचे बिधि।
बिरचे बिरंचि बनाइ बाँची रुचिरता रंचौ नहीं।
दस चारि भुवन निहारि देखि बिचारि नहिं उपमा कहीं।
रिषि संग सोहत जात मगु छबि बसति सो तुलसी हिए।
कियो गमन जनु दिननाथ उत्तर संग मधु-माधव लिए[2]।

किशोर राम की सुंदरता के संबंध में कवि यह कहकर प्रसंग समाप्त करता है कि ब्रह्मा ने इन्हें रचने में समस्त विश्व की निधि खर्च कर दी। इस असीम सौंदर्य का वर्णन करना सरल भी तो नहीं है। इसका कुछ अनुभव हम इस सौंदर्य का प्रभाव देखकर भले ही कर सकते हैं—

क. तुलसी प्रभु बिलोकि मग-लोग खग-मृग प्रेम मगन रँगे रूप-रंग[3]।

. नयननि को फल लेत निरखि खग मृग सुरभी ब्रजबधू अहीर।
तुलसी प्रभुहिं देत सब आसन निज निज मन मृदु-कमल-कुटीर[4]।

---

१. 'गीतावली,' पद ४२।
२. 'जानकी मंगल', छंद ३५-३६।
३. 'गीतावली', पद ४३।
४. 'गीतावली', पद ४४।

पुरुष-स्त्रियां और पशु-पक्षियां का राम पर मुग्ध होना स्वाभाविक बात है, परंतु राम का सौंदर्य तो इतना बढ़ा-चढ़ा था कि प्रकृति भी उनकी पहुनाई कर अपने को धन्य समझ रही है—

महि मृदु पंथ, घन छाँह, सुमन सुर बरस, पवन सुखदाई।
जल-थल-रुह फल फूल सलिल सब करत प्रेम पहुनाई[1]।

राम की किशोरावस्था की शारीरिक सुंदरता और सुकुमारता का पर्याप्त वर्णन हो चुका; अब उनका वीर-वेष देखिए। तुलसी ने 'गीतावली' (पद ५४) में—'मुनि संग बिराजत बीर' कह कर ही कुछ पदों में काम चलाया है, क्योंकि वहाँ उनकी दृष्टि राम की सुकुमारता और शोभा पर थी। परंतु ताड़का-वध के प्रसंग में जब ज्ञात होता है कि एक ही बाण में उन्होंने उसे मार दिया तब कवि कह उठता है—

....तून - तीर - धनुधारी।
केहरिकंध, काम-करि-करवर बिपुल बाहु, बल भारी[2]।

विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण राजा जनक के नगर में पहुँचते हैं। वहाँ पहुँचते ही—

चढ़ि मंदिरनि बिलोकत सादर जनक नगर सब कोऊ[3]।

परंतु साधारण नर-नारियों की बात छोड़िए; वे तो थोड़े रूप-सौंदर्य पर भी मुग्ध हो सकते हैं। इधर देखिए, जनकजी की ओर। ये 'विदेह' कहलाते हैं। संसार में रह कर भी ये जल-कमल की भाँति उससे निर्लिप्त समझे जाते हैं। इन पर साधारण रूप का प्रभाव नहीं हो सकता। सुनिए, राम-लक्ष्मण को देख कर ये क्या कह रहे हैं—

नील-पीत-पाथोज बरन, मन-हरन सुभाय सुहाए।
मुनि-सुत किधौं भूप-बालक, किधौं ब्रह्म-जीव जग जाए।
रूप-जलधि के रतन सुछबि-तिय-लोचन ललित लला ए।
किधौं रवि-सुवन मदन, रितुपति, किधौं हरि-हर बेष बनाए।
किधौं आपने सुकृत-सुरतरु के सुफल रावरेहि पाए[4]।

---

१. 'गीतावली', पद ४४।
२. 'गीतावली', पद ४४।
३. 'गीतावली', पद ६३।
४. 'गीतावली', पद ६४।

विदेह जनक राम का सौंदर्य देख कर ठगे-से रह जाते हैं। आश्चर्य से उन्होंने ऊपर के प्रश्न किये हैं। कुछ क्षण पश्चात् जब राम के भली-भाँति दर्शन वे कर चुके तब उनका आश्चर्य-पुलकित प्रसन्नता में परिवर्तित हो जाता है। इस समय के प्रश्न ऊपरवालों से भिन्न हैं। तुलसी ने उनका वर्णन भी भिन्न प्रकार से किया है। अब वे प्रश्न कम करते हैं; अपने नेत्रों का सुख अधिक लूटते हैं—

बूझत जनक—'नाथ, ढोंटा दोउ काके हैं' ?
तरुन-तमाल-चम्ह चंपक-बरन-तनु, कौने बड़े भागी के सुकृत परिपाके हैं ?
सुख के निधान पाए, हिय के पिधान लाए, ठग के से लाड़ू खाए, प्रेम-मधु छाके हैं।
स्वारथ-रहित परमारथी कहावत हैं, भे सनेह-बिबस बिदेहता बिबाके हैं।
सील-सुधा के अगार, सुखमा के पारावार, पावत न पैरि पार पैरि पैरि थाके हैं।
लोचन ललकि लागे, मन अति अनुरागे, एक रस रूप चित सकल सभा के हैं[1]।

राम-लक्ष्मण का परिचय पाकर जनकजी विश्वामित्र के साथ उन्हें बड़े सम्मान से विश्राम-मंदिर की ओर ले गये। उनके लिए सब प्रकार का सुविधाजनक प्रबंध करा दिया गया। राम के रूप की चर्चा सारे नगर में होने लगी। दर्शन-लोलुप पुरुष लगातार आने लगे। राम ने जैसे मन में सोचा—घर बैठे ही इन्हें दर्शन देना चाहिए। लक्ष्मण की रुचि आगे रखकर उन्होंने विश्वामित्र से भाई को नगर दिखलाने की आज्ञा माँगी। मुनिवर उनके मन की बात जान गये। उन्होंने सहर्ष आज्ञा दे दी। राम भाई को साथ लेकर नगर में पहुँचे। वहाँ उनकी निम्नांकित छवि कवि ने देखी—

पीत बसन परिकर कटि भाथा, चारु चाप सर सोहत हाथा।
तन अनुहरत सुचंदन खोरी, स्यामल गौर मनोहर जोरी।
केहरि कंधर बाहु बिसाला, उर अति रुचिर नाग-मनि-माला।
सुभग सोन सरसीरुह लोचन, बदन मयंक ताप त्रय मोचन।
कानन्हि कनक फूल छबि देहीं, चितवत चितहिं चोरि जनु लेहीं।
चितवनि चारु भृकुटि बर बाँकी, तिलक रेख सोभा जनु चाँकी।

रुचिर चौतनी सुभग सिर मेचक कुंचित केस।
नख-सिख सुंदर बंधु दोउ सोभा सकल सुदेस[2]।

---

१. 'गीतावली', पद ६४।
२. 'मानस', बालकांड, दोहा २१९।

यह वर्णन साधारण है। यहाँ तुलसी ने राम के केवल उस रूप का वर्णन किया है जिसे नगर-वासियों ने देखा भर; अब दर्शन के पश्चात् उनके मन में जो तुलनात्मक विचार उठते हैं वे सुन लीजिए—

कहहिं परस्पर बचन सप्रीती। सखि इन कोटि काम छबि जीती।
सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनियत नाहीं।
बिस्नु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट बेष मुख पंच पुरारी।
अपर देव अस कोऊ न आही। यह छबि सखि पटतरिय जाही।
बय किसोर सुखमा सदन स्याम गौर सुख-धाम।
अंग अंग पर वारिअहिं कोटि कोटि सत काम।
कहहु सखी अस को तनु धारी। जो न मोह यह रूप निहारी[1]।

यहाँ राम के सौंदर्य की तुलना त्रिदेवों से की गयी है। जनकपुर-वासियों की दृष्टि में त्रिदेवों में तो कोई ऐसा है ही नहीं जिसके साथ इनकी तुलना का प्रसंग भी उठाया जाय। और देवताओं में जो सबसे सुंदर समझा जाता है उस कामदेव बेचारे की बड़ी दुर्दशा तुलसी ने की है। करोड़ कामदेवों को राम के एक-एक अंग पर निछावर कर तुलसी ने भी खूब खिलवाड़ किया है।

दूसरे दिन प्रातःकाल राम को जनक जी की फुलवारी में जाना पड़ा। काम था गुरु जी की पूजा के लिए फूल लाना। उनके रूप की वहाँ कठिन परीक्षा हुई। राज-कन्या सीता अपनी सखियों के साथ वहीं थीं। सीता की असीम और अनुपम सुन्दरता का वर्णन कवि ने इतना कह कर ही समाप्त कर दिया है—

सुंदरता कहुँ सुंदर करई। छबि-गृह दीपसिखा जनु बरई।
सब उपमा कवि रहे जुठारी। केहि पटतरौं बिदेह-कुमारी[2]।

ऐसी सीता और उनकी अति चतुर सखियों के सामने राम के रूप की परीक्षा है। राम-लक्ष्मण के आगमन की सूचना उनको मिल चुकी है। सीता की एक सखी उनके दर्शन करके 'पुलक गात जल नयन' होकर सीता के सामने 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' कहकर उनके रूप-वर्णन में अपनी असमर्थता प्रकट कर चुकी है। इससे एक लाभ यह भी हुआ कि सीता के मन में उनके दर्शन की उत्सुकता जाग्रत हो गयी। अब कवि को भी अपने राम के अनुपम सौंदर्य

१. 'मानस', बालकांड, दोहा २२० और २२१।
२. 'मानस', बालकांड, दोहा २३०।

का अवसरोचित-वर्णन करने का बहाना मिल गया। पहले वह दूर से, एक लता की ओट में ही राम का दर्शन कराता है—

लता ओट तब सखिनि लखाए। स्यामल गौर किसोर सुहाए।
देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने।
थके नयन रघुपति छबि देखे। पलकन्हि हू परिहरीं निमेषें।
अधिक सनेहँ देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।
लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक-कपाट सयानी[1]।

लता की ओट से राम के सौंदर्य की एक झलक मात्र सीता देख सकीं; इसलिए कवि ने उसका विस्तृत और सांगोपांग वर्णन भी नहीं किया। परंतु अपना काम उसने कर लिया है। एक तो केवल झलक देखकर सीता की दर्शन-लालसा और भी तीव्र हो गयी, क्योंकि बड़ी प्यास कहीं एक बूँद से बुझ थोड़ी सकती है—बूँद पाकर तो सोती हुई प्यास भी जाग पड़ती है; और दूसरे, राम के अंग-अंग का वर्णन करने का उसे सुअवसर मिल गया। सीता की चतुर सखियाँ राम के सभी सुन्दर अंगों का भली-भाँति निरीक्षण किये बिना उन्हें अपनी अनुपम रूप-वाली परम प्यारी सखी के लिए स्वीकार भी कैसे कर सकती थीं? अब राम-लक्ष्मण के रूप के पूर्ण दर्शन, जैसे सीता और उनकी सखियों ने किये, आप भी कीजिए—

लता भवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
बिकसे जनु जुग बिमल-बिधु जलद पटल बिलगाइ॥
सोभा सींव सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजात सरीरा।
मोर-पंख सिर सोहत नीके। गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के।
भाल तिलक स्रम बिंदु सुहाए। स्रवन सुभग भूषन छबि छाए।
बिकट भृकुटि कच घूँघरि-वारे। नव सरोज लोचन रतनारे।
चारु चिबुक नासिका कपोला। हास-बिलास लेत मन मोला।
मुख-छबि कहि न जाय मोहि पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं।
उर मनि-माल कंबु कल ग्रीवाँ। काम कलभ कर भुज बल सींवाँ।
सुमन समेत बाम कर दोना। साँवर कुँवर सखी सुठि लोना।
केहरि कटि पट पीत धर सुषमा सील निधान।
देखि भानु-कुल-भूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान[2]।

---

१. 'मानस', बालकांड, दोहा २३२।

२. 'मानस', बालकांड, दोहा २३२-३३।

सीता-सहित सखियों ने राम और लक्ष्मण, दोनों को देखा। कवि को विवश होकर राम के साथ लक्ष्मण के रूप का भी वर्णन करना पड़ा। राम का परम भक्त कवि इससे भी लाभ ही उठाता है। सखियों ने दोनों के रूप की तुलनात्मक आलोचना-प्रत्यालोचना करना आरंभ किया। अंत में दोनों की सुकुमारता स्वीकार करके भी—अतिशय सुकुमार होने के कारण ही फूल चुनने के परिश्रम से उनके माथे पर पसीना आ गया था—वे एकमत होकर निष्कर्ष निकालती हैं कि साँवला कुमार बहुत ही सुंदर और सलोना है। तुलसी का परिश्रम यह वाक्य सुनते ही सफल हो जाता है। आनंद से गद्‌गद् होकर कवि एक दोहे में राम के रूप का वर्णन और भी करता है, मानों कह रहा हो—हाँ, तुम्हारा निर्णय ठीक है; देखो न, राम सुंदरता और शील की निधि हैं।

राम की मंजुल मूर्ति हृदय में धारण कर सीता सखियों के साथ पार्वती जी के मंदिर में गयीं। इधर राम विश्वामित्र के पास आ गये। दूसरे दिन जनक का दरबार लगा। निमंत्रण पाकर मुनिवर राम और लक्ष्मण को लेकर वहाँ पहुँचे। दरबार में अनेक राजकुमार और राजा-महराजा उपस्थित हैं। जनकपुर-वासियों की भी भीड़ है। ये सभी के रूप-गुण की आलोचना कर रहे हैं। 'जानकी-मंगल' में तुलसी ने दरबार में सजे-सजाये अनेकानेक राजाओं-महाराजाओं के बीच में बैठे राम-लक्ष्मण के रूप का इस प्रकार वर्णन किया है—

राजत राज-समाज जुगल रघुकुल-मनि।
मनहुँ सरद-बिधु उभय, नखत धरनी-धनि।
काक-पच्छ सिर सुभग सरोरुह लोचन।
गौर स्याम सत कोटि काम-मद-मोचन।
तिलक ललित सर, भ्रकुटी काम-कमानै।
स्रवन बिभूषन रुचिर देखि मन मानै।
नासा चिबुक कपोल अधर रद सुंदर।
बदन सरद - बिधु - निंदक सहज मनोहर।
उर बिसाल बृष-कंध सुभग भुज अति-बल।
पीत-बसन उपवीत, कंठ मुकुताफल।
कटि निषंग, कर-कमलनि धरे धनुसायक।
सकल अंग मन मोहन जोहन लायक[1]।

1. 'जानकी मंगल', छंद ५५ से ६० तक।

यह वर्णन स्वाभाविक और सुंदर है; परंतु इसमें राम-लक्ष्मण के आभूषणों की चर्चा नहीं है। इसके लिए 'मानस' के राम की झाँकी देखिए —

सहज मनोहर मूरति दोऊ। कोटि काम उपमा लघु सोऊ।
सरद चंद निंदक मुख नीके। नीरज नयन भावते जी के।
चितवनि चारु मारु मद हरनी। भावति हृदय जाति नहीं बरनी।
कल कपोल स्रुति कुंडल लोला। चिबुक अधर सुंदर मृदु बोला।
कुमुद - बंधु कर निंदक हाँसा। भृकुटी बिकट मनोहर नासा।
भाल बिसाल तिलक झलकाहीं। कच बिलोकि अलि अवलि लजाहीं।
पीत चौतनी सिरन्हि सुहाई। कुसुम-कलीं बिच बीच बनाईं।
रेखें रुचिर कंबु कल ग्रीवाँ। जनु त्रिभुवन सोभा की सीवाँ।
कुंजरमनि - कंठा - कलित उरन्हि तुलसिका माल।
बृषभ कंध केहरि ठवनि बलनिधि बाहु बिसाल॥
कटि तूनीर पीत पट बाँधे। कर सर धनुष बाम बर काँधे।
पीत जग्य - उपबीत सुहाए। नखसिख मंजु महा छबि छाए[1]।

'जानकी-मंगल' और 'मानस' के वर्णनों में कहीं-कहीं एक ही बात और शब्दावली मिलती है; परंतु यदि हम इस पर ध्यान न दें, दोनों को साथ-साथ पढ़ें तो शृंगार किये राम के पूर्ण दर्शन हमें हो सकते हैं। इस प्रकार के विस्तृत वर्णन की आवश्यकता की ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है। किसी को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने के दो ही ढंग हैं; या तो उसके गुणों की सबसे तुलना की जाय या उसके गुणों का ही इतना पूर्ण वर्णन कर दिया जाय कि तुलना करने का स्थान ही न रहे। तुलसी ने राम को सबसे—यहाँ तक कि छोटे भाइयों से भी—अधिक सुंदर सिद्ध करने के लिए दूसरा ढंग अपनाया है। **कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछताना** —कहनेवाले तुलसी के लिए यही स्वाभाविक भी था। अन्य राजाओं और महाराजाओं के रूप की तुलसी ने चर्चा तक जो नहीं की है, उसका यही कारण है।

तात्पर्य यह कि राम का अलौकिक रूप देखकर भी दर्शकों को अपने नेत्रों का होना सफल जान पड़ने लगा और बहुत से साधु-सज्जन प्रकृति के राजा आपस में यह कह कर अपने नेत्रों का सुख लूटने लगे—

---

१. 'मानस', बालकांड, दोहा २४३-४४।

मनसिज मनोहर मधुर मूरति कस न सादर जोवहू ।
बिनु काज राज समाज महँ तजि लाज आप बिगोवहू ।
सिख देइँ भूपनि साधु भूप अनूप छबि देखन लगे ।
रघुबंस कैरवचंद चितइ चकोर जिमि लोचन ठगे[1] ।

'गीतावली' में इस विषय पर बहुत सुंदर-सुंदर पद हैं। यहाँ हम उनमें से केवल दो पाठकों के मनोरंजन के लिए दे रहे हैं—

रंगभूमि आए दसरथ के किसोर हैं ।
पेखनो सो पेखन चले हैं पुर-नर-नारि, बारे-बूढ़े अंध-पंगु करत निहोर हैं ।
नील-पीत-नीरज कनक-मरकत-घन-दामिनि-बरन तनु, रूप के निचोर हैं ।
सहज सलोने राम लषन ललित नाम, जैसे सुने तैसेई कुँवर सिरमौर हैं ।
चरन-सरोज चारु जंघा जानु ऊरु कटि, कंधर बिसाल बाहु बड़े बरजोर हैं ।
नीके कै निषंग कसे कर कमलनि लसे, बान बिसिषासन मनोहर कठोर हैं ।
काननि कनक फूल उपवीत अनुकूल, पियरे दुकूल बिलसत आछे छोर हैं ।
राजिव-नयन बिधु-बदन टिपारे सिर, नख-सिख अंगनि ठगौरी ठौर-ठौर हैं ।
सभा-सरवर लोक-कोकनद-कोकगन, प्रमुदित मन देखि दिन-मनि भोर हैं ।
अबुध असैले मन-मैले महिपाल भए, कछुक उलूक कछु कुमुद चकोर हैं[2] ।

दूसरा पद इससे बहुत छोटा है, परंतु हृदय को इससे अधिक प्रिय है; कारण, वह इतना वर्णनात्मक नहीं है। रनिवास की स्त्रियाँ आपस में बातचीत कर रही हैं—

नेकु ? सुमुखि, चित लाइ चितौ री ।
राजकुँवर-मूरति रचिबे की रुचि सुबिरंचि स्रम कियो है कितौ री ।
नख-सिख सुंदरता अवलोकत कह्यो न परत सुख होत जितौ री ।
साँवर रूप-सुधा भरिबे कहँ नयन - कमल - कल - कलस रितौ री ।
मेरे जान इन्हैं बोलिबे कारन चतुर जनक ठयो ठाट इतौ री[3] ।

धनुष तोड़ने का सुअवसर आ गया। यज्ञशाला में सब राजाओं के बीच

१. 'जानकी मंगल', पद ७२ ।
२. 'गीतावली', बालकांड, पद ७३ ।
३. 'गीतावली', बालकांड, पद ७७ ।

राम मंच पर बैठे हैं। धनुष तोड़ने का प्रयत्न बहुत से राजा-महाराजा कर चुके हैं। सबकी आँखें राम की ओर लगी हैं। तुलसी को भी अपने नायक के रूप का वर्णन करने का अवसर पुनः मिलता है। परंतु कुछ देर पहले ही वे यह प्रिय कार्य कर चुके हैं। अतः इस स्थल पर उसी की पुनरावृत्ति न करके थोड़ा धैर्य धरते हैं। धनुष टूटता है। अब तुलसी से नहीं रहा जाता। वे कुछ कहने को तैयार होते ही हैं कि परशुराम आकर रंग में भंग कर देते हैं। परंतु वे क्रोधी मुनि भी राम को देखते ही रह जाते हैं—

रामहिं चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार-मद-मोचन[1]।

परशुराम पराजित होते हैं। राम के गले में जयमाल पड़ी हुई है। सखियाँ आपस में कह रही हैं—

लोचनाभिराम घनस्याम राम-रूप सिसु,
सखी कहै सखी सों, तू प्रेमपय पालि री[2]।

इस समय सभी अतृप्त होकर राम का रूप निहार रहे हैं। दुलहिन सीता भी अपने को रोक नहीं सकती। उसने बड़ी चतुराई से राम का दर्शन करना आरंभ किया। 'कवितावली' में तुलसी ने कहा है—

राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं।
यातें सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारति नाहीं[3]।

दशरथ को यह शुभ संवाद मिलता है। बरात सजाकर वे प्रसन्नता से जनकपुर को चल देते हैं। जनक उन्हें जनवासे में ठहराते हैं। विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को साथ लेकर उनके पास पहुँचते हैं। इतने दिनों के बिछुड़े पुत्रों को पाकर दशरथ की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता। शुभ लगन में राम ब्याहने जाते हैं। 'जानकी-मंगल' में कवि ने राम की इस समय की शोभा का इस प्रकार वर्णन किया है—

ब्याह - बिभूषन - भूषित भूषन - भूषन।
बिस्व बिलोचन बनज बिकासक पूषन।

---

१. 'मानस', बालकांड, दोहा २६९।
३. 'कवितावली', बालकांड, छंद १२।
२. 'कवितावली', बालकांड, छंद १७।

मध्य बरात बिराजत अति अनुकूलेउ ।
मनहुँ काम आराम कल्पतरु फूलेउ[1] ।

'जानकी-मंगल' का यह रूप-वर्णन सूत्र रूप में है। अतः दूलह राम के रूप का जो वर्णन 'मानस' में कवि ने किया है, वह इससे बहुत विस्तृत और सुंदर है—

राम-रूप नखसिख सुभग बारहिंबार निहारि ।
पुलक गात लोचन सजल उमा समेत पुरारि ।
केकि कंठ दुति स्यामल अंगा । तड़ित बिनिंदक बसन सुरंगा ।
ब्याह बिभूषन बिबिध बनाए । मंगलमय सब भाँति सुहाए ।
सरद बिमल बिधु बदन सुहावन । नयन नवल राजीव लजावन ।
सकल अलौकिक सुंदरताई । कहि न जाइ मनही मन भाई[2] ।

अब तक हमने राम के जितने बार दर्शन किये हैं, वे पैदल खेलते या मार्ग में चलते दिखायी दिये हैं। इस समय विशेषता यह है कि राम घोड़े पर सवार हैं। इसलिए कवि ने राम के घोड़े का भी वर्णन किया है—

जेहि तुरंग पर राम बिराजे । गति बिलोकि खगनायकु लाजे ।
कहि न जाइ सब भाँति सुहावा । बाजि बेषु जनु काम बनावा ।
जनु बाजि बेषु बनाइ मनसिज राम हित अति सोहई ।
आपनें बय रूप बल गुन गति सकल भुवन बिमोहई ।
जगमगत जीन जराव जोति सुमोति मनि मानिक लगे ।
किंकिनि ललाम लगाम ललित बिलोकि सुर-नर-मुनि ठगे ।
प्रभु मनसहिं लयलीन मनु चलत बाजि छबि पाव ।
भूषित उड़गन तड़ित घन जनु बर बरहि नचाव ।
जेहिं बर बाजि रामु असवारा । तेहि सारदउ न बरनै पारा[3] ।

राम मंडप में बिराजते हैं। कुलरीति से विवाह होता है। जनकपुर और अयोध्यावासियों की प्रसन्नता की आज सीमा नहीं है। उन्हें आज जीवन का सच्चा सुख मिल जाता है। राम की बायीं ओर सीता को देखकर उन्हें न जाने

१. 'जानकी मंगल', छंद १३९-४० ।
२. 'मानस', बालकांड, दोहा ३१५ ।
३. 'मानस', बालकांड दोहा ३१६-१७ ।

कितनी प्रसन्नता होती है। 'गीतावली' में कवि ने दूलह राम और दुलहिन सीता के रूप का वर्णन 'मानस' से भी अधिक विस्तार से किया है। यहाँ हम केवल एक पद उद्धृत कर रहे हैं—

दूलह राम, सीय दुलही री !
घन-दामिनि-बर-बरन मन सुंदरता नखसिख निबही री।
ब्याह-बिभूषन-बसन-बिभूषित, सखि-अवलि लखि ठगि सी रही री।
जीवन-जनम-लाहु लोचन-फल है इतनोइ, लह्यो आजु सही री।
सुखमा-सुरभि सिंगार-छीर दुहि मयन अमिय-मय कियो है दही री।
मथि माखन सिय-राम सँवारे सकल भुवन-छबि मनहुँ मही री।
तुलसिदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल न जाति कही री।
रूप-रासि बिरची बिरंचि मनो सिला लवनि रति-काम लही री[1]।

विवाह सानंद संपन्न होता है। बराती जनवासे लौट जाते हैं। सखियाँ दूलह और दुलहिन को कोहबर को ले जा रही हैं। राम की शोभा इस समय दूसरी है ! 'मानस' में कवि कहता है—

स्याम सरीर सुभायँ सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन।
जावक जुत पद कमल सुहाए। मुनि मन मधुप रहत जिन्ह छाए।
पीत पुनीत मनोहर धोती। हरत बाल - रवि दामिनि जोती।
कल किंकिनि कटि सूत्र मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुंदर।
पीत जनेउ महाछबि देई। कर मुद्रिका चोरि चितु लेई।
सोहत ब्याह साज सब साजे। उर आयत उर भूषन राजे।
पियर उपरना काँखा सोती। दुहुँ आँचरन्हि लगे मनि मोती।
नयन कमल कल कुंडल काना। बदन सकल सौंदय निधाना।
सुंदर भृकुटि मनोहर नासा। भाल तिलकु रुचिरता निवासा।
सोहत मौर मनोहर माथे। मंगलमय मुकता मनि गाथे।
गाथे महामनि मौर मंजुल अंग सब चित चोरहीं।
पुर नारि सुर सुंदरी बरहिं बिलोकि सब तृन तोरहीं[2]।

विवाह के समय की जिन आवश्यक बातों—यथा (१) पीली धोती,

---

१. 'गीतावली', बालकांड, पद १०६।
२. 'मानस', बालकांड, दोहा ३२७।

(२) कर-मुद्रिका, (३) पियर उपरना, (४) मौर आदि—का वर्णन कवि ने ऊपर नहीं किया था, उन्हें यहाँ एकत्र करके उसने दूलह राम के रूप का पूर्ण दर्शन हमें करा दिया है।

विवाह के पश्चात् राम कुछ ही वर्ष अयोध्या में सुख से रहते हैं कि वन जाने का प्रश्न सामने आता है। राम की बाल्यावस्था और किशोरावस्था बड़े सुख से राजमहल में बीती है; परंतु युवावस्था के आरंभ में ही विधाता से जैसे उनका सुख देखा नहीं जाता। विमाता उन्हें वन भेजती है ; पिता पहले ही वचन-बद्ध हो चुके हैं। अतः राम वन जाने को तैयार होते हैं। अब तक उन्होंने रेशमी वस्त्र और बहुमूल्य आभूषण धारण किये ; अब उन्हें संन्यासियों के से कपड़े पहनने पड़ते हैं। अब तक वे रथ और घोड़े-पर घूमते रहे, अब उन्हें जंगलों के कंटकाकीर्ण पथ पर पैदल चलना पड़ता है। किसी भी साधारण युवक के सौंदर्य पर इस महान परिवर्तन का भारी प्रभाव अवश्य पड़ता; उसका मुख सूख जाता, उसके चेहरे की कांति पीली पड़ जाती, शरीर दुबला-पतला हो जाता ; परंतु तुलसी अपने राम के सौंदर्य पर इस प्रकार का कोई प्रभाव अथवा परिवर्तन नहीं होने देते। अयोध्या-वासी राम और वन-वासी-राम में केवल वस्त्राभूषण का ऊपरी अंतर हमें दिखायी देता है। वन में भी उनके हृदय और मन उसी प्रकार प्रसन्न हैं जैसे अयोध्या में रहने पर थे। इसी से उनके मुख की कांति पूर्ववत् ही मनोहर बनी रहती है ; उनका शरीर वैसा ही हृष्ट-पुष्ट रहता है। अयोध्या से निकलकर राम एक पेड़ की छाया में खड़े होते हैं—

ठाढ़े हैं नव द्रुम डार गहें, धनु काँधे धरें, कर सायक लै।
बिकटी भृकुटी बड़री अँखियाँ, अनमोल कपोलन की छबि है।

....

स्रम-सीकर साँवरि देह लसैं मनो रासि महा तम तारक मै[1]।

यह दर्शन बड़ा पुनीत है। वन जाने के दुख का लेश भी नहीं है—न राम के मन में ही और न तुलसी की कविता में ही। 'मानस' में कवि ने मार्ग में चलते हुए राम के भी दर्शन कराये हैं—

तरुन तमाल बरन तनु सोहा। देखत कोटि मदन मन मोहा।

....

१. 'कवितावली', अयोध्याकांड, छंद १३।

मुनि पट कटिन्ह कसे तूनीरा। सोहहिं कर कमलनि धनु तीरा।
जटा मुकुट सीसनि सुभग, उर भुज नयन बिसाल।
सरद परब बिधु बदन-बर, लसत स्वेद कन जाल[1]।

'मानस' में कथा चलती रहती है। इसलिए उसमें कवि को एक ही बात पर, भले ही वह कितनी सुंदर, मार्मिक और हृदयहारी क्यों न हो—निर्दिष्ट और आवश्यक समय और स्थान से अधिक देने का अधिकार नहीं है; इस नियम का पालन न करने पर कथा का अनुपात बिगड़ जाता है। परंतु मुक्तक काव्य की रचना करते समय कवि पूर्ण-रूप से स्वतंत्र रहता है। अपने प्रिय और रुचिकर प्रसंगों को वह इच्छानुसार विस्तार दे सकता है। 'कवितावली' और 'गीतावली' में कवि ने इसी स्वतंत्रता का उपयोग किया है। इनमें 'मानस' की कथा में समस्त विवरणात्मक अंशों को छोड़कर उसने केवल उन्हीं विषयों पर छंद या पद बनाये हैं जिनमें मानव-हृदय को स्पर्श करने की पूरी क्षमता है। राम-वन-गमन का प्रसंग भी ऐसा ही है। इसलिए 'गीतावली' और 'कवितावली' में इस विषय पर कई मार्मिक पद और छंद हैं। यहाँ हम केवल राम-रूप संबंधी कुछ पंक्तियाँ ही उद्धृत करते हैं—

नृपति कुँवर राजत मग जात।
सुंदर बदन, सरोरुह लोचन, मरकत-कनक बरन मृदु गात।
अंसनि चाप, तून कटि मुनिपट जटा मुकुट बिच नूतन पात।
फेरत पानि-सरोजनि सायक, चोरत चितहिं सहज मुसुकात[2]।

इस वर्णन से भी स्पष्ट है कि वन-गमन-प्रसंग से युवक राम को किसी प्रकार का कष्ट नहीं है; वे सदैव की भाँति ही प्रसन्न वदन हैं। हाँ, पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए 'मुनि-पट' वे अवश्य धारण किये हुए हैं। इसी प्रकार का एक चित्र और देखिए—

जलज नयन, जलजानन, जटा है सिर,
जोबन उमंग अंग उदित उदार हैं।
साँवरे गोरे के बीच भामिनी सुदामिनी-सी,
मुनि-पट धारैं उर फूलनि के हार हैं।

---

१. 'मानस', अयोध्याकांड, दोहा ११५।
२. 'गीतावली', अयोध्याकांड, पद १५।

कंधनि सरासन सिलीमुख, निषंग कटि,
अति ही अनूप काहू भूप के कुमार हैं।
तुलसी बिलोकि कै तिलोक के तिलक तीनि
रहे नर-नारि ज्यों चितेरे चित्रसार हैं[१]।

मार्ग में जाते राम, लक्ष्मण और सीता को देखकर ग्रामों के स्त्री-पुरुष बातचीत कर रहे हैं। 'कवितावली' से उद्धृत ऊपर के छंद में उनकी दृष्टि तीनों पर पड़ती है; परंतु 'गीतावली' के इस पद में केवल राम के रूप का ही उन्होंने वर्णन किया है—

कुँवर साँवरो री सजनी! सुंदर सब अंग।
रोम-रोम छबि निहारि आलि वारि फेरि डारि,
कोटि भानु-सुवन सरद-सोम, कोटि अनंग।
बाम अंग लसत चाप, मौलि मंजु जटा-कलाप,
सुचि सर कर, मुनि पट कटि-तट कसे निषंग।
आयत उर-बाहु-नैन, मुख-सुखमा को लहै न,
उपमा अवलोकि लोक, गिरामति-गति भंग[२]।

इसी प्रकार 'कवितावली' की ये दो पंक्तियाँ भी राम के लिए ही प्रयुक्त हुई हैं—

सीस जटा उर बाहु बिसाल, बिलोचन लाल, तिरीछी सी भौंहैं।
तून सरासन बान धरें, तुलसी बन मारग में सुठि सोहैं[३]।

ग्राम-वासी इस सौंदर्य को देखकर इतने मुग्ध हो गये कि राम के जाने के बाद भी जैसे तीनों मूर्तियाँ उनके नेत्रों के सामने नाचती रहीं। उस दिन ही नहीं, बहुत दिनों तक उनमें इनकी चर्चा रही। बहुतों को इस बात की लालसा ही रह गयी कि हमने राम का पूरा दर्शन नहीं किया। नीचे के दो पद 'गीतावली' से उद्धृत किये जाते हैं जिनसे ग्रामवासियों के राम, लक्ष्मण और सीता के रूप-संबंधी विचारों का परिचय मिलता है—

---

१. 'कवितावली, अयोध्याकांड, छंद १४।
२. 'गीतावली', अयोध्याकांड, पद १७।
३. 'कवितावली', अयोध्याकांड, छंद २१।

नीकैं कै मैं न बिलोकन पाए।
सखि ! यहि मग जुग पथिक मनोहर, बधु बिधु-बदनि समेत सिधाए।
नयन सरोज किसोर बयस बर, सीस जटा रचि मुकुट बनाए।
कटि मुनि बसन तून, धनु-सर कर, स्यामल गौर सुभाय सोहाए।
सुंदर बदन, बिसाल बाहु उर, तनु छबि कोटि मनोज लजाए।
चितवत मोहि लगी चौंधी-सी, जानौं न, कौन कहा तें धौं आए[1]।

ग्राम-वासियों पर राम, लक्ष्मण और सीता के सुंदर रूप का इतना प्रभाव पड़ा था कि उनके सामने हर समय तीनों मूर्तियाँ जैसे नाचती रहीं। उनके पुनः दर्शन की लालसा अब भी उनके में बनी हुई है—

पुनि न फिरे दोउ बीर बटाऊ।
स्यामल-गौर, सहज सुंदर सखि ! बारक बहुरि बिलोकिबे चाऊ।
कर-कमलनि सर, सुभग सरासन, कटि मुनि बसन, निषंग सोहाए।
भुज प्रलंब सब अंग मनोहर, धन्य सो जनक-जननि जेहि जाए।
सरद-बिमल-बिधु-बदन जटा सिर, मंजुल अरुन - सरोरुह - लोचन।
तुलसिदास मनमय मारग में राजत कोटि - मदन - मद - मोचन[2]।

राम चित्रकूट पहुँचने पर कुटी बनाकर रहने लगे। भरत अयोध्या आये; सब समाचार उन्हें विदित हुआ। बहुत - कुछ सोच - विचार के पश्चात् उन्होंने राम के दर्शन करने के लिए वन जाना निश्चित किया। अयोध्यावसियों को लेकर वे चित्रकूट पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा—

बलकल बसन जटिल तनु स्यामा। जनु मुनि बेष कीन्ह रति-कामा।
कर कमलनि धनु सायक फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत।
लसत मंजु मुनि मंडली मध्य सीय रघुचंद।
ग्यान सभा जनु तनु धरें भगति सच्चिदानंद[3]।

जंगल में बसकर राम के मनोरंजन का प्रधान साधन शिकार करना था। तुलसी ने उनके इस सौंदर्य का—शिकार खेलते राम का—भी वर्णन किया है। 'कवितावली' में वे कहते हैं—

---

१. 'गीतावली', अयोध्याकांड, पद ३४।
२. 'गीतावली', अयोध्याकांड, पद ३६।
३. 'मानस', अयोध्याकांड, दोहा २३९।

प्रेम सों पीछे तिरीछे प्रियाहि चितै चितु दै चले लै चितु चोरें।
स्याम सरीर पसेउ लसै हुलसै तुलसी छबि सों मन मोरें।
लोचन लोल, चलै भृकुटी कल काम-कमानहु सो तृन तोरें।
राजत राम कुरंग के संग निषंग कसे धनु सों सर जोरे[1] ॥

यह तो मृग के पीछे दौड़ते राम का चित्र हुआ। दूसरे छंद में शिकारी के वेश में घूमते-फिरते राम का दर्शन कीजिए —

सर चारिक चारु बनाइ कसे कटि पानि सरासन सायक लै।
बन खेलत राम फिरैं मृगया तुलसी छबि सो बरनै किमि कै॥
अवलोकि अलौकिक रूप मृगी मृग चौंकि चकैं चितवैं चित दै।
न डगैं न भगैं जियँ जानि सिलीमुख पंच धरें रतिनायक है[2] ॥

भरत के अयोध्या लौट जाने पर चित्रकूट में कुछ दिन बस कर राम पंचवटी की कुटी में रहने लगे। शूर्पणखा की नाक काटने पर वहीं उनका खर-दूषण से युद्ध हुआ। युद्ध के लिए तैयार राम का वीर वेश देखिए—

कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जटजूट बाँधत सोह क्यों?
मरकत सयल पर लरत दामिनि कोटि सों जुग भुजंग ज्यों।
कटि कसि निषंग बिसाल भुज गहि चाप बिसिख सुधारि कै।
चितवत मनहुँ मृगराज प्रभु गजराज घटा निहारि कै[3] ॥

लंका-दहन के पश्चात् विभीषण का रावण ने अपमान किया। वह राम की शरण चला। मार्ग में वह अपने मन में अनेक कल्पित मूर्तियाँ बनाता आता है। राम के निकट आकर उसने उनके जिस रूप के दर्शन किये उसे भी देखिए—

दूरहि ते देखे दोउ भ्राता। नयनानंद दान के दाता।
बहुरि राम छबिधाम बिलोकी। रहेउ ठठुकि एकटक पल रोकी।
भुज प्रलंब कंजारुन लोचन। स्यामल गात प्रनत भय मोचन।
सिंघ कंध आयत उर सोहा। आनन अमित मदन छबि मोहा[4]।

---

१. 'कवितावली', अयोध्याकांड, छंद २६।
२. 'कवितावली', अयोध्याकांड, छंद २७।
३. 'मानस,' अरण्यकांड, दोहा १८।
४. 'मानस', सुंदरकांड, दोहा ४५।

राम ने लंका पर चढ़ाई की। रावण की ओर से कुम्भकर्ण युद्ध करने आया। राम उससे युद्ध को तैयार हुए। लोमहर्षण युद्ध के पश्चात् वह मारा गया। उस समय राम की शोभा देखते ही बनती है—

संग्राम भूमि बिराज रघुपति अतुल बल कोसलधनी।
स्रम बिंदु मुख राजीव लोचन रुचिर तन सोनित कनी।
भुज जुगल फेरत सर सरासन, भालु कपि चहुँदिसि बने।
कह दास तुलसी कहि न सक छबि सेष जेहि आनन घने[1]।

अंत में रावण युद्ध करने आता है। वह बड़ा वीर है। राम भी युद्ध के लिए तैयार होते हैं। देवताओं के सबसे भयंकर शत्रु रावण से युद्ध करने को तैयार राम की छवि का वर्णन तुलसी ने इस प्रकार किया है—

जटाजूट दृढ़ बाँधे माथे। सोहहिं सुमन बीच बिच गाथे।
अरुन नयन बारिद तनु स्यामा। अखिल लोक लोचन अभिरामा।
कटि तट परिकर कसेउ निषंगा। कर कोदंड कठिन सारंगा।
सारंग कर सुंदर निषंग सिलीमुखाकर कटि कस्यो।
भुजदंड पीन मनोहरायत उर धरासुर पद लस्यो[2]।

युद्ध आरंभ हुआ। रक्त के फुहारे छूटने लगे। राम भयंकर युद्ध कर रहे थे। रक्त की छीटें उनके शरीर पर भी पड़ रही थीं। इस बात को लेकर कवि कहता है—

स्रोनित छीटि-छटानि-जटे तुलसी प्रभु सोहैं महा छबि छूटी।
मानो मरक्कत सैल बिसाल में फैल चलीं बर बीर बहूटी[3]।

अंत में रावण मारा जाता है। पृथ्वी का भार हलका होता है। देवताओं और ऋषि-मुनियों का भय दूर होता है। वे राम के इस रूप की प्रशंसात्मक प्रार्थना करते हैं—

सिर जटा मुकुट प्रसून बिच-बिच अति मनोहर राजहीं।
जनु नीलगिरि पर तड़ित पटल समेत उडुगन भ्राजहीं।

---

१. 'मानस', लंकाकांड, दोहा ७१।
२. 'मानस', लंकाकांड, दोहा ८६।
३. 'कवितावली,' लंकाकांड, छंद ५१।

भुज दंड सर कोदंड फेरत रुधिर कन तन अति बने।
जनु रायमुनीं तमाल पर बैठीं बिपुल सुख आपने[1]।

लंका-युद्ध में राम की विजय होती है। विभीषण को लंका का राज्य देकर राम अयोध्या आते हैं। बड़ी धूमधाम से प्रजा उनका स्वागत करती है। महलों में आकर वे स्नान करते हैं। 'मानस' में तो उनके स्नान की बात आधी पंक्ति में ही समाप्तकर दी गयी है, जिससे यही जान पड़ता है कि शीघ्र ही सेवकों ने उन्हें स्नान करा दिया; परंतु 'गीतावली' में कवि ने उन्हें सरयू में स्नान कराया है और उस समय के उनके रूप का विस्तृत वर्णन भी पूरे पद में किया है—

देखु सखि! आज रघुनाथ सोभा बनी।
नील - नीरद - बरन - बपुष भुवनाभरन, पीत अंबर - धरन हरन दुति - दामिनी॥
सरजु मज्जन किए संग सज्जन लिए, हेतु जन पर हिए कृपा कोमल घनी।
सजनि! आवत भवन मत्त - गजवर-गवन लंक मृगपति ठवनि कुँवर कोसल धनी॥
सघन चिक्कन कुटिल चिकुर बिलुलित मृदुल, करनि बिबरत चतुर सरस सुषमा जनी।
ललित अहि-सिसु-निकर मनहुँ ससि सन समर, लरत, धरहरि रुचिर जनु जुग फनी॥
भाल भ्राजत तिलक जलज-लोचन पलक, चारु भ्रू नासिका सुभग सुक-आननी।
चिबुक सुंदर अधर अरुन द्विज दुति सुघर, बचन गंभीर मृदु हास भव-भाननी॥
स्रवन-कुंडल बिमल गंड मंडित चपल, कलित कल काँति अति भाँति कछु तिन्ह तनी।
जुगल कंचन-मकर मनहु बिधुकर मधुर, पियत पहिचानि करि सिंधुकीरति भनी॥
उरसि राजत पदकि, ज्योति रचना अधिक, माल सुबिसाल चहुँ पास बनि गजमनी।
स्याम नव जलद पर निरखि दिनकर कला, कौतुकी मनहुँ रही घेरि उडुगन अनी॥
....
दास तुलसी राम परम करुना धाम, काम - सत कोटि मद हरत छबि आपनी[2]॥

इस पद में सरयू से नहाकर लौटते हुए राम के सौंदर्य का पूरा वर्णन कवि ने उन स्त्रियों के मुख से कराया है जो अटारियों पर चढ़ी हुई राम के दर्शन कर रही हैं। 'मानस' के उत्तरकांड में कहीं ऐसा विस्तृत और पूर्ण चित्र नहीं मिलता—यहाँ तक कि राम के तिलक के समय का भी जो वर्णन है, वह बहुत चलताऊ है। जान पड़ता है कि 'मानस' के उत्तरकांड तक पहुँचते-पहुँचते

१. 'मानस,' लंकाकांड, दोहा १०३।
२. 'गीतावली', उत्तरकांड, छंद ५।

कवि के पास राम-कथा के संबंध में कुछ अधिक कहने को नहीं रह जाता; कवि जैसे ऊब-सा जाता है। इसका प्रमाण यह है कि 'मानस' के उत्तरकांड में राम के लौकिक जीवन के विषय में हमें कुछ भी वृत्त नहीं मिलता। यहाँ तक कि राजगद्दी के समय सिंहासन पर बैठे हुए राम की शोभा का वर्णन भी अत्यंत संक्षेप में किया गया है—

सिय-सहित दिनकर बंस-भूषन काम बहु छबि सोहई।
नव अंबुधर बर गात अंबर पीत मुनि मन मोहई।
मुकुटांगदादि बिचित्र भूषन अंग-अंगन्हि प्रति सजे।
अंभोजनयन बिसाल उर भुज धन्य नर निरखंत जे।
वह सोभा समाज सुख कहत न बनइ खगेस[1]।

इन पंक्तियों में 'आदि' और 'कहत न बनै' कहकर कवि ने वर्णन समाप्त कर दिया है। अतएव 'गीतावली' में इस कमी को वह बहुत अंशों में पूरा करता है। इस काव्य में सिंहासनस्थ राम के सौंदर्य-संबंधी कई लंबे-लंबे पद हैं। यहाँ केवल एक पद इस प्रसंग का दिया जा रहा है—

आजु रघुबीर-छबि जाति नहिं कछु कही।
सुभग सिंहासनासीन सीतारमन, भुवन-अभिराम बहु काम सोभा सही॥
चारु चामर-ब्यजन छत्र-मनिगन बिपुल, दाम मुकुतावली-जोति जगमति रही।
मनहुँ राकेस सँग हंस उडुगन-बरहिं, मिलन आए हृदय जानि निज नाथ ही॥
मुकुट सुंदर सिरसि भाल बर तिलक-भ्रू, कुटिल कच कुंडलनि परम आभा लही।
मनहुँ हर-डर जुगुल मारध्वज के मकर, लागि स्रवननि करत मेरु की बतकही॥
अरुन-राजीव-दल-नयन करुना-अयन, बदन सुषमासदन, हास त्रयत्राप ही।
बिबिध कंकनहार उरसि गजमनि-माल, मनहुँ बग पाँति जुग मिलि चली जलद ही॥
पीत निर्मल चैल मनहुँ मरकत सैल, पृथुल दामिनि रही छाइ तजि सहज ही।
ललित सायक-चाप पीन भुज बल अतुल, मनुज तनु दनुज-बन-दहन मंडन-मही[2]॥

'गीतावली' के उत्तरकांड में आरंभ के १८ पद प्राय: इतने ही लंबे हैं और उनका विषय भी यही है। मुक्तक अथवा गीत-काव्य का रचयिता जिन विषयों को अपनाता है, वे उसे अत्यंत रुचिकर होते हैं। इस लेख के आरंभ से अब

१. 'मानस', उत्तरकांड, दोहा १२ क।
२. 'गीतावली,' उत्तरकांड, पद ६।

तक राम-रूप-वर्णन संबंधी जो अवतरण ये दिये गये हैं उनसे स्पष्ट है कि राम के रूप की झाँकी दिखाना कवि को अत्यंत प्रिय है। 'मानस' के उत्तरकांड में कवि राम-कथा को छोड़कर भक्ति और ज्ञान की चर्चा करने लगता है। इसलिए 'गीतावली' में उसने राजा राम का वर्णन करके पुनरुक्ति दोष से उसे बचाया है। एक पद में तो उसने राम की उन सब बातों का वर्णन किया है जो भक्ति-मूलक होते हुए भी सुंदर हैं—

सुमिरत श्री रघुबीर की बाहैं।
होत सुगम भव-उदधि अगम अति, कोउ लाँघत कोउ उतरत थाहैं॥
सुंदर - स्याम - सरीर सैल तें धँसि जनु जुग जमुना अवगाहैं।
अमित अमल जल-बल परिपूरन जनु जनमी सिंगार - सविता हैं॥
धारैं बान कूल धनु भूषन जलचर, भँवर सुभग सब घाहैं।
बिलसति बीचि बिजय - बिरदावलि, कर - सरोज सोहत सुषमा हैं[1]॥

'विनय-पत्रिका' के बहुत से पदों में राम के रूप का वर्णन तुलसी ने किया है। यह वर्णन कवि तुलसी का न होकर भक्त तुलसी का है और बहुत कुछ उस रूप से मिलता-जुलता है जिसका दर्शन स्वायंभुव मनु ने अपनी स्त्री के साथ किया था। अंतर इतना है कि यहाँ कवि जानकी सहित सिंहासनस्थ राम के अनुपम सौंदर्य का वर्णन कर रहा है। प्रायः सभी पद लंबे हैं; इसलिए यहाँ हम दो पदों की कुछ पंक्तियाँ ही दे रहे हैं—

स्याम-नव-तामरस-दाम-द्युति बपुष-छबि, कोटि मदनार्क अगनित प्रकासम्।
तरुन रमनीय राजीव लोचन ललित बदन राकेस-कर-निकर हासम्।
सकल सौंदर्य-निधि बिपुल गुनधाम बिधि-बेद-बुध संभु सेवित अमानम्।
अरुन - पद-कंज मकरंद - मंदाकिनी मधुप - मुनिवृंद कुर्वंति पानम्[2]।

\+ \+ \+

अमल मरकत स्याम काम सत कोटि छबि पीतपट तड़ित इव जलद नीलम्।
अरुन - सतपत्र - लोचन बिलोकनि चारु प्रनत जन - सुखद करुनार्द्र सीलम्।
....

मुकुट कुंडल तिलक अलक अलिब्रात इव, भृकुटि-द्विज अधर बर चारु नासा।
रुचिर सुकपोल दरग्रीव सुख - सींव हरि इंदुकर कुंदमिव मधुर हासा[3]।

---

१. 'गीतावली', उत्तरकांड, पद १३।

२. 'विनयपत्रिका,' पद ६०। ३. 'विनयपत्रिका, पद ६१।

सारांश यह कि मनुष्य का जो सुंदर-तम रूप हो सकता है तुलसी ने अपने राम को उसी से युक्त सर्वत्र चित्रित किया है। सौंदर्य के कई कारण हो सकते हैं। प्रथम, राम जन्म से ही सुंदर थे। दूसरे, उन्होंने उचित अवस्था तक ब्रह्मचर्य का पालन किया। इससे उनके मुख की कांति बहुत बढ़ गयी। कर्तव्य-पालन, सच्चरित्र और शील भी सौंदर्य को बढ़ाने में सहायक होते हैं। राम में ये सभी गुण थे। वस्त्राभूषणों से भी रूप अधिक आकर्षक होता है। राम चक्रवर्ती राजा के पुत्र थे; तब उनको इनकी क्या कमी ? फलतः राम के अनुपम और अपार सौंदर्य का प्रभाव सभी पर पड़ता है। सभी उनको देखकर प्रसन्न हो जाते हैं। माता-पिता और अयोध्यावासियों की प्रसन्नता की बात हम नहीं उठाते—उनका तो राम को देखकर सुखी होना स्वाभाविक ही था; परंतु राम की रूप इतना बढ़ा-चढ़ा था कि विश्वामित्र भी उन्हें देखकर पुलकित हो जाते हैं—

पुलकत रिषि अवलोकि अमित छबि, उर न समात प्रेम की भीर[1]।

महाराज जनक विदेह कहलाते हैं। परंतु राम का रूप देखकर वे सत्य ही विदेह हो जाते हैं। 'मानस' में उनकी स्थिति देखिए और उनका कथन सुनिए—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ बिदेहु बिदेहु बिसेखी।
प्रेम मगन मन जानि नृप करि बिबेक धरि धीर।
बोलेउ मुनिपद नाइ सिरु गदगद गिरा गँभीर।
कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनि कुल तिलक कि नृप कुल पालक।
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा।
सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा।
इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा[2]।

'जानकी मंगल' में भी जनक की दशा राम को देखकर ऐसी ही हो गयी है। देखिए—

देखि मनोहर मूरति मन अनुरागेउ। बँधेउ सनेह बिदेह बिराग बिरागेउ।
प्रमुदित हृदय सराहत भवसागर। जहँ उपजहिं अस मानिक बिधि बड़ नागर।
पुन्य पयोधि मातुपितु ए सिसु सुरतरु। रूप-सुधा-सुख देत नयन अमरनि बरु[3]।

---

१. 'गीतावली', बालकांड, पद ५४।

२. 'मानस', बालकांड, दोहा ११५-१६।

३. 'जानकी मंगल', छंद ४६-४७-४८।

राम का परिचय विश्वामित्र से पूछते हुए अगले छंद में 'मानस' की तरह ही जनक कहते हैं—

बिषय बिमुख मन मोर सेइ परमारथ। इन्हहिं देखि भयो मगन जानि बड़ स्वारथ[1]।

'गीतावली' में भी महाराज जनक पर राम के प्रथम दर्शन का प्रभाव ऐसा ही पड़ता है। राम को देखकर उनकी जो दशा हुई, कवि ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है—

सुख के निधान पाए हिय के पिधान, ठग के से लाडू खाए प्रेम-मधु-छाके हैं।
स्वारथ - रहित परमारथी कहावत हैं, मे सनेह - बिबस बिदेहता बिबाके हैं।
सील-सुधा के अगार सुखमा के पारावार, पावत न पैरि पार पैरि पैरि थाके हैं[2]।

केवल जनक की ही नहीं, उनकी सारी सभा की यही दशा हो रही है। 'मानस' में कवि लिखता है—

देखि लोग सब भए सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे [3]।

'गीतावली' में भी राम का दर्शन पाकर सारी सभा की दशा ऐसी हो गयी है—

लोचन ललकि लागे मन अति अनुरागे; एक रसरूप चित सकल सभा के हैं[4]।

दूलह राम को देखकर जो सुख जनक और अयोध्यापुरबासियों को मिला उसका अनुमान देवताओं का सुख और अभिलाषा देखकर किया जा सकता है—

संकर राम रूप अनुरागे। नयन पंचदस अति प्रिय लागे।
हरि हित सहित राम जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे।
निरखि राम छबि बिधि हरषाने। आठइ नयन जानि पछिताने।
सुर सेनप उर बहुत उछाहू। बिधि ते ड्यौढ़े लोचन लाहू।
रामहिं चितव सुरेस सुजाना। गौतम साप परमहित माना।
देव सकल सुरपतिहिं सिहाहीं। आज पुरंदर सम कोउ नाहीं[5]।

---

१. 'जानकी-मंगल', छंद ४१।
२. 'गीतावली,' बालकांड, पद ६२।
३. 'मानस', बालकांड, दोहा २४४।
४. 'गीतावली', बालकांड, पद ६४।
५. 'मानस', बालकांड, दोहा ३१७।

राम के सौंदर्य-प्रभाव का एक दृश्य बस और दिखाना है। राम वन जा रहे हैं। शरीर पर राजाओं के योग्य किसी प्रकार के वस्त्राभूषण नहीं है; परंतु मार्ग के लोग इन्हें देखकर मुग्ध हो जाते हैं। 'कवितावली' में इस विषय के सुंदर छंद मिलते हैं। किसी के हृदय में उनको नंगे पैर चलते देखकर कसक उठती है, कोई उन्हें वन में देखकर ही ममता से विलख रहा है। और उनके चले जाने के बाद गाँव की स्त्रियाँ आपस में कहती हैं—

जिन देखे सखी! सत भावहु तें तुलसी तिन तौ मन फेरि न पाए[1]।

'मानस' में इस विषय का संगठित वर्णन है। वहाँ ग्रामवासी नेत्रों का सुख तो लूटते ही हैं; राम के प्रति एक प्रकार की आत्मीयता का अनुभव करके उनका स्वागत-सत्कार भी करते हैं—

राम लखन सिय रूप निहारी। पाइ नयन फल होहिं सुखारी।
सजल बिलोचन पुलकि सरीरा। सब भए मगन देखि दोउ बीरा।
बरनि न जाइ दसा तिन केरी। लहि जनु रंकन्ह सुर-मनि ढेरी।
एकन्ह एक बोलि सिख देहीं। लोचन लाहु लेहु छिन एहीं।
रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे।
एक नयन मग छबि उर आनी। होहिं सिथिल तन-मन-बर बानी।
एक देखि बट-छाँह भलि, डासि मृदुल तृन पात।
कहहिं गँवाइअ छिनकु स्रम गमनब अबहिं कि प्रात।
एक कलस भरि आनहिं पानी। अँचइअ नाथ कहहिं मृदु बानी।

\+ \+ \+ \+

एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचंद्र मुखचंद्र चकोरा[2]।

सारांश यह कि राम के दिव्य रूप का अमित प्रभाव गोस्वामी तुलसीदास ने प्राणी मात्र पर दिखलाया है।

---

१. 'कवितावली', अयोध्याकांड, छंद २४।

२. 'मानस,' अयोध्याकांड, दोहा ११४-१९।

तुलसी का काव्यादर्श

स्थूल रूप से काव्यादर्श के तीन अंग हैं—विषय-संबंधी, उद्देश्य-संबंधी और शैली-संबंधी आदर्श। प्रथम से तात्पर्य है विषय, पात्र, उनसे संबंधित समस्याओं और क्षेत्र के संबंध में कवि का आदर्श। द्वितीय के अंतर्गत कला और उपयोगिता अथवा सत्यं शिवं सुंदरं-संबंधी आदर्श आता है। और तृतीय में रस, छंद, अलंकार आदि शैलीगत बातों की चर्चा की जाती है। इन विषयों का प्रतिपादन भी तीन प्रकार से किया जाता है—प्रथम, कवि के तत्संबंधी विचारों की व्याख्या करके; द्वितीय, कवि के वर्णनों के आधार पर निष्कर्ष निकालकर और तृतीय पद्धति है उक्त दोनों प्रणालियों का समन्वय करके। प्रस्तुत लेख में गोस्वामी जी के काव्यादर्श संबंधी तीनों अंगों की चर्चा, विषय-प्रतिपादन की तृतीय पद्धति से की जायगी।

परंतु मुख्य विषय को उठाने के पहले यह जानना आवश्यक है कि तुलसीदास ने 'कवि' शब्द का प्रयोग किसके लिए किया है, वे अपने को कवि समझते भी हैं या नहीं और क्यों? एवं कवि-कर्म और कवि-प्रकृति के संबंध में उनके क्या अनुभव हैं?

'कवि' शब्द से तुलसी का तात्पर्य—

'मानस' में तुलसीदास जी ने लिखा है—

कवि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू[1]। सकल कला सब बिद्या हीनू।
आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना।

---

१ अन्यत्र भी कवि ने कहा है

क. कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। -- 'मानस', बालकांड, दोहा १२।

ख. कबित रीति नहिं जानौं कवि न कहावौं।
सिय रघुबीर बिबाह जथामति गावौं॥ जानकी मंगल।

भाव - भेद रस - भेद अपारा । कवित दोष गुन बिबिध प्रकारा ।
कवित - बिबेक एक नहिं मोरें । सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें[1] ।

तुलसी की इस उक्ति के तीन प्रेरक-भाव हो सकते हैं। प्रथम तो यह कि उनकी सम्मति में कवि का पद अत्यंत प्रतिष्ठित है और दैवी देन तथा अनुग्रह के बिना कोई उसे प्राप्त नहीं कर सकता ; यहाँ तक कि उत्कट आकांक्षा होने पर भी उपयुक्त पात्रता अपने में लाना किसी के वश की बात नहीं है। गोस्वामी जी तक जिन पूर्ववर्ती भारतीय कवियों की रचनाएँ पहुँची थीं, निस्संदेह वे दिव्य प्रतिभा-संपन्न थे ; तभी आधुनिक युग के समस्त प्रचार-साधनों के अभाव में उनकी कृतियाँ इतने काल तक जीवित रह सकीं और आज भी उनका मान है। अतएव तुलसीदास यदि 'कवि' शब्द का प्रयोग वाल्मीकि, व्यास, कालिदास जैसे साहित्यकारों के लिए ही करना चाहते हों, जिनकी कृतियाँ शताब्दियों की आयु पाकर उन तक पहुँच सकीं, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। और इस दृष्टि से कोई भी व्यक्ति अपने लिए 'कवि' शब्द का प्रयोग करने की धृष्टता सामान्यतया नहीं कर सकता। कारण, वैसा करने पर समझा जायगा कि वह अपने को उस दैवी देन से संपन्न समझता है जो प्रतिभाशाली और भावुक व्यक्ति को उक्त साहित्यिक विभूतियों के समकक्ष पद, एवं सरस्वती के परम कृपापात्र होने का सौभाग्य सहज ही प्रदान करा देती है। तात्पर्य यह कि गोस्वामी जी की सम्मति में 'कविता' उस महत् पद की अधिकारिणी है जिसकी समता कोई भी लौकिक विभूति नहीं कर सकती और जो भाग्यशाली उसकी सृष्टि में समर्थ हो सके वह भी मानव-समाज में अनुपमेय ही है। काव्यानंद को ब्रह्मानंद-सहोदर मानने के मूल में भी कवि और कविता के असाधारणत्व की ओर ही संकेत किया गया है।

परंतु भारतीय काव्यशास्त्र का विधिवत् अध्ययन करके जो व्यक्ति महाकाव्य की रचना का महत्वपूर्ण अनुष्ठान कर सकने की क्षमता अपने में समझ रहा हो, पूर्ववर्ती अनेकानेक कवियों द्वारा अपनाये गये विषयों पर नये दृष्टिकोण से विचार करके कुछ नयी बात कहने की योग्यता रखता हो, भारतीय जनता की मनोवृत्ति का अध्ययन करके समकालीन ही नहीं, भावी समाज के भी सर्वांगीण कल्याण की योजना प्रस्तुत करने जा रहा हो, एवं देश, जाति, धर्म

1. 'मानस', बालकांड, दोहा ९ ।

के संकुचित क्षेत्र से ऊपर उठकर मानव-मात्र का शुभचिंतक बनकर हितकर संदेश देने को तत्पर हो, वह अपनी प्रतिभा से सर्वथा अपरिचित रहा हो; ऐसा विश्वास नहीं होता। 'मानस' का परिचय देते हुए जब उक्त कथन में तुलसीदास अलंकार, छंद, रस-भेदों और काव्य के गुण-दोषों से भी अपने अनभिज्ञ होने की बात कहते हैं, तब परोक्ष रूप से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि काव्यशास्त्रीय अंगों-उपांगों का उन्होंने गहन अध्ययन किया था, यद्यपि विनयवश वे इसे स्वीकार करना उचित नहीं समझते[1]। ऐसी स्थिति में गोस्वामी जी का अपने में 'कबित-बिबेक' न मानना उनकी नम्रता मात्र है। अपनी 'अयोग्यता' की इस प्रकार सविनय विज्ञप्ति करके कवि जैसे मानसिक अहंवृत्ति को उभरकर पथ-भ्रष्ट होने से रोक देता है और साथ-साथ व्यावहारिक शालीनता की रक्षा करने में भी सहज ही सफल हो जाता है।

तीसरी बात यह जान पड़ती है कि गोस्वामी जी को 'कवि' कहलाने से अधिक संतोष 'भक्त' कहलाने में मिलता है—और वे काव्य-प्रतिभा का सदुपयोग भी राम-कथा-गान करने पर ही समझते हैं। काव्य-प्रतिभा और राम-चरित गान के संबंध की घनिष्ठता गोस्वामी जी की दृष्टि में कितना महत्व रखती है, निम्न-लिखित रूपक से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है—

हृदय-सिंधु मति सीप समाना। स्वाँति सारदा कहहिं सुजाना।
जौं बरषइ बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू।

---

१. 'मानस'-रूपक को स्पष्ट करते हुए भी कवि ने काव्य-संबंधी अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है—

राम सीय जस सलिल सुधासम। उपमा बीचि बिलास मनोरम।
पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई।
छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा।
अरथ अनूप सुभाव सुभाषा। सोइ पराग मकरंद सुबासा।
सुकृत पुंज मंजुल अलि माला। ग्यान बिराग बिचार मराला।
धुनि अवरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहुभाँती।

× × ×

नव रस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा।

—'मानस', बालकांड, दोहा ३७।

जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं राम-चरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग[1]।

भावार्थ यह कि सागर का जल शुद्ध और मधुर होकर जब निर्मल स्वाती नक्षत्र में सीपी में बरसता है तभी कांतियुक्त मोती की उत्पत्ति होती है जिसे तागे में पिरोकर हृदय पर धारण करने से सज्जनों की शोभा-वृद्धि होती है; इसी प्रकार कवि के हृदयाब्धि के भाव सरस्वती की कृपा से, सत् बुद्धि द्वारा पर्याप्त समय तक पोषित होकर, उपयुक्त अवसर पर विचार-रूप में अभिव्यक्त होते हैं, तभी उनको 'कविता' कहा जाता है। सच्चे मोती जिस प्रकार युक्ति से बेधे जाने पर ही तागे में पिरोये जा सकते हैं और तभी सज्जनों के वक्षस्थल की वे शोभा बढ़ाते हैं, वैसे ही सुकवि, काव्य-वृत्ति को युक्तिपूर्वक सांसारिक विषयों से दूर रखकर रामचरित-गान में ही लगाये रखता है। ऐसी रचना सज्जनों के हृदयों को निर्मल करके उनमें प्रेम और भक्तिभाव का संचार करने में सहज ही समर्थ होती है।

गोस्वामी जी के उक्त कथन से स्पष्ट है कि कवि को प्राप्त होनेवाले अमरत्व की कामना में लौकिकता की जो भावना निहित रहती है, गृहस्थ-जीवन को त्यागने के साथ-साथ वे उससे भी ऊपर उठ जाते हैं। युग-विशेष का सर्वोत्तम कवि कहलाने की अपेक्षा तुलसीदास जी राम का तुच्छातितुच्छ कृपापात्र बनने में जीवन की वास्तविक सार्थकता समझते हैं। उन्हें विश्वास है कि भाषा में उनका 'मानस' प्रथम महाकाव्य है और उसको ख्याति भी इतनी मिलेगी कि वे महाकवि के रूप में सहज ही अमर हो जायँगे; परंतु इस सबकी उन्हें कामना नहीं है। अतएव उक्त कथन के द्वारा उन्होंने जैसे अपनी इच्छा सूचित कर दी है कि मेरा भक्त-रूप प्रधान और कवि-रूप गौण समझा जाय। फिर भी गोस्वामी जी की उक्त सूचना परोक्ष रूप से इतना तो संकेत कर ही देती है कि अपनी कवित्व शक्ति से वे अवगत अवश्य थे।

कवि-कर्म और कवि-प्रकृति—

सामान्य कवि-कर्म और कवि-प्रकृति के संबंध में भी कुछ अनुभव तुलसी-

---

१. 'मानस', बालकांड, दोहा ११।

काव्य में विद्यमान हैं। अपनी रचना सभी को प्रिय होती है, इस मानवीय दुर्बलता को लक्ष्य करके कवि कहता है—

निज कबित्त केहि लाग न नीका। सरस होइ अथवा अति फीका[१]।

अपनी कृति से प्रसन्न होना सामान्य बात है और इसके लिए किसी को दोष भी नहीं दिया जा सकता। परंतु इस प्रसन्नता से यह पता नहीं लगाया जा सकता कि मानवता की दृष्टि से कौन व्यक्ति बड़ा है। इसका निर्णय तो तभी हो सकता है जब दूसरे की कृति कवियों के सामने हो। जो उसकी प्रशंसा करे, वह बड़ा; जो तटस्थ रहे, वह मध्यम; और जो छिद्रान्वेषण द्वारा निंदा ही करे, वह अधम है। तुलसीदास जानते हैं कि अंतिम दोनों वर्गों के कवियों की संख्या बहुत अधिक और प्रथम की बहुत कम होगी। तभी वे कहते हैं—

जे पर भनिति सुनत हरषाहीं। ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं[२]।

किस व्यक्ति की काव्य-रचना का श्रम सफल है, इसकी ओर भी कवि ने संकेत किया है। जिस कृति की प्रशंसा इष्टमित्र या स्वजन ही करें, उसे 'मानस' का कवि कोई महत्व नहीं देता। किसी कृति का महत्व हो तब है जब बुद्धिमान उसका सम्मान करें—

जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल-कबि करहीं[३]।

'बाल कवि' पद भी ध्यान देने योग्य है। बाल-प्रकृति में न गंभीरता होती है, न वैसी प्रकृतिवालों की रुचि परिष्कृत होती है और न उनके विचारादर्श में स्थायित्व ही होता है। जब तक कवि का स्वभाव इस प्रकार का रहेगा, उसकी रचना का सम्मान पंडित-समाज में हो ही नहीं सकता और रचयिता का सारा श्रम व्यर्थ ही जायगा।

पंडितों में सम्मान किस कविता का होता है, यह भी तुलसीदास ने बड़ी स्पष्टता से बता दिया है। वे कहते हैं—

सरल कबित, कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान[४]॥

---

१. 'मानस', बालकांड, दोहा ८।

२. 'मानस', बालकांड, दोहा ८।

३. 'मानस', बालकांड, दोहा १४ (क)।

४. 'मानस', बालकांड, दोहा १४ (क)।

तात्पर्य यह कि आदर्श कविता में तीन गुणों का होना आवश्यक है। पहली बात है सरलता ; अर्थात् जिस कविता में जटिलता, दुर्बोधता या क्लिष्टता होगी, वह लोकप्रिय नहीं हो सकती। दूसरे, रचना में वर्णित चरित्र निर्मल होना चाहिए जिससे पाठक के विचार भी निर्मल हों, उसकी राजसी और तामसी वृत्तियों के वेग का शमन हो और सद्वृत्ति सजग हो। तीसरे गुण का संबंध कथा-चयन से है। महान व्यक्तियों के जीवन में भी कुछ स्थल ऐसे होते हैं जिन्हें विस्तार देने से कथा का प्रभाव कम तो हो ही जाता है, आदर्श का संगठन-क्रम भी बदल जाता है। अतएव कविता का अंतिम गुण इस बात में है कि उसको सुनकर शत्रु तक अपना स्वाभाविक वैर भूल जाय और मुक्तकंठ से उसकी सराहना करने लगे। देश और काल की सीमा पार करके कविता तभी सम्मान प्राप्त करती है जब उसमें, तुलसीदास के अनुसार, उक्त तीन गुण हों।

कविता के सम्मान के संबंध में एक और महत्वपूर्ण बात तुलसीदास ने 'मानस' में कही है—

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी।
नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई।
तैसेहिं सुकबि कबित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं[1]।

मणि, माणिक और मोती में जो सुंदर छवि होती है, वह अपने उत्पत्ति-स्थल, अहि, गिरि और गज-मस्तक, पर शोभा नहीं पाती। उन पदार्थों की शोभा का निखार तो तब देखते बनता है जब वे मुकुट अथवा आभूषणों में जड़े जाकर राजा के मस्तक अथवा युवती के शरीर पर धारण किये जाते हैं। इसी प्रकार कवि की रचना की भी सृष्टि तो एक स्थान पर होती है, परंतु सम्मान उसे अन्यत्र मिलता है। और इस 'अन्यत्र' से तुलसीदास का संकेत उस स्थल से है जहाँ कविता के पारखी सहृदय विद्वान हों।

'अन्यत्र' के संबंध में एक बात और। मणि, माणिक और मोती के शोभा-स्थल जिस प्रकार तुलसीदास ने सूचित कर दिये हैं, उसी प्रकार 'अन्यत्र' की व्याख्या उन्होंने नहीं की है। इसका भी विशेष उद्देश्य जान पड़ता है। इतना तो स्पष्ट है कि 'अन्यत्र' से कवि का तात्पर्य काव्य-मर्मज्ञों के समाज से है, परंतु इसको स्पष्ट न करने का कारण यह जान पड़ता है कि सभी कवियों की रचना को ऐसा समाज सदैव नहीं प्राप्त होता। वे कवि भाग्यवान् हैं

---

१. 'मानस', बालकांड, दोहा ११।

जिनकी रचना के पारखी उन्हीं के निकटस्थ हों; नहीं तो अधिकांश रचयिताओं की कृतियाँ तो उनके देश के बाहर और कभी-कभी तो उनके जीवनकाल या युग के अनंतर ही आदृत हुई हैं। स्वयं तुलसीदास की रचना को भी आरंभ में स्थानीय पंडितों द्वारा आदर नहीं प्राप्त हुआ था।

गुणज्ञों द्वारा यदि वस्तु-विशेष का मान न हो तब उसके स्वामी या अधिकारी को तात्कालिक लाभ भले ही हो जाय, अंततः उसकी दुर्दशा ही होती है। यह बात कवि और कविता के संबंध में बहुत ही ठीक है। जो काव्य के मर्मज्ञ या पारखी विद्वान् नहीं हैं वे कवि या काव्य का आदर स्वार्थवश ही कर सकते हैं और रचना या रचयिता के प्रति किसी प्रकार की श्रद्धा-भावना उनमें कभी नहीं जन्म सकती। ऐसों के सम्मान का प्रायः बड़ा विकट और दुखद अंत होता है। इसीलिए तुलसीदास पूर्ववर्ती कवियों से केवल यही वरदान चाहते हैं—

होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधु-समाज भनिति सनमानू[1]।

कवि तुलसी भी अपनी कविता के 'सनमान' का भूखा है, वह भी लौकिक कीर्ति या मान चाहता है, अतएव उसमें भी सामान्य मानवीय दुर्बलता है—इस आक्षेप को बचाने के लिए ही उक्त पंक्ति में 'साधु-समाज' पद का कवि ने प्रयोग किया है। काव्य-रचना के लिए जिस प्रतिभा का कवि ने सदुपयोग किया है, वह दैव-प्रदत्त है, लोकार्जित नहीं; जिस चरित का उसने गान किया है, वह भी दैवी है, लौकिक नहीं; जिस उद्देश्य से वह स्वकार्य में प्रवृत्त हुआ वह भी परलोक से संबंध रखता है, इहलोक से नहीं; अतएव अपनी कृति का सम्मान भी वह उन्हीं से चाहता है जो लौकिकता के संबंध से ऊपर उठ चुके हैं। कारण यह है कि ऐसे साधु-समाज द्वारा कृति का आदर होने पर उसे किसी लौकिक लाभ की कांक्षा नहीं है; वह तो इतना भर जान लेना चाहता है कि ईश्वर-प्रदत्त शक्तियों का सदुपयोग करके, आराध्य के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करने में वह सफल हो सका है या नहीं। और यदि साधु-समाज उसकी कृति का सम्मान कर लेता है, तब स्वशक्ति के सदुपयोग की आत्मिक शांति तो उसे प्राप्त होगी ही, उसकी 'स्वांतःसुखाय' वाली प्रतिज्ञा की भी पूर्ति हो जायगी। बड़े संतोष की बात है कि कवि के जीवन-काल में ही साधु-समाज ने उसकी कृति का सम्मान करके दैवी देनों का पूर्ण सदुपयोग होना घोषित कर दिया।

---

१. 'मानस,' बालकांड, दोहा १४ (क)।

फलस्वरूप कवि की यह मनोकामना—तारागण संयुक्त चंद्रमा के साथ जैसे रात्रि शोभित होती है, वैसे ही, शिवजी की कृपा से, मेरी कविता शोभित हो—भी सहज ही पूर्ण हो गयी—

भनिति मोरि सिव कृपाँ बिभाती । ससि समाज मिलि मनहुँ सुराती[1] ।

विषय-संबंधी आदर्श—

काव्य-प्रतिभा दैव-प्रदत्त विशिष्ट गुण है। भारतीय कवियों ने देव-गुण-गान के उपयोग में ही इस गुण की सार्थकता मानी है। भारतीय संस्कृति में यद्यपि कभी इह लोक की उपेक्षा नहीं की गयी है और सभी प्रकार के सांसारिक सुखोपयोग के लिए उसमें पूर्ण स्वीकृति है, तथापि जीवन के चरम लक्ष्य के रूप में लौकिक सुख-साधनों को यहाँ कभी स्वीकार नहीं किया गया है। इसी प्रकार देव-चर्चा में ही नहीं, नर-देव या नर-पुंगवों के चरित्-गान में भी काव्य-प्रतिभा का सदुपयोग ही समझा गया है; परंतु इस प्रकार का चरित्-गान स्व-स्वार्थभाव से, प्राप्ति के लोभ से, नहीं, जन-कल्याणार्थ करना ही हमारे कवियों को अभीष्ट रहा है। तुलसी इसी आदर्श को लेकर चले हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना[2] ।

तात्पर्य यह कि लौकिक व्यक्तियों की चर्चा करने से काव्य-प्रतिभा का सर्वथा दुरुपयोग ही होता है। यहाँ 'प्राकृत जन' पद का प्रयोग भी विशिष्ट अर्थ में है। अवतार लेने पर तो ब्रह्म भी लौकिक ही हो जाता है और उसके संपर्क में आने वाले समस्त व्यक्ति तो सांसारिक होते ही हैं। अतएव 'प्राकृत जन' से तुलसी का तात्पर्य केवल विशिष्ट अथवा देव-गुण-संपन्न व्यक्ति से न होकर स्वर्गीय महापुरुषों से है ; जीवित व्यक्तियों से नहीं। कारण स्पष्ट है। जीवित व्यक्ति कितना भी गुण-संपन्न क्यों न हो, जब वह कवि का समकालीन होगा तब किसी न किसी रूप में अपनी प्रशंसा के विनिमय में कवि के साथ कुछ न कुछ उपकार अवश्य करना चाहेगा और उसके आदर-सत्कार का सर्वथा तिरस्कार कर देने एवं सभी दृष्टियों से निर्लिप्त रहने पर भी कवि सामाजिक लांछन से न बच

१. 'मानस', बालकांड, दोहा १५ ।

२. 'मानस', बालकांड, दोहा ११ ।

सकेगा और न उससे अप्रभावित ही रह सकेगा। अतएव 'प्राकृत जन' का गुण-गान न करने की बात जब तुलसी कहते हैं, तब समझना चाहिए कि वे पूर्ववर्ती वीरगाथा-कालीन हिंदी कवियों के आदर्श का स्पष्ट विरोध करते हैं और उनकी तरह अपने आश्रयदाताओं के गुण-गान को अत्यंत हेय दृष्टि से देखते हैं। बात यह है कि कवि तुलसी गार्हस्थ्य-जीवन का त्याग करते ही समस्त लौकिक प्रलोभनों की ओर से उदासीन हो जाता है; सामाजिक मान-प्रतिष्ठा, पद-अधिकार अथवा धन-संपत्ति की उसको चाह नहीं रह जाती। उसे अब कामना है केवल शांति की; निर्जन गंगा-तट पर एकाकी जीवन व्यतीत करता हुआ वह केवल इसकी प्रार्थना करता है कि उसकी शांति का बाधक बनकर वहाँ कोई प्रवेश न करे। देश के लौकिक शासकों से ही नहीं, अन्य देवी-देवताओं से भी इस प्रकार की प्रार्थना अनावश्यक समझकर वह उस परमात्मा की शरण जाता है जिसकी कृपा के सभी भिखारी हैं। उसे पूर्ण विश्वास है कि जिस ईश्वर की कृपा से सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं, वही दयालु हो गया तो मेरी, 'सब गुन-रहित भनिति', (बाल० दो० ९), 'भदेस भनिति' (बाल० दो० १०) और 'कूर कविता' (बाल० दो० १०) का भी पंडित-समाज आदर करेगा।

भक्ति-भाव रखने और आराध्य के गुण-गान से कवि की कविता लोकप्रिय क्यों हो जाती है, इस संबंध में भी तुलसी ने संकेत किया है—

भगति-हेत बिधि-भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई[1]।

भक्ति-भाव से प्रेरित होकर कवि जब काव्य रचता है, तब शारदा विधि-भवन त्यागकर उसकी सहायता को आ जाती है। इस कथन का तात्पर्य यही है कि दैव-प्रदत्त काव्य-प्रतिभा का सदुपयोग तभी समझा जायगा जब 'प्राकृत-जन का गुन-गान' न करके उसके द्वारा, संसार के कल्याणार्थ भगवान राम-जैसों की कथा कही जाय। तुलसीदास स्पष्ट कहते हैं कि विधिलोक से मर्त्यलोक तक आने में देवी सरस्वती को जो श्रम होता है वह राम-कथा के लिए उसका सहयोग लेने पर वैसी ही सुगमता से दूर हो जाता है जैसे यात्रा से थके व्यक्ति का श्रम सरोवर के शीतल जल में स्नान करने से दूर हो जाता है—

राम-चरित-सर बिनु अन्हवाए। सो स्रम जाइ न कोटि उपाएँ[2]।

---

१. 'मानस', बालकांड ,दोहा ११।

२. 'मानस', बालकांड,, दोहा ११।

इस प्रकार रामकथा के संबंध से ही काव्य का वास्तविक महत्व होना जिस रूप में तुलसीदास ने घोषित किया है, हिंदी के कदाचित् किसी कवि ने वैसा नहीं किया, यद्यपि भक्तिकालीन सभी कवियों ने अवतार-लीला-गान की महत्ता को उन्हीं के समान स्वीकार अवश्य किया है। गोस्वामी जी स्पष्ट कहते हैं—

भनिति बिचित्र सुकवि-कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ।

\+ + +

सब गुन रहित कुकवि-कृत बानी। राम नाम जस अंकित जानी।
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताहीं। ....[1]

जिन पूर्ववर्ती कवियों ने उक्त आदर्श को अपनाकर रामचरित गान में अपनी प्रतिभा का सदुपयोग किया, और आगे के भी जो कवि ऐसा करेंगे, तुलसीदास उन सभी की सविनय वंदना करते हैं—

ब्यास आदि कवि-पुंगव नाना। जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना।
चरन कमल बंदउँ तिन्ह केरे। (पुरवहु सकल मनोरथ मेरे)।
कलि के कबिन्ह करउँ परनामा। जिन्ह बरने रघुपति गुन-ग्रामा।
जे प्राकृत कवि परम सयाने। भाषाँ जिन्ह हरि चरित बखाने।
भए जे अहहिं जे होइहहिं आगें। प्रनवउँ सबहिं कपट सब त्यागें[2]**।**

उक्त कवियों में वाल्मीकि का नाम तुलसी ने नहीं लिया है। कारण यह है कि एकमात्र राम-कथा के गायक आदि कवि को, उसी विषय का अपनानेवाला कवि तुलसी निश्चय ही विशिष्ट पद का अधिकारी समझता है और तभी सविनय प्रणाम करके कहता है—

बंदऊँ मुनि पद-कंज, रामायन जेहिं निरमयउ[3]**।**

यही नहीं, सरस्वती की वंदना भी कवि यही समझकर करता है कि उसकी कृपा से रचे रामभक्तिमय काव्य की चर्चा मात्र से पाप दूर हो जाते हैं—

पुनि बंदउँ सारद सुरसरिता। जुगल पुनीत मनोहर चरिता।
मज्जन-पान पाप हर एका। कहत-सुनत एक हर अबिबेका[4]**।**

अविवेक हरने की क्षमता सामान्य काव्य में नहीं होती; ऐसी क्षमता तो

---

१. 'मानस,' बालकांड, दोहा १०।
२. 'मानस,' बालकांड, दोहा १४।
३. 'मानस', बालकांड, दोहा, १४ (ख)।
४. 'मानस', बालकांड, दोहा, १५।

केवल आराध्य की भक्ति से ओतप्रोत रचना में ही हो सकती है। अतएव उक्त कथन के आधार पर तुलसीदास का संकेत यह समझना चाहिए कि जिस काव्य में पाप हरने का गुण नहीं है, अर्थात् जो राम-भक्तिमय नहीं है, उसे सरस्वती का प्रसाद ही नहीं माना जा सकता।

काव्य के विषय के संबंध में तुलसीदास का यह आदर्श अपनी सर्वांगीण पूर्णता के लिए भी महत्व का है। ईश्वर को ही समस्त मानवीय गुणों का मूल मानने के कारण उसके प्रति पाठक में सहज ही श्रद्धा-भाव जाग्रत हो जाता है। उसके अवतार का कारण सांसारिक कल्याण जानकर उसके प्रति आत्मीयता का भाव जन्मता है। सौंदर्य की पराकाष्ठा उसमें पाकर हम उसके प्रति आकर्षित होते हैं, शील की चरम सीमा उसके व्यवहार में पाकर असीम आनंद का अनुभव करते हैं और शक्ति का पूर्ण विकास उसमें देखकर धर्म और समाज की रक्षा के विषय में आश्वस्त हो जाते हैं। परिवार, समाज, राज्य और धर्म—सभी क्षेत्रों में उसका आचरण पाठक के सामने कल्याणकारी आदर्श स्थापित करता चलता है। अतएव धर्म-प्राण भारतीय जनता के लिए तुलसी द्वारा अपनाया गया विषय जीवन की सभी स्थितियों में उपयोगी सिद्ध होता है।

अभारतीयों के लिए भी तुलसी का विषय-संबंधी आदर्श महत्वहीन नहीं कहा जा सकता। अधर्मियों से धर्म की रक्षा के लिए अवतार लेने की बात छोड़ दी जाय, तो भी मानवीय समस्याओं और उनका सामना करनेवाली शक्तियों के परिचय की दृष्टि से रामकथा किसी भी अभारतीय पाठक के लिए अत्यंत रोचक आख्यान है। राम-कथा से संबद्ध तुलसी के प्रायः सभी पात्र अभारतीय साहित्यों में किसी न किसी रूप में मिल जाते हैं और अपने चरित्रों से वे जो संदेश देते हैं, वह भी तुलसीदास के आदर्श से अधिक भिन्न नहीं है। इतना होने पर भी गोस्वामी जी के विषय संबंधी आदर्श की विशिष्टता है उनकी संचयन प्रतिभा में, जिसने प्रत्येक पात्र के प्रत्येक आचरण को दूसरे से कुछ भिन्नता और कुछ नवीनता प्रदान की है। उद्देश्य और शैलीगत बातों को छोड़ भी दिया जाय तो विषयगत उक्त विशेषताओं के कारण ही तुलसी-साहित्य का विदेशों में पर्याप्त सम्मान है और वह बढ़ता ही जायगा।

उद्देश्य-संबंधी आदर्श—

गोस्वामी जी के काव्योद्देश्य संबंधी आदर्श से अवगत होने के लिए उनकी

एक ही उक्ति की व्याख्या से काम चल सकता है। उत्तम कविता का लक्षण बताते हुए वे कहते हैं—

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई[1]।

'मानस'-कार तुलसी का यह मत—'कीर्ति, कविता और संपत्ति वही उत्तम है जो गंगा के समान सबका हित करनेवाली हो'—काव्य-संबंधी उनके लौकिक और साहित्यिक आदर्श का परिचायक है। मानव की चरम आकांक्षा होती है लौकिक विभूति प्राप्त करने की; तुलसी इसे बुरा नहीं समझते, यद्यपि वे स्वयं लौकिकता से विरक्त और लौकिक विभूति से रहित थे। सांसारिक संपत्ति या वैभव प्राप्त करने की वे अनुमति देते हैं; परंतु प्रतिबंध यह है कि वह गंगा के समान सबका हित करने वाली हो। उसी प्रकार कीर्ति प्राप्त करने के आकांक्षा और प्रयत्न को भी वे उचित समझते हैं; परंतु उसका उद्देश्य भी गंगा के समान जन-कल्याण करने का होना चाहिए। विभूति और कीर्ति वाला ही आदर्श, तुलसी की सम्मति में, कविता का रहे अर्थात् कविता भी सुरसरि के समान सबका हित करनेवाली हो, तभी उसकी सार्थकता है। तुलसी की इस उक्ति का तात्पर्य समझने के लिए भारतीय जीवन में गंगा का महत्व जानना आवश्यक है।

गंगा नदी लौकिक और अलौकिक, हमारे जीवन के दोनों रूपों को सुधारने-वाली मानी गयी है। इसका संबंध भारतीय त्रिदेवों से है; विष्णु के चरणों से इसकी उत्पत्ति तथा ब्रह्मा के कमंडल में और शिव के मस्तक पर इसका वास माना गया है। त्रिदेवों का यह संपर्क ही गंगा को अलौकिक महिमा प्रदान करता है। लौकिक दृष्टि से भी आर्यावर्त की भूमि को सींचकर उसको उर्वरा बनाने की इसकी जीवन-शक्ति एवं इसके जल के स्वास्थ्य-वर्द्धक और संरक्षक तत्व सृष्टि के आदि से परमात्मा की असाधारण देन के रूप में भारतवासियों को प्राप्त रहे हैं। इस प्रकार लौकिक सुख-समृद्धि के साथ-साथ गंगा को हम मोक्षदायिनी के रूप में सदा से स्मरण करते आये हैं और उसका तटवासी तो बड़े विश्वास के साथ कहता है—

भागिरथी, हम दोष भरे को भरोस यही कि परोस तिहारे।

गोस्वामी तुलसीदास जब लौकिक विभूति और कीर्ति की सार्थकता लोक-कल्याण में मानते हैं, तब उनका तात्पर्य पूर्णतया स्पष्ट है और उससे किसी का विरोध भी नहीं हो सकता। इस जगत के ऐश्वर्य के समस्त रूप या साध

---

1. 'मानस', बालकांड, दोहा १४।

नश्वर हैं, लक्ष्मी चंचल है, धन-संपत्ति विलासिता की भावना को उत्तेजित करने वाली है आदि अनुभवों के आधार पर मानव-समाज सभ्यता के आरंभ से ही यह मानता आया है कि जो वस्तु हमारे साथ सदैव नहीं बनी रह सकती और जिसका सुख हम या हमारे आत्मीय अथवा वंशज सदैव नहीं भोग सकते, उसको यदि परोपकार में ही लगा दिया जाय तो उसकी सार्थकता है। मंदिर जैसे धर्मस्थानों, धर्मशालाओं, कूपों, सरोवरों आदि के निर्माण के भारतीय आदर्श के मूल में धन-संपत्ति के परोपकारार्थ उपयोग की भावना ही है।

कीर्ति का अर्जन भी साधारणतः दो प्रकार से होता है। पहला है व्यक्तिगत उन्नति द्वारा; दूसरा, सार्वजनिक कार्यों में सेवाभाव से योग देने के कारण। प्रथम का क्षेत्र संकुचित होता है ; क्योंकि स्व-परिवार या जातिवाले ही उसका लाभ उठा सकते हैं। द्वितीय का क्षेत्र विस्तृत है, क्योंकि परिवार और जाति के संकुचित क्षेत्र से ऊपर उठकर जब सभी को व्यक्ति 'स्व' या आत्मीय मानकर सेवा और प्रेम करता है, तभी वास्तविक कीर्ति का वह अर्जन करता है और यही कीर्ति स्थायी होती है। इसी के लिए कहा गया है कि ऐसा उदार हृदय व्यक्ति यशः-शरीर से अमर सदैव रहता है। व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य इसी द्वितीय प्रकार की कीर्ति का अर्जन होना चाहिए।

विभूति और कीर्ति के संबंध में तुलसी के, उक्त चौपाई में व्यक्त विचारों से सभी सहमत होंगे। परंतु कविता का जो उद्देश्य या आदर्श उसमें बताया गया है उसके संबंध में मतभेद के लिए अवकाश है। कारण यह है कि कवियों का एक वर्ग 'कला के लिए कला' वाले सिद्धांत अथवा उसमें सुंदर के भाव की प्रधानता का समर्थक रहा है और दूसरा, कला की सृष्टि के मूल में उपयोगिता के भाव अथवा शिव की प्रधानता का होना भी मानता है।

तुलसी उक्त चौपाई में काव्य को सोद्देश्य मानते हैं ; वे उसमें उपयोगिता का रहना आवश्यक समझते हैं। उनकी दृष्टि में यह उपयोगिता प्राणों में मानवता और स्वस्थता का संचार करने वाली हो, विचारों को उन्नत और सुन्दर बनानेवाली हो, एवं रुचि को संस्कृत और परिष्कृत करनेवाली हो। काव्य का जब अध्ययन और मनन किया जाता है तब यदि उससे उक्त कार्यों की सिद्धि भी परोक्ष रूप से हो जाय तो बुराई क्या है ? मानव समाज ने धर्म और नीति-शास्त्रों की रचना किस उद्देश्य से की थी ? किसी को सभ्य और संस्कृत तथा किसी को असभ्य और असंस्कृत वह किस आधार पर कहता है ? स्वर्ग-नरक और देवी-

देवताओं की कल्पना के मूल में भी कौन सी भावना प्रबल है? यही न कि मानव संयमित, नियमित और नियंत्रित जीवन-यापन में प्रवृत्त रहे, अपनी सद्-वृत्तियों के विकास की प्रेरणा ले और संकुचित 'स्व' से ऊपर उठकर जीवमात्र के प्रति दया, ममता, करुणा और स्नेहपूर्ण व्यवहार करने का अभ्यासी बने। जो काव्य ऐसी भावनाओं को सजग करने में जितना सफल है, तुलसी की दृष्टि में उसकी रचना उतनी ही सार्थक है।

'कला के लिए कला' के सिद्धांत को माननेवालों का भी तुलसी के उक्त मत से प्रत्यक्ष विरोध नहीं हो सकता; क्योंकि उस सिद्धांत के समर्थक प्रत्यक्ष उपदेश या शिक्षा देने की जिस मनोवृत्ति को हेय दृष्टि से देखते हैं, तुलसी ने उसका कहीं समर्थन नहीं किया है। पाठक की बुद्धि के प्रति वे अविश्वासी नहीं हैं। संत-असंत, सहृदय-असहृदय, काव्य-मर्मज्ञ और काव्य-मर्मज्ञता से रहित, समाज में सभी वर्गों के व्यक्तियों के अस्तित्व को तुलसी ने स्वीकार तो किया ही, उनकी वंदना भी की है। सभी वर्गों को उपदेश देने की अपनी योग्यता की बात तो वे कभी नहीं कहते; परंतु कृपा सबकी चाहते हैं। 'कला के लिए कला' वाले सिद्धांत से मिलता-जुलता कारण ही उन्होंने अपने काव्य की रचना का बताया है—वे 'स्वांतःसुखाय' ही 'रघुनाथ-गाथा' गाते हैं। जो कार्य 'स्वांतःसुखाय' किया जा रहा है, उसमें किसी को साग्रह उपदेश देने की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। फिर भी तुलसी का काव्य साढ़े तीन सौ वर्षों से भारतीय समाज का सामूहिक रूप से पथ-प्रदर्शक क्यों है? इसीलिए कि स्वांतःसुखाय रचे गये काव्य को भी वे निरुद्देश्य नहीं मानते; प्रत्युत उनका दृष्टिकोण बहुत व्यापक और उदार है, एवं उनकी रचना का उद्देश्य बहुत पवित्र और महत् है। उनकी प्रकृति की विशेषता यह है कि कवि होकर वे अपने को कवि नहीं मानते, सुधारक होकर वे अपने को सुधारक नहीं कहते एवं लोकनायक होकर भी वे अपने को लोक-सेवक मानते हैं। फलस्वरूप 'कला के लिए कला' के सिद्धांत के पोषक भी उनकी प्रतिभा का सम्मान करने को बाध्य हैं।

तुलसी ने अपने काव्य को सहज ही सुरसरि-सम जनहितकारी बना लिया, इसके मूल में एक रहस्य है। जैसा कहा जा चुका है, वे साधारण मनुष्य को 'काव्य का विषय' नहीं समझते थे; 'नारकी करैं कविता नर की'—जैसा उनका आदर्श था। जिसको उन्होंने परब्रह्म का अवतार माना, उसके महत्-चरित्र के साथ-साथ उसके संपर्क में आनेवाले पक्ष-विपक्ष के नर-नारियों को

भी उसने अमर कर दिया। साधारण से साधारण प्राणी को काव्य का विषय समझने की जो मनोवृत्ति पश्चिम से इस देश में आकर आज पनप रही है, उसके समर्थक का तुलसी के इस आदर्श से भले ही मतभेद हो, परंतु महत् और उदात्त चरित्रों का गान करना आदि से ही भारतीय परंपरा रही है और तुलसी ने उसी का निर्वाह किया है। महत् का चरित्र महान् बनने की ही प्रेरणा देगा—यही विश्वास हमारी विचारधारा के मूल में है और जिन-जिन देशों में वीर-पूजा के आयोजन होते हैं, वीरों का सम्मान होता है, वे सब परोक्ष रूप से तुलसी के उक्त आदर्श का ही समर्थन करते हैं। अंतर यह हो सकता है कि तुलसी ने नारायण की गाथा गायी और अन्य देशवासी, नर-पुंगवों का ही सम्मान करते हैं—अवतारवाद की कल्पना उन्होंने नहीं की। परंतु तुलसी केवल नारायण का ही नहीं, उनके परिवार के सभी व्यक्तियों और उनके संपर्क में आनेवाले सभी प्राणियों को यथार्थ और अनावृत्त रूप में पाठक के समक्ष उपस्थित कर देते हैं जिससे युग का 'व्यक्ति' और देश-विशेष का 'चरित्र' सबको दिखायी दे सके। साथ ही मानव जीवन की महत्वपूर्ण शाश्वत समस्याओं का चयन करके तुलसी ने अपने काव्य की कथा को विस्तार दिया है जिससे उसमें भारतवासियों को ही नहीं, मानवमात्र को सभी स्थितियों के योग्य उत्साहवर्द्धक संदेश मिल जाते हैं।

तात्पर्य यह कि तुलसी ने काव्य की सोद्देश्यता के साथ-साथ उपयोगिता में ही उसकी सार्थकता मानी है। नारायण की चर्चा हो या महापुरुष की, इस संबंध में उनका प्रतिबंध हटाया भी जा सकता है यदि सामान्य व्यक्ति को लेकर भी जन-कल्याण की भावना का विकास किया जा सके, यद्यपि ऐसा होना असंभव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य है; क्योंकि जो महत् संदेश देने की जरा भी योग्यता रखता होगा वह सामान्य मानव से उच्च पद का अधिकारी स्वतः हो जायगा। शक्ति, शील और सौंदर्य के सामंजस्य में जिस प्रकार मानव-जीवन की पूर्णता मानी जाती है, उसी प्रकार सत्यं, शिवं, सुंदरं, तीनों के उपयुक्त अनुपात में समावेश से ही काव्य की शोभा है। तुलसी की उक्त उक्ति में सत्यं-सुंदरं से से अधिक महत्व 'शिवं' को दिया गया है और वह इस कारण कि जीवन की मूल भावना 'शिवं' से ही अपेक्षाकृत घनिष्ठ रूप से संबंधित है।

गोस्वामी जी की उक्त उक्ति का एक महत्वपूर्ण संकेत यह भी है कि वे समाज की उपेक्षा करने में कवि या काव्य की सार्थकता नहीं मानते। 'मानस' के आरंभ में स्वांतःसुखाय काव्य-रचना की जो प्रतिज्ञा उन्होंने की है, वह केवल

इसीलिए कि समाज से वह अपनी रचना के विनिमय में कोई प्रतिदान नहीं चाहते। उनकी इस अनिच्छा का संबंध जीवन-संबंधी उनके व्यक्तिगत आदर्श से है। समाज को कुछ देकर विनिमय की चाह भी रखने के लिए किसी को बाध्य नहीं किया जा सकता; क्योंकि हमारी संस्कृति सभी स्थितियों में त्याग की महत्ता का गान करती है और प्रतिदान न चाहना निस्संदेह महान त्याग है। परंतु समाज में रहने-बसने से व्यक्ति पर उसका जो अधिकार हो जाता है, कृतज्ञता-स्वीकृति-रूप में जिन दायित्वों का निर्वाह इमे करना चाहिए, उससे कवि तुलसी कभी विमुख नहीं होना चाहता। उक्त कथन के द्वारा वह दूसरों को भी समाज के प्रति अपने कर्तव्य-पालन का ही संदेश देता है। इस प्रकार उक्त वाक्य सूचित करता है कि सामाजिक जीवन-संबंधी उच्चादर्श की प्रतिष्ठा की ओर भी गोस्वामी जी का ध्यान रहा है।

यहाँ एक शंका हो सकती है। गंगा तो केवल उत्तरी भारत के निवासियों का हित करती है, समस्त भारत का भी नहीं, तब समस्त संसार की तो बात ही दूर है; अतएव क्या गोस्वामी जी का उक्त मत संकुचित दृष्टिकोण का परिचायक है? क्या वे गंगा-तट-वासियों का ही कल्याण चाहते अथवा केवल उनकी ही कल्याण-कामना करते थे जो गंगा के प्रति श्रद्धा-भाव रखते हैं? इसका समाधान यह है कि तुलसी का दृष्टिकोण संकुचित नहीं, अत्यंत व्यापक है। उनके उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि गंगा अपने तटवासियों और अपने प्रति श्रद्धा रखनेवालों का जिस प्रकार लौकिक और अलौकिक हित करती है, उसी प्रकार मानव मात्र के हित का भाव, विभूति, कीर्ति और काव्य-प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति में होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, लोक-कल्याण और सेवा का भाव यदि ऐश्वर्य, कीर्ति और कविता-संपन्न व्यक्ति का है तो समाज में उसके प्रति ईर्ष्या, द्वेष या स्पर्धा की भावना कभी जन्म ही न सकेगी जिससे सबकी शांति संकट में पड़ जाती; प्रत्युत ऐसे व्यक्तियों के प्रति लोगों में आदर-भाव रहेगा और उसी के पथ का अनुकरण करने में भी, संभव है, कुछ लोग अग्रसर हों जिससे कालांतर में सभी सुखी और संतुष्ट रह सकें।

दूसरी बात यह कि सांसारिक वैभव, कीर्ति और काव्य-प्रतिभा का उपयोग इहलोक में जन-कल्याण के लिए किया जाना तो सभी देशों में मान्य हो सकता है; परंतु भारतीय साहित्य में गंगा जिस प्रकार पापों से मुक्त कराने और स्वर्ग प्रदान करानेवाली मानी गयी है, उससे अन्य देशवालों का मत नहीं मिल

सकता। यह ठीक है कि स्वर्ग-नरक की कल्पना सभी जातियों में की गयी है, परंतु भारतीयों के समान उनका ऐसा विश्वास कभी नहीं रहा कि गंगा में एक बार स्नान से, अथवा उसके जल-पान मात्र से व्यक्ति को स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है। जब इस आधार के प्रति ही उनकी श्रद्धा नहीं है तब सांसारिक विभूति, कीर्ति या कविता साधारण व्यक्ति के लिए स्वर्ग की प्राप्ति में सहायक हो सकेगी, इसका समर्थन भी सभी देशवासी नहीं कर सकते। यदि कोई व्यक्ति जन-कल्याण के लिए अपनी धन-संपत्ति का उपयोग करता है, अथवा लोकोपकार के कार्य करके यश का अर्जन करता है तब सभी देशों के विश्वासों के अनुसार वह स्वयं भले ही स्वर्ग प्राप्त कर ले, दूसरों को उसके कार्यों के फलस्वरूप स्वर्ग की प्राप्ति नहीं हो सकेगी।

कविता का वर्ग लौकिक ऐश्वर्य से भिन्न है। दूसरे देशों का कवि भारतीय कवि की तरह ब्रह्म के अवतारों की लीला का गान चाहे न करे; परंतु परब्रह्म के अपने देश-धर्म में मान्य स्वरूप, कार्य और वचन की चर्चा काव्य-रूप में अवश्य कर सकता है। और ऐसा करके भारतीय कवि के समान वह स्वयं भी स्वर्ग की प्राप्ति की कामना कर सकता है एवं उसकी रचना का मन-क्रम और कर्म से पारायण करनेवाले भी स्वर्ग के अधिकारी माने जा सकते हैं।

सारांश यह कि तुलसी की उक्त उक्ति एक ओर तो भारतीय दृष्टिकोण से मानव मात्र के लौकिक आदर्श की प्रतिष्ठा करती है और दूसरी ओर ईश्वर-प्रदत्त काव्य-प्रतिभा के चरम उद्देश्य की भी व्याख्या कर देती है। कवि तुलसी ने लौकिक विभूति प्राप्त करने की तो कभी कामना नहीं की, परंतु अपनी कवित्व-शक्ति का उपयोग उन्होंने अपने आदर्श के अनुकूल ही किया जिससे उनकी अमर कृतियाँ पिछले लगभग साढ़े तीन सौ वर्षों से इहलोक में सुख-शांति के साथ-साथ परलोक की प्राप्ति के लिए भी मानव-समाज को आश्वस्त करती रही हैं।

शैली-संबंधी आदर्श—

काव्य के कलापक्ष के संबंध में कवि तुलसी ने अपने आदर्श की चर्चा कहीं नहीं की है। 'आखर अरथ' वाला जो अवतरण ऊपर दिया गया है उससे स्पष्ट है कि उन्होंने काव्यशास्त्र का अध्ययन किया था और उनके काव्य में भाषा, छंद और अलंकार के विशेषतायुक्त जो प्रयोग मिलते हैं, वे उनके तत्संबंधी अधिकार के प्रमाणस्वरूप उद्धृत किये जा सकते हैं। अवधी और व्रजभाषा के

व्यावहारिक और साहित्यिक रूपों के साथ-साथ संस्कृत पर भी उनका असाधारण अधिकार तो है ही, उपयुक्त शब्द-चयन के अतिरिक्त प्रत्येक के पर्यायवाची रूपों के अर्थांतर की सूक्ष्मता का ध्यान रखने में भी कवि तुलसी हिंदी के प्रायः समस्त कवियों में बेजोड़ है। पात्र, स्थिति, स्थान और मनोभाव के अनुकूल भाषा का प्रयोग करने में भी तुलसीदास सदैव सतर्क रहे हैं। तात्पर्य यह कि भाषा-संबंधी तुलसीदास का आदर्श था जनभाषा का विकास करके, सभी प्रकार के मनोभावों की व्यंजना में उसे समर्थ बनाकर, काव्यभाषा का प्रतिष्ठित पद प्रदान करना और इस प्रयत्न में उनको सफलता निस्संदेह अभिनंदनीय है।

भाषा के समान ही अपने समय में प्रचलित सभी प्रकार के छंदों पर भी तुलसीदास का समान अधिकार था। दोहा-चौपाई, कवित्त-सवैया, पद, बरवै छप्पय आदि प्रमुख छंदो का प्रयोग उन्होंने सर्वत्र सफलता से किया है। उनके प्रमुख मुक्तक काव्यों के आधार पर, विषय का विवेचन करके छंद-संबंधी उनके आदर्श पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है—यथा वीर रस-वर्णन के लिए कवित्त, सवैया और छप्पय छंद उन्हें अधिक प्रिय हैं अथवा पदों के लिए कोमल भाव प्रधान प्रसंग वे अधिक उपयुक्त समझते हैं, परुष या कठोर भाव वाले स्थल नहीं—परंतु राम-कथा के अन्य प्रसंग भी उन्होंने इन काव्यों में लिखे हैं। हाँ, 'मानस' का छंद-प्रयोग सर्वत्र सोद्देश्य है और चौपाई में सामान्य वर्णन, दोहे में उसका मुख्य भाग, सोरठे में निष्कर्ष, सारांश या सूक्ति; सवैया में कवि के प्रिय अथवा प्रसंग के प्रभावपूर्ण या रोचक स्थल आदि रखने में वे सदैव सावधान रहे हैं।

काव्य के अलंकृत होने पर उसके सौंदर्य की जो वृद्धि होती है, उसका लोभ कभी-कभी साहित्यकारों को इतना पराभूत कर देता है कि उनकी दृष्टि उसके अन्य आवश्यक उपकरणों से हटकर केवल आलंकारिक योजना में ही केंद्रित हो जाती है। तुलसीदास ऐसा आदर्श रखनेवाले कवि नहीं हैं। यह ठीक है कि उनके मुक्तक काव्यों के सभी छंद अलंकारों के चमत्कार से युक्त हैं और 'मानस' के भी सभी प्रमुख स्थलों पर उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि के उदाहरण मिलते हैं, तथापि उन्होंने आलंकारिक योजना को कभी साध्य नहीं समझा। अलंकारों को उन्होंने सदैव काव्यगत व्यापार को तीव्र करने में एवं गुणों के उत्कर्ष में, सहायक माना। यही कारण है कि कवि तुलसी की अलंकार-योजना सर्वत्र भावाभिव्यक्ति को सशक्तता, स्पष्टता एवं बोधगम्यता प्रदान करने के लिए है

और इस आदर्श का निर्वाह करने से ही उनके काव्य का सौंदर्य कई गुणा बढ़ गया है।

तुलसी के काव्यादर्श की व्यापकता—

मानव के मानवत्व की मुख्य कसौटी है उसके दृष्टिकोण का संकुचित अथवा व्यापक होना। जिस मनुष्य के दृष्टिकोण में जितनी व्यापकता होगी, मानवता की दृष्टि से वह उसी अनुपात में श्रेष्ठ समझा जायगा। यही कसौटी कवि की महानता की भी है। जो कवि देश, जाति और धर्म की संकुचित सीमाओं से जितना ऊपर उठ जायगा, उसकी ख्याति उतनी ही व्यापक होगी। तुलसीदास इस कसौटी पर भी खरे उतरते हैं। उनके काव्यादर्श में इतनी व्यापकता है कि वे किसी भी क्षेत्र में न तो संकुचितता को ही अंगीकार करते हैं और न न आदर्श-विशेष के प्रति इतना दुराग्रह ही रखते हैं जो उनके मत से मेल न खानेवालों को अखर जाय। जिस प्रकार हिंदू होते हुए भी उनका काव्य केवल हिंदुओं के लिए नहीं है, विरक्त होते हुए भी गार्हस्थ्य जीवन की प्रमुख समस्याएँ और जटिलताएँ संकलित करके उन्होंने जो काव्य लिखा वह विरक्तों से अधिक गृहस्थों को प्रिय है, सगुणोपासक भक्त होते हुए भी निर्गुणोपासकों के चिंतन के लिए उनके काव्य में पर्याप्त सामग्री है, भारतीय होते हुए भी अभारतीयों के लिए जीवनोपयोगी महत्वपूर्ण संदेश हैं, उसी प्रकार सभी काव्यादर्शों के पोषक और समर्थक अपने-अपने सिद्धांतों के समर्थन और पोषण के लिए पर्याप्त उदाहरण गोस्वामी तुलसीदास जी के काव्य में सुगमता से पा जाते हैं।

काव्य के तीन आदर्शों—सत्यं, शिवं और सुंदरं—में से प्रत्येक उनके साहित्य में अपने चरम रूप में दृष्टिगोचर होता है। भगवान और उनकी शक्ति को नायक और नायिका के रूप में अपनाने के कारण इन तीनों आदर्शों का निर्वाह वे बहुत ही सुगमता से कर सके। भारतीय विश्वास के अनुसार पृथ्वी पर ब्रह्म का अवतार जन-रक्षा और कल्याण के लिए ही होता है, इस प्रकार शिवं की प्रतिष्ठा सहज ही हो जाती है। सुंदरं का बीज अपने काव्य को स्वांतःसुखाय रचने की सूचना में ही है जो समस्त साहित्य में पल्लवित और पुष्पित हुआ है; एवं सत्यं की उपेक्षा तो भारतीय सगुणोपासक भक्त कर ही

नहीं सकता। फलस्वरूप काव्यकला के उक्त तीनों आदर्शों के समर्थकों को स्व-मत-प्रतिपादन के अनेक युक्तियुक्त प्रमाण गोस्वामी जी के काव्य में बड़ी सुगमता से मिल जाते हैं।

सामाजिक दृष्टि से मानवों के तीन मुख्य वर्ग किये जा सकते हैं। प्रथम वर्ग में वे व्यक्ति आते हैं जो बँधी लीक पर चलने में ही सुखी रहते हैं; नयी बात सोचने-समझने की न उनमें बुद्धि होती है, न इसके लिए वे किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक कष्ट ही उठाना चाहते हैं। ऐसे व्यक्तियों की संख्या किसी भी समाज में नब्बे प्रतिशत से कम नहीं होती। द्वितीय वर्ग के व्यक्ति सामाजिक कल्याण की बात सोचते ही हैं; परंतु बंधन, आलस्य अथवा समस्याओं के कारण अपने विचारों को कार्य-रूप देने में समर्थ नहीं होते। ऐसे व्यक्तियों की संख्या आठ-नौ प्रतिशत से अधिक नहीं होती। शेष एक-दो प्रतिशत समाज का नेतृत्व करते हैं, उसके सुधार के उपाय सोचते हैं और दूसरों के अगुआ बनते हैं। विचार और मननशील कवियों की गिनती इसी वर्ग में होती है। विधि का विधान कुछ ऐसा है कि इन व्यक्तियों की स्थिति समाज में कभी सामान्य नहीं होती; कोई जन्म से, कोई बाल्यकाल से और कोई आगे चलकर विशेष परिस्थिति में पड़ ही जाता है जिससे वह सामान्य वर्ग से अलग हो जाता है और तब उसका दृष्टिकोण भी असाधारण हो जाना स्वाभाविक होता है।

गोस्वामी तुलसीदास की भी परिस्थिति असामान्य थी। जन्म से माता-पिता के वात्सल्य और स्नेहपूर्ण आश्रय से वंचित हो जाना, सुकुमार और अबोध अवस्था में दी दारिद्रय के कष्ट और तिरस्कार की उपेक्षा-जन्य वेदना सहन करना, एवं चिंता का बोझ ढोना जिस बालक का जीयन-क्रम रहा हो निस्संदेह उसकी स्थिति असाधारण ही समझी जायगी। साधु-संतों की संगति में रहने पर जिस बालक को छोटी ही अवस्था में सांसारिक सुखों के त्याग के उपदेश सुनने को केवल मिलें ही नहीं, तदनुसार व्यवहार भी करना पड़े, उसका जीवन-क्रम भी सामान्य नहीं रह सकता। विद्याध्ययन समाप्त करने के पश्चात् एक बार फिर वह गृहस्थ बनकर साधारण वर्ग में सम्मिलित होना चाहता है कि पत्नी उस भावुक युवक की आसक्ति से चिढ़कर कुछ कटु वाक्य कह देती है जो उसको सदा के लिए संसार से विरक्त कर देते हैं। साधु-संतों के संपर्क में रहकर सांसारिक संबंधों की निस्सारता और अनित्यता के संबंध में बहुत-कुछ सुन वह पहले ही चुका था,

अब प्रत्यक्ष अनुभव ने उसकी पुष्टि भी कर दी। फलस्वरूप, गृहस्थ बनकर सामान्य जीवन बिताने की कामना कर परित्याग कर, वह सदा के लिए विरक्त हो जाता है। इस प्रकार का जीवन-क्रम अपनानेवाले व्यक्ति हजारों में कहीं एक होते हैं, तो उसका मान-मर्यादा-सहित निर्वाह कर ले जानेवाले करोड़ों में भी कठिनता से मिलते हैं।

परंतु व्यक्तिगत जीवन में समाज से विरक्त हो जानेवाला कवि तुलसी अपने मानसिक जगत में उसकी उपयोगिता समझता है और उसके प्रति अपने दायित्व का निर्वाह भी करता है। समाज ने उसको भले ही ठुकराया हो, अपने साहित्य के रूप में उसने उसे जो कुछ दिया है, उसके लिए केवल भारतीय ही नहीं, मानव समाज-मात्र उसका सदैव ऋणी रहेगा; क्योंकि उसके साहित्य में सामाजिक उन्नति के लिए ऐसे व्यावहारिक और प्रयोगात्मक तत्व मिलते हैं जिनको अपनाकर कोई भी देश सच्ची और हार्दिक सुख-शांति का अनुभव कर सकता है। निस्संदेह, काव्यादर्श की यह व्यापकता गोस्वामी तुलसीदास की लोकप्रियता के प्रमुख कारण में एक है।

—:(❀):—

'साकेत' के कुछ पात्र

सृष्टि-रचने के पूर्व स्रष्टा का कोई निजी उद्देश्य था या नहीं, यह तो हम कह नहीं सकते; परंतु कवि, जिसे हम इस पार्थिव जगत का स्रष्टा मानते हैं, अपने प्रत्येक पात्र की सृष्टि उद्देश्य-विशेष से ही करता है। भले ही यह हमारी स्वार्थी वृत्ति हो, पर है यह स्वाभाविक ही कि किसी भी साहित्यिक कृति में कोई अकर्मण्य पात्र, जिसका कथा-विकास में कोई हाथ न हो, हम देखना नहीं चाहते—उस उद्देश्य-रहित पात्र की सृष्टि को रचना का एक दोष समझते हैं। अतः कलाकार अपने सभी पात्रों की सृष्टि उद्देश्य-विशेष से ही करता है। प्रत्येक चरित्र को वह उतना ही जीवन प्रदान करता है जितना कथा-विकास के लिए अपेक्षित है।

'साकेत' के पात्रों का चरित्र-निर्माण करते समय रामकथाकार प्राचीन कवियों का अनुकरण न करके श्री मैथिलीशरण गुप्त ने कविजनोचित स्वतंत्रता का यद्यपि अवश्य उपयोग किया है—प्राचीन आदर्शों पर दृष्टि रखकर भी उन्होंने समयोचित आदर्शों को नहीं भुलाया है, तथापि यह सब होते हुए भी उन्होंने प्रायः सर्वत्र—'प्रायः' से संकेत इस कथन के अपवाद-स्वरूप स्थलों की ओर है—मर्यादा का ध्यान रखा है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के भक्त कवि में यह विशेषता स्वाभाविक ही समझनी चाहिए। मर्यादा-रक्षा-भावना ने 'साकेत' के सभी पात्रों पर एक प्रकार का नियंत्रण रखा है; कवि ने पात्र-विशेष की व्यक्तिगत वासना—मानव-हृदय की स्वार्थमयी वृत्ति—को इतना प्रबल नहीं होने दिया है कि अमर्यादित होकर वह कथा और आदर्श का सामंजस्य विकृत कर दे। वैयक्तिक स्वातंत्र्य का विचार भारतीय आदर्श के अनुकूल नहीं है और हमारे गुप्त जी भारतीयता के कट्टर पुजारी हैं, यद्यपि उनकी यह कट्टरता सहनशील सहिष्णुता से भी अधिक

उदार है। वस्तुतः व्यक्ति समाज का एक अंग है और उसके किसी भी आवेगयुक्त अमर्यादित कार्य से सामाजिक संतुलन पर आघात पहुँचने की संभावना है। फलतः सशांति जीवन-यापन के लिए सामाजिक मर्यादा का पालन नितांत आवश्यक है।

दूसरी बात यह कि गुप्त जी के संस्कार राम के ईश्वरत्व को तो अवश्य स्वीकार करते हैं, पर उनसे संबंधित उनके परिवारवालों को साधारण मनुष्य के ही रूप में उन्होंने देखा है, अवतार-रूप में नहीं। यद्यपि उनके किसी-किसी पात्र में सद्‌गुणों की इतनी प्रचुरता है कि वे साधारण जन-समाज से बहुत ऊँचे उठे हुए दिखायी देते हैं, तथापि हैं वे इसी पार्थिव जगत के प्राणी जिनके लिए सुख-दुःख, हर्ष-शोक, निंदा-प्रशंसा, गुण-अवगुण, विरह-मिलन सभी का मूल्य है।

गुप्तजी के चरित्र-चित्रण पर सामयिक स्थिति और समस्याओं का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। 'कछोटा मारे हुए' सीता का 'पर्णकुटी के बिरछे' सींचना यद्यपि स्वाभाविक अवश्य है तथापि आधुनिकता के प्रभाव से रहित नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार लक्ष्मण का क्रोधावेश भी आदि कवि द्वारा चित्रित उनके सावेग चित्रण से मेल खाता हुआ होने पर भी स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए वर्तमान आंदोलन के प्रभाव से रहित कदाचित् नहीं है।

इस संबंध में एक बात यह भी ध्यान में रखनी चाहिए कि 'साकेत' के कवि की दृष्टि प्रायः सभी पात्रों के चित्रण में 'मानस' से भिन्न कुछ विशेषता लाने की रही है। कथा-प्रसंग में भी 'साकेत' में प्रायः उन्हीं स्थलों को विस्तार देने का प्रयत्न किया गया है, 'मानस' में जिनकी ओर स्पष्ट-अस्पष्ट संकेत मात्र से काम चलाया गया है अथवा 'मानस' के रचयिता, राम के अनन्य भक्त कवि, ने उद्देश्य-विशेष से जिनकी उपेक्षा कर दी है। ऐसे स्थलों को, यदि वे मर्मस्थल को छूने की क्षमता रखते हैं तो 'साकेत'-कार ने विस्तार देकर उनसे संबंधित पात्रों के चरित्र का मौलिक चित्रण किया है। यों तो नवीनता और मौलिकता का अपने काव्य में समावेश करने के कविजनोचित उद्देश्य के फल-स्वरूप चरित्र-चित्रण में विशेषता आना स्वाभाविक ही था, तथापि भक्त कवि तुलसी से सर्वथा भिन्न आदर्श और परिवर्तित परिस्थिति में नवीन दृष्टिकोण लेकर काव्य-रचना में प्रवृत्त होनेवाले गुप्त जी के पात्रों के चरित्र और भी अधिक चमत्कारपूर्ण और आकर्षक हैं। पूर्ववर्ती कवियों की आलोचना-प्रत्यालोचना तथा अन्य प्रांतीय कलाकारों की रचना-कुशलता से भी गुप्तजी ने लाभ उठाया है; 'साकेत' के पात्रों पर इनका

प्रभाव भी स्पष्ट है। सारांश यह कि गुप्तजी ने कथा और चरित्र की प्राचीन रूपरेखा को स्वाभाविकता और औचित्य की कसौटी पर कसने के पश्चात् अपना तो अवश्य लिया है, पर उस नींव पर भव्य प्रासाद का निर्माण करते समय कुशल कलाकार की तरह अब तक सुलभ सभी उपकरणों और साधनों का प्रयोग करने को वे सदा प्रस्तुत रहे हैं। इसी से इनके चरित्र-चित्रण में भक्त कवि की एकांत और स्वांतःसुखाय मुग्धता कम, वर्तमान आलोचक युग की गवेषणात्मक विवेचना अधिक है।

उर्मिला—

विश्ववंद्य कवींद्र रवींद्र ने एक बार 'काव्य की उपेक्षिता' शीर्षक लेख में संस्कृत-साहित्य की उपेक्षिता और अनादृत नारियों के संबंध में संकेत करते हुए उर्मिला की ओर कवियों का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न किया था। संभवतः वही लेख देखकर 'सरस्वती' के तत्कालीन संपादक पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' शीर्षक लेख लिखा था। नवीन विषयों की खोज में व्यस्त कवि गुप्त जी ने अपने पूज्याचार्य द्विवेदी जी की प्रसन्नता के लिए 'उर्मिला-उत्ताप' शीर्षक दो-एक सर्ग लिखे और वे पसंद भी किये गये। पश्चात्, किसी कारण से, यद्यपि कवि ने विषय-परिवर्तन कर दिया तथापि 'साकेत'-कार का ध्यान आदि से अंत तक उर्मिला पर ही केंद्रित रहा है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि उर्मिला का चित्रण वह बड़ी सावधानी से, बड़े ध्यान से और बड़ी कुशलता से करता। उर्मिला के प्रति कवि की विशेष सहानुभूति इस बात से भी स्पष्ट है कि राम के वन जाने पर वह भी उन्हें छोड़कर साकेत ही में उर्मिला के पास रह जाता है—और काव्य की सारी कथा पाठक को वहीं ज्ञात हो जाती है—विवाह के पूर्व की घटनाएँ तो स्वयं उर्मिला से मालूम होती हैं और वन-गमन-प्रसंग के पश्चात् की शत्रुघ्न, हनुमान और वशिष्ठ जी की कृपा से। यही नहीं, 'साकेत' के सभी स्थलों पर हम देखते हैं कि कवि कहीं इसे भूला नहीं है और काव्य की प्रत्येक प्रधान घटना से उर्मिला का जीवन आवश्यकता और स्थिति के अनुसार विस्तृत और संक्षिप्त रूप में संबंधित है। इसी समवेदना के फलस्वरूप उर्मिला का चरित्र गुप्तजी की सबसे मौलिक और महत्वपूर्ण कृति है। उसके चित्रण की नवीनता ने 'साकेत' को विशेष सम्मान प्रदान किया है। आवेगपूर्ण यौवन के अनुरागमय और सावेश प्रेम पर वह

जितना कठोर नियंत्रण करती है, वह मानवीय त्याग का कदाचित सर्वोच्च उदाहरण समझा जायगा।

काव्य के प्रथम सर्ग में नवयुवती उर्मिला और उसके प्रियतम के मधुर मिलन की मनोरम झाँकी दिखाकर कवि हमें प्रत्यक्षरूप से तो उस सुखानुभूति का अनुभव कराता है, मानवमात्र अवस्था-विशेष पर पहुँच जिसके लिए लालायित होकर अनेक लुभावने स्वप्न देखने और कमनीय कल्पनाएँ करने लगता है; तथापि परोक्ष रूप से उर्मिला के चरित्र से परिचित कराता हुआ प्रेम और सुखमय उस स्थिति की ओर संकेत करता है जो जीवन का वसंतकाल है, सांसारिक सुखोपभोग का निसर्ग-प्रदत्त अवसर है। चौदह वर्ष के पश्चात् 'कहाँ वे साँझ-सवेरे' कहकर उर्मिला जीवन के इसी सुख के लिए एक बार बिलख जाती है।

अगले ही दिन उसके सामने सहसा ऐसी कठिन समस्या उपस्थित होती है कि वह सुनते ही किंकर्तव्यविमूढ़ और हतप्रभ सी रह जाती है। स्थिति ऐसी आ पड़ती है कि दशरथ, कौशल्या, सुमित्रा, सीता सभी को अपनी-अपनी पड़ जाती है—दशरथ अपने सत्य की रक्षा करना चाहते हैं, कौशल्या अपने आदर्श प्रेम का परिचय देती है, सुमित्रा क्षत्रियाणी का आदर्श निबाहती है, सीता वन में अपना स्वर्ग बनाकर धर्मचारिणी और वन-विहारिणी होने के लिए चिंतित हो जाती है। उर्मिला की चिंता इस समय यदि किसी को है तो केवल लक्ष्मण को और वह भी सहज प्रेम के कारण उतनी नहीं जितनी अपने इस स्वार्थ के लिए कि कहीं वह मेरी ऐसी 'बाधा' न बन जाय कि 'प्रभुवर' मुझे भी छोड़ने पर विवश हो जायँ। इसलिए मन ही मन वह उसे आज्ञा देते हैं—

....रहो, रहो, हे प्रिये, रहो।

यह भी मेरे लिए सहो। और अधिक क्या कहूँ, कहो[1]।

और प्रियतम लक्ष्मण की यह आज्ञा प्रेममयी उर्मिला जान लेती है, विवश होकर मान भी लेती है—

वह भी सब कुछ जान गई। विवश भाव से मान गई[2]।

दूसरे ही क्षण अपने विकल मन को वह बड़े धैर्य और दृढ़ता से निश्चय के साथ समझाने लगती है—

---

१. 'साकेत', चतुर्थ सर्ग, पृ० ७८।
२. 'साकेत', चतुर्थ सर्ग, पृ० ७८।

....है मन ।

तू प्रिय-पथ का विघ्न न बन[1] ॥

उर्मिला के इस निश्चय की महानता, उसके इस त्याग का विशेष गौरव और उसके भाग्य की विडंबना सीता समझती हैं। वन जाते समय अपने पक्ष की पुष्टि करती हुई वे कहती हैं—

(१) सास-ससुर की स्नेह-लता—बहन उर्मिला महाव्रता,
सिद्ध करेगी वही यहाँ, जो मैं भी कर सकी कहाँ[2] ?

(२) आज भाग्य जो है मेरा, वह भी हुआ न हा ! तेरा[3] !

सीता के इस कथन के पश्चात् उर्मिला का दुख सभी समझ जाते हैं। अपनी-अपनी चिंता से मुक्त होने पर माताएँ भी उसकी स्थिति समझती हैं और 'मूर्ति बन' कर रह जाती हैं। स्वयं 'धर्म-धनी प्रभु' भी व्याकुल होकर लक्ष्मण को समझाने लगते हैं। इन सबकी व्याकुलता का प्रधान कारण प्रेममयी उर्मिला का पति-वियोग सहने को विवश हो जाने का अनुभव है। आगे कैकेयी भी उसके इस दुख को समझती और चित्रकूट-सभा के अवसर पर सब ओर से हताश होकर, सबके सामने, वह इसे स्वीकार भी करती है—

आ, मेरी सबसे अधिक दुःखिनी आ जा ।
पिस मुझसे चंदनलता मुझी पर छा जा[4] ॥

प्रियतम राम के साथ वन जाने के लिए सीता ने अनेक तर्क उपस्थित करने के पश्चात् अंत में कहा—

अथवा कुछ भी न हो वहाँ, तुम तो हो जो नहीं यहाँ,
मेरी यही महामति है—पति ही पत्नी की गति है।

+ + + +

सतियों को पति-संग कहीं—अगम गहन क्या दहन नहीं[5] ॥

---

१. 'साकेत', चतुर्थ सर्ग, पृ० ७६ ।
२. 'साकेत', चतुर्थ सर्ग, पृ० ८३ ।
३. 'साकेत', चतुर्थ सर्ग, पृ० ८४ ।
४. 'साकेत', अष्टम सर्ग, पृ० १८९ ।
५. 'साकेत', चतुर्थ सर्ग, पृ० ८३ ।

और पतिव्रता उर्मिला अपनी अग्रजा के ये सिद्धांत और नीति-कथन सुन-समझकर भी विवश है; वह एक शब्द क्या, एक आह भी मुँह से नहीं निकाल सकती। इतना मानसिक संयम उस कोमल कलेवर के लिए असह्य हो जाता है और वह 'हाय' करके पृथ्वी पर गिर पड़ती है। उर्मिला के जीवन की विडंबना समझने के लिए यहाँ हमें प्रियतम लक्ष्मण से कहा हुआ उसका यह वाक्य दोहराना होगा—

खोजती हैं किंतु आश्रय मात्र हम,
चाहती हैं एक तुम - सा पात्र हम,
आंतरिक सुख-दुःख हम जिसमें धरें,
और निज भव-भार यों हलका करें[1]।

नारी को पुरुष की आवश्यकता आंतरिक सुख-दुख की भावपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए है। बड़े सौभाग्य से उर्मिला ऐसा पात्र पाती है। परंतु जीवन के जिन सुनहले दिनों में सुख-दुख की भावुकता-सरिता हृदय-कूलों से उमड़कर छलकती हुई बहती है, तभी प्रियतम से उसका वियोग हो जाता है। फलतः जिस 'भव-भार' को हल्का करने के लिए वह लालायित थी वह ज्यों का त्यों बना रहकर स्वयं जीवन को ही भार बना देता है। प्रिय-वियोग का अवसर बड़ा दुखदायी होता है। हृदय में हूक उठती है, कलेजा मुँह को आता है, जी बैठने लगता है, आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है, भविष्य नितांत अंधकारमय प्रतीत होता है, जान पड़ता है, प्राणांत होने में देर नहीं है। अपने निकटतम संबंधियों से घिरा होने पर भी निराश्रय और एकाकीपन का हताश कर देनेवाला अनुभव वह करता है। उर्मिला के सामने भी ऐसा ही कठोर अवसर आता है। बड़ी बहन, ज्येष्ठ और सासुओं के सम्मुख रहने से लज्जावश उसे अपने विचार व्यक्त करके हृदय का भार हलका करने, चौदह वर्ष की लंबी अवधि के कठिन वियोग के पहले प्राणपति के स्कंध पर एक बार अपना सर रख, उनका प्रगाढ़ आलिंगन कर अपनी चिंता से उन्हें विमुक्त करने, अपने भरे हृदय को दृढ़ता और धैर्य से रोक मुस्कराते हुए—वह मुस्कराहट कोमल नारी-हृदय की स्वभाव-जन्य कृत्रिमता से युक्त हो, अथवा प्रियतम को वन्य जीवन में निश्चिंत रखने की सहज परंतु असीम धीरताभरी नियंत्रण और निग्रह की अपेक्षा रखनेवाली भावना का फल—उन्हें विदा देने और अपने आँचल से उनके उमड़ते आँसू पोंछ देने का सुअवसर

---

1. 'साकेत', प्रथम सर्ग, पृ० २३।

नहीं मिलता। यह विवशता उसके दुसह वियोग को अधिक दुखदायी, उसके कठिन दुख को अधिक तीव्र, उसकी तीक्ष्ण प्रेमाग्नि को अधिक प्रज्वलित और उसकी दीन स्थिति को अधिक दयनीय बना देती है। वह न तो उन्हें अयोध्या में रोक रखने का विचार ही मन में ला सकती थी, क्योंकि उस दशा में त्यागपूर्ण महान साधना से पति को विरत करने का कारण बन जाती और न वह उनके साथ वन चलने को प्रस्तुत ही हो सकती थी। पति के कार्यों में योग देना नारी-धर्म है और उर्मिला पति-वियोग सहती हुई अयोध्या में रहकर ही अपने नारी-धर्म का पालन कर सकती थी। लक्ष्मण की प्रसन्नता इसी में थी और उर्मिला का धर्म भी यही था।

उर्मिला की स्थिति ऐसी है कि अपने सम्मिलित परिवार के समक्ष उसे सदैव मौन रहकर सब कुछ सहना पड़ता है और जब शोकावेग इतना बढ़ जाता है कि सामर्थ्य उसमें नहीं रहती तब एकाध पूर्ण-अपूर्ण वाक्य कहकर वह मूर्छित हो जाती है। राम-वन-गमन के समय उस कुलवधू को अधिक बोलने का अवसर इस लिए नहीं रह जाता कि लक्ष्मण जो निश्चय करते हैं, उर्मिला का कुछ भी कहना उसमें बाधक होकर सबके सामने एक नयी समस्या उपस्थित कर देता। दशरथ-मरण के अवसर पर वह किसी से कुछ कहे ही क्या? कौशल्या, सुमि त्रा, सुमंत्र, वशिष्ठ, सभी के मनोभावों को व्यक्त करके कवि ने उनका शोक-संतप्त हृदय हलका किया है। उर्मिला सब कुछ सुनती है, पर चुप रहती है, और कवि भी उसके विषय में मौन रहता है। सहनशक्ति की भी सीमा होती है; मौन शोक का वेग प्रायः भयंकर होकर छाती फाड़कर निकलता है। वनवास के अवसर पर वह केवल 'हाय' कहकर धड़ाम से गिरती है और इस समय अपने क्षीण स्वर में एक प्रश्न करते-करते मूर्छित हो जाती है—

'माँ कहाँ गए वे पूज्य पिता'? करके पुकार यों शोक - सिता।
उर्मिला सभी सुध - बुध त्यागे, जा गिरी कैकेयी के आगे[1]।

यहाँ उर्मिला का कैकेयी के आगे गिरना कितना सार्थक है! संभव है, साकेत के शोक-मग्न समाज ने इस ओर ध्यान न दिया हो। इसी प्रकार चित्रकूट-सभा के अवसर पर सब कुछ निर्णय हो जाने पर जब कैकेयी हताश होकर कहती है—'हा, तब तक क्या कहूँ सुनूँगी किससे, तब उर्मिला केवल एक वाक्य कह कर ही शोकावेग हलका करती है—

१. 'साकेत', षष्ठ सर्ग, पृ० १२३।

जीती है अब भी अंब उर्मिला बेटी !
इन चरणों की चिरकाल रहूँ मैं चेटी[1] ।

इसके पश्चात् उसके सामने कोई ऐसा अवसर नहीं आता जब सम्मिलित परिवार के सम्मुख उसे बोलना पड़ा हो ।

वस्तुतः उक्त अवसरों पर मौन रहने में ही उर्मिला का गौरव है । वह 'सबसे अधिक दुःखिनी' है, उसका दुख सभी समझ रहे हैं और उसकी सहनशीलता की प्रशंसा भी कर रहे हैं । परंतु चपल और उद्विग्न होकर अपनी स्थिति की ओर इंगित अथवा अपने कष्ट की ओर संकेत करनेवाला एक शब्द भी यदि वह अपने मुँह से निकाल देती तो वह उसके गौरव के प्रतिकूल ही होता । मानव-प्रकृति की यह विचित्रता है कि वह व्यक्ति को आदर्श की कसौटी पर एक बार ही कसकर संतुष्ट नहीं हो जाती वह तो उस व्यक्ति को गौरव और मान का वास्तविक पात्र समझती है जो परीक्षाग्नि में तिल-तिल जलता रहे, फिर भी मुँह से 'आह' न निकाले । सहनशक्ति की सीमा होती है, यह जानते हुए भी सम्मान हम उसी का करते हैं जो उसका विस्तृत क्षेत्र पारकर सीमा से परे तो पहुँच ही गया हो, साथ ही मार्ग में जिसने अपने चेहरे पर एक शिकन तक न आने दी हो । विरहाग्नि में उर्मिला भी तिल - तिल जलती है, परंतु उसका परिवार उसकी एक 'आह' नहीं सुन पाता । एकांत में अथवा अपनी अंतरंग सखी के सामने वह अपनी सुध-बुध भूल जाती है, यह बात दूसरी है; पर सम्मिलित परिवार के सम्मुख उसकी मौन सहनशीलता ने उसका चरित्र बहुत ऊँचा उठा दिया है ।

वन-वास की १४ वर्ष की अवधि उर्मिला को कठोर परीक्षाएँ देते ही बीतती है । वन-गमन के अवसर की परीक्षा ऐसी है जिसके लिए वह जरा भी तैयार नहीं है—तैयार क्या, इस अवसर की तो किसी ने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी । सुनहले जीवन-काल के लंबे चौदह वर्ष का विषम वियोग रघुकुल की इस सुकुमार वधू पर ऐसी आघात है जो उसे सहसा असहाय-सा बना देता है । इस समय वन जाने को प्रस्तुत अपने प्रियतम से वह आँखों से भी बात नहीं कर पाती; उनके विचारों का केवल अनुमान करके ही उसे अपने मन को प्रिय-पथ का विघ्न बनने से रोकना पड़ता है । राम-लक्ष्मण के वन जाने के पश्चात् उसकी और भी कठिन

---

१. 'साकेत', अष्टम सर्ग, पृ० १८९ ।

परीक्षा आरंभ होती है। सूर्य-वंश पर आयी हुई इस विपत्ति का कारण भरत अपने को समझते हैं। ग्लानि से गलते हुए वे इस अनजान 'अपराध' के लिए कठोर प्रायश्चित करते हैं। उर्मिला इस समय यदि अपना दुख व्यक्त कर दे, उसके दग्ध और पीड़ित हृदय की व्यथा-भरी एक आह भी भरत यदि सुन लें तो न जाने वे अपनी क्या दशा कर डालें! इसलिए उर्मिला को मुस्कराते रहकर ही सब कुछ सहना है। एकांत में वह अपनी आंतरिक व्यथा व्यक्त कर, दिन रात आँसू बहा अपना मन कुछ हलका कर सकती है, परंतु भरत अथवा कैकेयी तक उसकी एक गर्म आह नहीं पहुँचनी चाहिए। इस असह्य संयम द्वारा वह दूसरी कठोर परीक्षा में सफल होती है।

चित्रकूट की सभा उसकी परीक्षा का तीसरा अवसर है। भरत, कैकेयी, राम, सीता, सभी अपनी बात कहते और किसी न किसी रूप में संतुष्ट हो जाते हैं। उर्मिला को यहाँ भी, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, मौन रहकर ही सब कुछ सुनना-सहना है। एक बार अपने अस्तित्व के संबंध में कैकेयी से दो शब्द वह अवश्य कहती है; परंतु इनसे न उसकी व्यथा ही कुछ कम होती है और न उसे सांत्वना ही मिलती है। अयोध्या लौटने पर फिर उसे पूर्ववत् संयम से काम लेना पड़ता है।

अंतिम और सबसे कठोर परीक्षा का समय उसके लिए वह है जब उसे लक्ष्मण-शक्ति की सूचना मिलती है। चौदह वर्ष का दीर्घकाल जब लगभग समाप्त होने को है, दीर्घ विरह की कठिन पीड़ा का अंत समीप जान प्राणेश्वर के प्रिय दर्शन की लालसा प्रतिक्षण जब बढ़ती जा रही है, तभी प्रियतम के शुभागमन की प्रिय सूचना के स्थान पर उर्मिला को उनके शक्ति लगने का अप्रिय समाचार मिलता है। आज से लगभग १३ वर्ष पहले ही जो उर्मिला 'रेखा-मात्र' हो गयी थी, उसके संतप्त हृदय पर इस दुखद सूचना का कितना मार्मिक और गहरा आघात हुआ होगा! इस दुर्घटना का मूल कारण अपने को समझ भरत जब उत्तेजित हो रहे हैं और उर्मिला से उन्होंने 'मैं लक्ष्मण-पथ-पथी' होने की बात कहलाकर अपनी मानसिक व्यथा की ओर एक संकेत भी कर दिया है, पति को खोकर पुत्र-वियोग सहनेवाली माताएँ जब इस नवीन विपत्ति से अत्यंत विकल हो गयी हैं, उर्मिला के लिए तब अपनी असह्य वेदना को प्रकट करने का अवसर नहीं रह जाता—उसकी व्यथा से भरत और माताओं के रोते हुए हृदयों पर और भी चोट पहुँचती है। अतः कवि ने इस समय उर्मिला का वीरावेश दिखाकर

स्थिति को अधिक भयप्रद होने से ही नहीं बचा लिया है, प्रत्युत उसके चरित्र की चमत्कारपूर्ण ऐसी विशेषता का परिचय भी दिया है, जिसकी हम वीर लक्ष्मण की पत्नी से पूर्ण आशा कर सकते हैं और जिसका अभाव वन-गमन के अवसर पर देखकर हम भविष्य के संबंध में कुछ चिंतित हो जाते हैं। इस समय जब साकेत के वीरों को मातृभूमि का मान ध्यान में रखने का आदेश देकर प्राचीन आर्य - वीरता की पुण्य गाथा गाती हुई कीर्ति-सी सेना के आगे चलने को उर्मिला प्रस्तुत होती है तब सत्य ही 'वीर के साथ ब्याही' गयी, वीरवर लक्ष्मण की रानी का वीर-पत्नी के रूप में हम पावन दर्शन करते हैं—

"नहीं, नहीं"—सुन चौंक पड़े शत्रुघ्न और सब,
ऊषा - सी आ गई उर्मिला उसी ठौर तब।
वीणांगुलि - सम सती उतरती - सी चढ़ धाई,
तालपूर्ति - सी संग सखी भी खिचती आई।
आ शत्रुघ्न - समीप रुकी लक्ष्मण की रानी,
प्रकट हुई ज्यों कार्त्तिकेय के निकट भवानी।
जटा - जाल - से बाल विलंबित छूट पड़े थे,
आनन पर सौ अरुण, घटा में फूट पड़े थे।
माथे का सिंदूर सजग अंगार - सदृश था,
प्रथमातप - सा पुण्य गात्र, यद्यपि वह कृश था।
बायाँ कर शत्रुघ्न - पृष्ठ पर कंठ - निकट था,
दायें कर में स्थूल किरण - सा शूल विकट था[1]।

'साकेत' के नवें और दसवें सर्ग की रचना उर्मिला की जिस विषादपूर्ण पीड़ा को लेकर हुई है, वह कदाचित् स्वयं उसी को खटकती है। छठे सर्ग में उर्मिला ने कहा है।

मैं अपने लिए अधीर नहीं, स्वार्थी यह लोचन-नीर नहीं।
क्या से क्या हाय! हो गया यह, रस में विष कौन बो गया यह[2]।

इन पंक्तियों में व्यक्तिगत दुख को उर्मिला ने जितना नगण्य माना है उसे यदि इस महाकाव्य के रचयिता ने नवें सर्ग की रचना करते समय अपने ध्यान

---

१. 'साकेत', द्वादश सर्ग, पृ० ३१२।
२. 'साकेत', षष्ठ सर्ग, पृ० ११७।

में रखा होता तो काव्य की अंतरात्मा ही नहीं बदल जाती, प्रत्युत उर्मिला का चरित्र भी अधिक आकर्षक रूप में हमारे समाने आता। इतने ऊँचे आदर्श की ओर कवि का ध्यान उस सहानुभूति पर ही केंद्रित रहने के कारण न जा सका जिससे प्रेरित होकर वह 'साकेत'-रचना में प्रवृत्त हुआ था; अथवा उर्मिला के लिए उसने इस कारण इसे उपयुक्त ही न समझा कि कहीं उसकी नारी-सुलभ सुकुमारता उसके चरित्र को इतना ऊँचा उठाने में बाधक न सिद्ध हो जाय। वाल्मीकि और तुलसी ने संभवतः आदर्श और कला की रक्षा के लिए ही उर्मिला का उल्लेख आवश्यक नहीं समझा—उसे अध्याहार में रखा। इसमें वर्तमान साहित्यिकों को उसके प्रति इन महाकवियों की जो उपेक्षा प्रतीत हुई, 'साकेत' में गुप्त जी ने एक ओर तो सफलतापूर्वक उसका परिहार किया और दूसरी ओर कला के उच्चादर्श की रक्षा भी वे कर सके। उर्मिला की सृष्टि को लेकर गुप्त जी को जो महत्व प्रदान किया गया है वह इसी कारण।

उर्मिला और लक्ष्मण-मिलन के दो भावपूर्ण स्थल 'साकेत' में हैं। एक बार आठवें सर्ग के अंत में सीता सलाघव लक्ष्मण को अपनी कुटी में भेजती हैं जहाँ वे कोणस्थ उर्मिला-रेखा को देख 'यह काया है या शेष उसी की छाया' के संदेह में पड़ जाते हैं। संभवतः उर्मिला को प्रिय-मिलन की आशा थी। उसके मन में तरह-तरह के विचार उठ रहे थे, प्रियतम से वह बहुत-कुछ कहना चाहती थी और ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में भी थी। इसीलिए लक्ष्मण को सहसा आश्चर्य से ठिठकते देखकर वह कह उठती है—

> **मेरे उपवन के हरिण, आज वन-चारी।**
> **मैं बाँध न लूँगी तुम्हें, तजो भय भारी[1] ॥**

लक्ष्मण का सम्मिलित भय और आश्चर्य जाता रहता है। उर्मिला की 'काया' को 'छाया' मात्र बना देने का अपराधी स्वयं अपने को समझ वे दौड़कर 'प्रिया-पद-तल' में गिर पड़ते हैं और कदाचित् अपने विवशता-जनित 'अपराध' के कारण अपनी हीनता की ओर इंगित करते हुए कहते हैं—

> **वन में तनिक तपस्या करके,**
> **बनने दो मुझको निज योग्य।**

---

१. 'साकेत', अष्टम सर्ग, पृ० १६३।

भाभी की भगिनी तुम, मेरे
अर्थ नहीं केवल उपभोग्य[1]।

इन शब्दों को सुनते ही उर्मिला विकल-सी हो जाती है। चाहती तो वह बहुत-कुछ कहना है; पर उसे शब्द ही नहीं सूझते और यही कह कर उसे मौन रह जाना पड़ता है—

हा स्वामी! कहना था क्या क्या,
कह न सकी कर्मों का दोष!
पर जिसमें संतोष तुम्हें हो
मुझे उसी में है संतोष[2]।

दूसरा भावपूर्ण स्थल इस महाकाव्य के अंत में है। वन से लौटने पर उर्मिला-लक्ष्मण के प्रथम संयोग की एक झलक कवि ने दिखायी है। मिलन की सम्मिलित उत्सुकता और आवेश में उर्मिला का उच्छ्वसित हृदय उमड़ रहा है, उमंग से उसके अंग भर रहे हैं, तरह-तरह के प्रश्न उसके मन में उठ रहे हैं। सखी शृंगार करने को कहती है जिससे उसकी चिरसंचित कामना पूरी हो जाय, सारी कसक मिट जाय। परंतु उर्मिला को आज इन सबकी अभिलाषा नहीं है; शृंगार और आडंबर से उसे अरुचि हो गयी है—वस्त्रालंकारों मात्र से को अब वह प्रियतम रिझाना नहीं चाहती है। हृदय की प्रीति हृदय पर ही होती है। दूसरे, अवस्था-विशेष में ही, जो उर्मिला ने वियोग में बिता दी, शारीरिक शृंगार की आवश्यकता होती है। अब, अवस्था बीत जाने पर इसका मूल्य ही क्या? अतः उर्मिला की यह विरक्ति स्वाभाविक कही जा सकती है।

परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि उर्मिला को अपने विगत यौवन-उन्माद की वेदना-भरी कसक अवश्य है। वह उन दिनों के लिए अब भी दुखी है जो उसके मान के दिन थे और जब सब तरह के शृंगार उसे सोहते थे। मिलन की इस बेला में उसकी यह खिन्नता, संभव है, किसी को खटके; परंतु इसका सीधा संबंध उर्मिला की उस कसक से है जो वन-वास के समय प्रियतम से इतना भी न कह सकने के कारण चौदह वर्ष तक उसका हृदय सालती रही—

---

१. 'साकेत', अष्टम सर्ग, पृ० १६३।
२. 'साकेत', अष्टम सर्ग, पृ० १६३।

हे नाथ ! साथ दो भ्राता का, बल रहे मुझे उस त्राता का।

\+ \+ \+

रह कर वियोग से अस्थिर भी, देखूँ मैं तुम्हें यहाँ फिर भी।
है प्रेम स्वयं कर्तव्य बड़ा, जो खींच रहा है तुम्हें खड़ा।
यह भ्रातृस्नेह न ऊना हो, लोगों को लिए नमूना हो।
सुन कर जीजी की मर्म-कथा, गिर पड़ी मैं, न सह सकी व्यथा।
वह नारि-सुलभ दुर्बलता थी, आकस्मिक वेग - विकलता थी।
करना न सोच मेरा इससे, व्रत में कुछ विघ्न पड़े जिससे।
आने का दिन है दूर सही, पर है मुझको अवलंब यही।
आराध्य युग्म के सोने पर, निस्तब्ध निशा के होने पर।
तुम याद करोगे मुझे कभी, तो बस फिर मैं पा चुकी सभी।
प्रिय-उत्तर भी सुन सकी न मैं, निज चिर-गति भी चुन सकी न मैं।
यह दीर्घ काल काटूँ जिससे, पूछूँ अब हाय ! और किससे[1] ?

चित्रकूट - प्रसंग में भी उसे अपने आंतरिक उद्गार व्यक्त करने का अवसर न मिला। यही कारण है कि चौदह वर्ष की लंबी अवधि का गुरुभार इसी कसक में बिसूरते हुए, आँसुओं की धार से तिल-तिल काटने के पश्चात् जब उसके सुख-सौभाग्य का दिन आया है तब भी वह विकल है। यदि उर्मिला ने एक बार भी अपने हृदयोद्गार व्यक्त कर दिये होते तो इस प्रकार की विकलता निस्संदेह अस्वाभाविक समझी जाती। अस्तु।

'साकेत' की उर्मिला सर्वत्र प्रेममयी आदर्श नवयुवती के रूप में चित्रित की गयी है। शैशवकाल पार करके यौवनावस्था में पदार्पण करती हुई उर्मिला विवाह के कुछ पूर्व ही फुलवारी में प्रिय-दर्शन करके उन पर मुग्ध होती है। रात भर जागते में वह मधुर कल्पना में मग्न रहती है और सोने पर मीठे स्वप्न देखती है। स्वयंवर में भी वह बड़ी प्रेममयी दृष्टि से लक्ष्मण को ओर निहारती है। उनकी गर्वभरी वीरोपयुक्त वाणी से उसे भी सहज गर्व होता है। स्वभाव से वह बड़ी सरल है और उसको भी डर हो जाता है कि आर्य से यदि धनुष न उठा तो क्या होगा। चित्रकला में भी वह बड़ी कुशल है। राम के राज्याभिषेक की बात सुनने के पूर्व ही उसने अपनी कल्पना से इतना सुंदर चित्र खींचा है कि लक्ष्मण उसे देखते ही रह जाते हैं। मुग्ध स्वर में उनके मुँह से निकलता है—

---

१. 'साकेत', षष्ठ सर्ग, पृ० ११६–१७।

मंजरी-सी अँगुलियों में यह कला,
देखकर मैं क्यों न सुध भूलूँ, भला ?
क्यों न अब मैं मत्त गज-सा झूम लूँ ?
कर-कमल लाओ तुम्हारा चूम लूँ[1]।

पश्चात, वह प्रियतम लक्ष्मण का वैसा ही सुंदर और यथार्थ चित्र खींचने में संलग्न हो जाती है। लक्ष्मण के वन जाने पर युवती उर्मिला को दो-एक बार भोगी कामदेव को फटकारने की आवश्यकता भी पड़ती है—

मुझे फूल मत मारो
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।
होकर मधु के मीत मदन, पटु, तुम कटु गरल न गारो,।
मुझे विकलता, तुम्हें विफलता, ठहरो श्रम परिहारो।
नहीं भोगिनी यह मैं कोई जो तुम जाल पसारो,
बल हो तो सिंदूर-बिंदु यह—यह हर - नेत्र निहारो।
रूप-दर्प कंदर्प, तुम्हें तो मेरे पति पर वारो;
लो, यह मेरी चरण-धूलि उस रति के सिर पर धारो[2]!

उर्मिला की पीड़ा के प्रति गुप्त जी का यह संकेत अनुपयुक्त, अस्वाभाविक अथवा उसके चरित्र पर दोष लगानेवाला नहीं है। अपने 'चपल-यौवन' को संबोधित कर उसने जो पंक्तियाँ कही हैं, वे भी बड़ी मार्मिक हैं—

मेरे चपल यौवन-बाल !
अचल अंचल में पड़ा सो, मचल कर मत साल।
बीतने दे रात, होगा सुप्रभात विशाल,
खेलना फिर खेल मन के पहन कर मणि-माल।
डर न, अवसर आ रहा है, जा रहा है काल।
मन पुजारी और तन इस दुःखिनी का थाल,
भेंट प्रिय के हेतु उसमें एक ही तू लाल[3]।

सारांश यह कि 'साकेत' के नवें सर्ग के विरहोद्गारों और अश्रुधाराओं में

१. 'साकेत', प्रथम सर्ग, पृ० २८।
२. 'साकेत', नवम सर्ग, पृ० २२७।
३. 'साकेत', नवम सर्ग, पृ० २३७।

'दीना-हीना-अधीना' उर्मिला की मानसिक दुर्बलता का आभास किसी को भले ही मिले, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि उसके प्रति जिस सहानुभूति से प्रेरित होकर कवि काव्य की रचना में प्रवृत्त हुआ था और 'दीन सी तीन सासों के रुदन' तथा 'हत बहनों की उसासों में' जिनका क्षीण स्वर सुनाकर हमारी समवेदना भी वह जाग्रत करना चाहता है, उसका पूर्णतः निर्वाह वह कर सका है। 'मन को यों मत जीतो, सुध लो मेरी भी तो'—जैसी पंक्तियों में ध्वनित विषाद की अतिशयता और वैयक्तिक स्वार्थ का सीधा संबंधी युवती उर्मिला की वासना-सुख की पार्थिव और ऐहिक लालसा से स्थापित कर यदि हम प्रथम सर्ग में सांकेतिक स्वर्गीय अतुलित आत्मिक आनंद का क्षणिक विकार-मात्र समझें तो हमें गुप्त जी की इस कृति पर गर्व होगा और हम भी 'प्रभुवर' के स्वर में स्वर मिलाकर कह सकेंगे—

तूने तो सहधर्म - चारिणी के भी ऊपर,
धर्म स्थापना किया भाग्यशालिनि इस भू पर[1]।

कैकेयी—

कैकेयी का प्रथम परिचय 'साकेत' के दूसरे सर्ग में मिलता है। मंथरा से उसका संवाद आरंभ होता है। तब हम देखते हैं कि वह भोले-भाले स्वभाव की है। पुत्रों के प्रति उसकी ममता नितांत स्वाभाविक है। अपने जाये भरत के लिए ही नहीं, सपत्नीपुत्र राम के लिए भी उसके मातृ-हृदय में प्यार और दुलार है। बालक राम भी अपनी माता से ज्यादा उसी से हिला हुआ है और रात को जागने पर प्रायः उसके पास जाने के लिए मचल जाता है। चित्रकूट में कौशल्या के सामने ही केकयी ने यह बात कही है—

होने पर बहुधा अर्ध रात्रि अंधेरी
जीजी आकर करती पुकार थीं मेरी—
'लो कुहकिनि, अपना कुहुक, राम यह जागा
निज मझली माँ का स्वप्न देख उठ भागा'[2]।

राम के राज्याभिषेक की सूचना पाकर कैकेयी को सहज सुख होता है। भरत

---

१. 'साकेत', द्वादश सर्ग, पृ० ३३१।
२. 'साकेत', अष्टम सर्ग, पृ० १८२।

और राम में वह किसी प्रकार का भेद नहीं समझती। मंथरा की कुल का नाश करानेवाली बातें सुन कर कैकेयी उसे फटकारते हुए कहती है—

वचन क्यों कहती है तू वाम ?
नहीं क्या मेरा बेटा राम ?

\+ + +

राम की माँ क्या कल या आज।
कहेगा मुझे न लोक-समाज ?

\+ + +

कहा कैकेयी ने सक्रोध—
दूर हो दूर अभी निर्बोध !
सामने से हट, अधिक न बोल,
द्विजिह्वे, रस में विष मत घोल।
उड़ाती है तू घर में कीच,
नीच ही होते हैं बस नीच।
हमारे आपस के व्यवहार,
कहाँ से समझे तू अनुदार[1] ?

राम के प्रति इस मातृत्व पर कैकेयी को गर्व भी है। उसका यह वात्सल्य न अस्वाभाविक है और न अनुपयुक्त। उसकी पुत्र-वत्सलता के कारण ही जो इतना बड़ा कांड घटित हो जाता है वह इसलिए कि उसके हृदय की पवित्रता ईर्ष्या से कलुषित हो गयी है। भरत के आगे वह इसी वात्सल्य की चर्चा करती है और उनके द्वारा तिरस्कृत होने पर सोचती है—

कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य मात्र, क्या तेरा[2] ?

चित्रकूट की सभा के अवसर तक उसकी ईर्ष्याग्नि शांत हो गयी है, वह प्रकृतिस्थ होकर जब वहाँ अपने 'अपराध' का प्रायश्चित्त करने के लिए प्रस्तुत होती है तब अपने कथन की प्रस्तावना अपने वात्सल्य को लेकर ही आरंभ करती है—

अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया[3]।

---

१. 'साकेत', द्वितीय सर्ग, पृ० ३२।
२. 'साकेत', अष्टम सर्ग, पृ० १७१।
३. 'साकेत', अष्टम सर्ग, पृ० १७८।

राम-कथा का अपने मूल रूप में कुछ राजनीतिक कारणों से भी संबंध अवश्य रहा होगा। भरत के लिए राज्य माँगते समय राम को वन भेजना बहुत अधिक आवश्यक नहीं था, यदि इसमें कुछ राजनीतिक रहस्य निहित न रहता। तुलसी ने भक्ति-भाव से प्रेरित होकर इस कथा को अपनाया था तो गुप्त जी कैकेयी की ईर्ष्या-वृत्ति के मनोवैज्ञानिक विकास की विवेचना की ओर प्रयत्नशील रहे हैं। अतः न 'मानस' में इसका संकेत है और न 'साकेत' में ही। जैसे गुप्त जी ने कथा के अन्यान्य प्रसंगों में नवीनता, विशेषता और स्वाभाविकता लाने का सफल प्रयास किया है, वहाँ राजनीति से इस घटना का संबंध स्थापित करके कैकेयी के वात्सल्य को अधिक उत्तेजित और वनवास के कारण को अधिक उपयुक्त भी बनाया जा सकता था। जो हो, 'मानस' से 'साकेत' की कैकेयी का वात्सल्य अधिक तीव्र, आवेगमय और फलतः कथा-विकास के लिए अधिक उपयुक्त है।

सूर्यवंशी महाराज दशरथ की प्रौढ़ा रानी कैकेयी के स्वभाव में कुलोचित अभिमान और गर्व भी है। मंथरा की अंतिम बात—

> भरत-से सुत पर भी संदेह,
> बुलाया तक न उन्हें जो गेह[1]।

से अभिमान की इसी भावना को ठेस लगती है। हम जिनके लिए जान देते हैं वे ही हम पर अविश्वास करते और हमारी जड़ खोदते हैं! इस विचार के मन में आते ही अत्यंत व्यथित होकर वह सोचती है—

> न थी हम माँ - बेटे की चाह
> आह! तो खुली न थी क्या राह?
> मुझे भी भाई के घर नाथ
> भेज क्यों दिया न सुत के साथ[2]।

उसका अभिमानी हृदय अपमान और अविश्वास का यह व्यवहार सहने को तैयार नहीं होता। केवल उसी के प्रति ऐसा किया गया होता, तो कदाचित् वह सहन कर लेती; परंतु यहाँ तो शील-समुदाय भरत भी उसके गर्भ में आकर संशय-पात्र हो जाता है। बार बार वह 'भरत-से सुत पर भी संदेह' की बात सोचती है। चारो ओर यही ध्वनि गुंजने लगती है। इसकी पुनरावृत्ति करके कवि ने मनोवैज्ञानिक

---

१. 'साकेत', द्वितीय सर्ग, पृ० ३९।

२. 'साकेत', द्वितीय सर्ग, पृ० ३७–३८।

रीति से कैकेयी की मानसिक स्थिति और उसके मनोभावों पर इस वाक्य से पड़ने वाले प्रभाव का परिचय दिया है। कैकेयी को न राम से ईर्ष्या है और न कौशल्या से ही। परंतु अपने विश्वासी और सहज मातृत्व पर अविश्वास भरा यह आघात सहने को वह तैयार नहीं है। अपने जाये पूत के इस अपमान के प्रतिशोध के लिए कुलोचित गर्व-भाव से युक्त कैकेयी निश्चय करती है-—

किंतु, चाहे जो कुछ हो जाय,
सहूँगी कभी न यह अन्याय।
करूँगी मैं इसका प्रतिकार,
पलट जाये चाहे संसार।
नहीं है कैकेयी निर्बोध,
पुत्र का भूले जो प्रतिशोध[1]।

इस निश्चल निश्चय के मन में आते ही कैकेयी का शरीर क्षोभ से जलने लगता है, उसमें सौतिया डाह भर जाता है। मानिनी कैकेयी क्रोधित और अशांत हो जाती है। क्रोध अंधा होता है। क्रोध में कैकेयी भी अंधी हो जाती है। क्रुद्ध दुर्गा की तरह हुंकारती हुई वह महल में घूमने लगती है; सारे शृंगार उसने तोड़ कर फेंक दिये हैं, जिस चीज पर हाथ पड़ता है, वह नष्ट हो जाती है। राजप्रासाद के सुन्दर चित्र उसने चूर कर दिये हैं। लंबी-लंबी साँसें वह ले रही रही है, नथुने फुफकार रही है, बाल बिखरे हैं। अंत में मानसिक और शारीरिक श्रम से थक कर वह पलंग पर पड़ जाती है।

राम को वन भेजने की बात पर दृढ़ रहनेवाली कैकेयी को सब कुछ सहना पड़ता है। पति के दुर्वचन और कटुवाक्य, सपत्नीसुत के अपमान भरे अपशब्द, सभी कुछ वह सह लेती है। आरंभ में मंथरा ने उसकी स्निग्ध और स्वस्थ ममता को अपने वचनों से कुरेद कर मानवमात्र के हृदय की सुप्त ईर्ष्या को जाग्रत कर दिया। कैकेयी इसके पश्चात्, सभी को इसी दृष्टि से देखती है। पति और सपत्नी-सुत के वचनों से यह ईर्ष्याग्नि और भी प्रज्ज्वलित होती है। परंतु भरत के संभावना के सर्वथा विरुद्ध तिरस्कारयुक्त वचनों की निरंतर और तीक्ष्ण वृष्टि और चोट से ईर्ष्याग्नि ही नहीं ठंडी होती, उसकी मातृत्व-भावना को भी गहरी ठेस पहुँचती है। पति पर अपने अधिकार का सहारा लेकर वह अपना दग्ध हृदय जो शीतल करती है, सबके विरोध और तिरस्कार करने पर भी

---

१. 'साकेत', द्वितीय सर्ग, पृ० ३१।

जो अपने निश्चय पर अटल रहती है, सो केवल अपने जाये पूत के लिए सिंहासन सुरक्षित रखने के उद्देश्य से ; परंतु उसी भरत को अपने इस कार्य पर क्रोध से हत्बोध होते देख—

> कैकयी चिल्ला उठी सोन्माद—
> 'सब करें मेरा महा अपवाद'
> किंतु उठ ओ भरत, मेरा प्यार,
> चाहता है एक तेरा प्यार।
> + + +
> सब करें मेरा महा अपवाद,
> किंतु तू तो न कर हाय ! प्रमाद[1]।

माता के ममतामय हृदय के इन वचनों की ओर भरत का ध्यान नहीं जाता। सिंहासन उन्हीं के लिए कैकेयी ने माँगा था ; अतः भ्रातृ-निष्कासन और पितृ-घात का कारण वे अपने को मान कर ग्लानि से गलने लगते हैं। जिस कैकेयी ने माता होते हुए भी उन्हें 'गृह-कलह का मूल' बना कर 'सारे मुँह में नील पोत' दी है, उसे वे सभी तरह से धिक्कारते हैं—

> धन्य तेरा क्षुधित पुत्र-स्नेह,
> खा गया जो भून कर पति-देह।
> + + +
> तू बनी जननी कि हननी, सोच[2]।

ऐसे मर्मघातक वाक्य सुन कर कैकेयी का हृदय भग्न हो जाता है। अंत में भरत 'निज भावना की भुक्ति भोगने' के लिए कैकेयी को 'उसी पर छोड़' कर 'आर्यजननी की ओर' चले जाते हैं। कवि भी यहाँ पर कैकेयी की ओर से मुँह मोड़ लेता है। उसकी इस समय की मानसिक स्थिति की कल्पना करना भी भयप्रद है। पति, सपत्नी, उनके पुत्र, परिजन, पुरजन, सभी के तिरस्कार और व्यंग्य भरे कटाक्ष-वाणों से जिसका हृदय जर्जर हो गया है, एक मात्र पुत्र को ही, जिस पर उसकी समस्त अभिलाषाएँ केंद्रित हैं, जिस पर गर्व करके वह लक्ष्मण से 'भरत होता यहाँ तो बताती' तक कहने को तैयार है, और जिसके

---

१. 'साकेत', सप्तम सर्ग, पृ० १३६।
२. 'साकेत', सप्तम सर्ग, पृ० १३७ और १३८।

वात्सल्य से प्रेरित होकर ही वह 'पति-घातिनी', 'पुत्रभक्षिणी साँपिनि' जैसे निर्दयतायुक्त संबोधन सुनने को विवश होती है, जब कठोर मुष्टि-प्रहार करने को प्रस्तुत—भरत के समर्थक, क्रोधावेश भरे अनुज शत्रुघ्न को 'मातृ-वध' के लिए उद्यत—देखती है, तब उसके भग्न हृदय की मंद गति और क्षीण मानसिक चेतना लुप्त ही हो गयी होगी। कवि इस संबंध में मौन है; संभवतः उसका कोमल हृदय इससे अधिक कैकेयी के लिए कहना अनुचित समझता है।

चित्रकूट की सभा में कैकेयी 'मानस' की तरह 'ग्लानि' में 'गरी' नहीं है, प्रत्युत अपने कर्म को 'पहाड़-सा पाप' समझती है और उसी अनुपात में परिताप करती है। अपना अपराध स्वीकार करके वह यहाँ तक सहने को तैयार है—

(१) थूके, मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके[1]।

(२) युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी।
निज जन्म जन्म में सुने जीव यह मेरा—
धिक्कार उसे था महा स्वार्थ ने घेरा[2]।

कैकेयी ने जो 'विकराल कुयश कमाया', उसका प्रधान कारण उसका मोह था, वात्सल्य था। यद्यपि आरंभ में उसे राजमाता होने की कोई चाह नहीं थी—राम के राज्याभिषेक से उसे स्वाभाविक प्रसन्नता थी, तथापि मंथरा के शब्दों से जब उसके वात्सल्य को ठेस लगती है तब उसका राजमातृत्व-भाव जाग्रत हो जाता है। परंतु आज शांत और निर्मल हृदय से सारे साकेत-समाज के सामने अनुताप-प्रदर्शन करती हुई कैकेयी यहाँ तक कह जाती है—

दुर्बलता का ही चिन्ह-विशेष शपथ है,
पर अबलाजन के लिए कौन-सा पथ है?
यदि मैं उकसाई गई भरत से होऊँ,
तो पति समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊँ[3]।

'साकेत' में कैकेयी के वीरांगनोचित चरित की ओर भी एक संकेत किया गया है। 'मानस' में हम केवल इतना सुनते हैं कि राजा दशरथ के साथ वह

---

१. 'साकेत', अष्टम सर्ग, पृ० १७६।
२. 'साकेत', अष्टम सर्ग, पृ० १८०।
३. 'साकेत', अष्टम सर्ग, पृ० १७८।

देव-युद्ध में गयी थी। तब हमारे मन में यह विचार आता है कि कदाचित् प्रेम के कारण भी राजा उसे साथ ले गए होंगे। 'साकेत' में गुप्तजी का ध्यान आरंभ से ही इस ओर रहा है। मंथरा के जाने के पश्चात् जब वह कौशल्या के कल्पित षड्यंत्र पर विचार करती है, तब आत्मगौरव-रक्षा के लिए जो वचन वह कहती है, ऊपर उद्धृत किये जा चुके हैं। लक्ष्मण के शक्ति लगने की सूचना पाकर उसके ये वीरोद्गार हम सुनते हैं—

भरत जायगा प्रथम और यह मैं जाऊँगी,
ऐसा अवसर भला दूसरा कब पाऊँगी?
मूर्तिमती आपत्ति यहाँ से मुँह मोड़ेगी,
शत्रु-देश सा ठौर मिला, वह क्यों छोड़ेगी?

* * *

मैं निज पति के संग गई थी असुर-समर में,
जाऊँगी अब पुत्र-संग भी अरि-संगर में[१]।

कैकेयी के इन उद्गारों से एक ओर तो उसके चरित्र की उस विशेषता की पुष्टि होती है और दूसरी ओर अपने पूर्व अपराध का प्रायश्चित करने की उसकी तत्परता का ज्ञान होता है। ये वचन सुनकर हमारा हृदय भी उसकी तरफ से बिलकुल ही साफ नहीं हो जाता, प्रत्युत उसके प्रति हमारा सम्मान-भाव भी बढ़ जाता है और हम प्रभु के साथ ऊँचे स्वर में कहते हैं—

सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
जिस जननी ने है जना भरत-सा भाई[२]।

लक्ष्मण—

तुलसी ने लक्ष्मण का चरित्र इस ढंग से चित्रित किया है कि उनके भ्रातृ-स्नेह पर ही हमारी दृष्टि केंद्रित हो जाती है; हम यह सोच ही नहीं पाते कि भाई और माता से आज्ञा लेने के अतिरिक्त लक्ष्मण का किसी अन्य के प्रति भी कुछ कर्तव्य है। 'साकेत' में यह बात नहीं है। इसमें राम-वन-गमन का

---

१. 'साकेत', द्वादश सर्ग, पृ० ३०१।
२. 'साकेत', चतुर्थ सर्ग, पृ० १८०।

प्रसंग उठते ही लक्ष्मण उनके साथ वन जाने का निश्चय तो कर लेते हैं, परंतु उर्मिला की ओर से सर्वथा उदासीन नहीं हो जाते—

उठीं न लक्ष्मण की आँखें,
जकड़ी रहीं पलक - पाँखें।
किंतु कल्पना घटी नहीं,
उदित उर्मिला हटी नहीं।
खड़ी हुई थी हृदयस्थल में—
पूछ रही थी पल-पल में—
'मैं क्या करूँ ? चलूँ कि रहूँ ?
हाय ! और क्या आज कहूँ' ?
आः कितना सकरुण मुख था,
आर्द्र - सरोज - अरुण मुख था[1] ?

लक्ष्मण अत्यंत सहृदय प्रेमी के रूप में 'साकेत' में चित्रित हैं। प्रथम सर्ग में ही कवि ने उनके चरित्र की इस स्वाभाविकता से हमें परिचित करा दिया है। प्रिया के हार जाने पर पहले की हुई शर्त पूरी करने के लिए उनका 'परिरंभण' माँगना और 'तीक्ष्ण अपांग' घाते में ले लेना अत्यंत स्वस्थ शारीरिक सुख का परिचायक है। ऐसे ही अनेक प्रेम-प्रसंगों की मधुर स्मृति उर्मिला को सहलाती रहती है। उर्मिला कभी इस प्रसंग की याद करती है—

आए एक बार प्रिय बोले—एक बात कहूँ,
विषय परंतु गोपनीय सुनो कान में।
मैंने कहा—कौन यहाँ ? बोले—प्रिये, चित्र तो हैं,
सुनते हैं वे भी राजनीति के विधान में।
लाल किए कर्णमूल होठों से उन्होंने कहा
क्या कहूँ, गद्‌गद्‌ हूँ, मैं भी छद-दान में।
कहते नहीं हैं, करते हैं कृती, सजनी मैं,
खीझ के भी रीझ उठी उस मुसकान में[2]।

और कभी उसको सावन में झूला झूलने के एक अत्यंत मधुर प्रसंग की याद आ जाती है—

१. 'साकेत', चतुर्थ सर्ग, पृ० ७७।
२. 'साकेत', नवम सर्ग, पृ० २३७।

नंगी पीठ बैठकर घोड़े को उड़ाऊँ कहो,
किंतु डरता हूँ मैं तुम्हारे इस झूले से।
रोक सकता हूँ ऊरुओं के बल से ही उसे,
टूटे भी लगाम यदि मेरी कभी भूले से।
किंतु क्या करूँगा यहाँ? उत्तर में मैंने हँस,
और भी बढ़ाए पैंग दोनों ओर ऊले-से।
'हैं-हैं' कह लिपट गए थे यहीं प्राणेश्वर,
बाहर से संकुचित, भीतर से फूले-से[1]।

वस्तुतः 'साकेत' के लक्ष्मण में नवयुकोचित प्रेम की उमंग है, क्षत्रियोचित साहस और वीरता है और सहृदयोचित भ्रातृ-भावना है। गुप्तजी ने उनके चरित्र की तीनों विशेषताओं को बहुत गहरा रंग देकर अवसर-अवसर पर स्पष्ट ही नहीं कर दिया है, प्रत्युत तुलसी के भ्रातृ-भक्ति-आदर्श के फलस्वरूप उनके चरित्र में मानवीय दृष्टि से एकांगीपन का जो दोष आ गया था, उसका भी परिहार करके एक प्रकार की रमणीय मधुरता ला दी है। यह ठीक है कि भ्रातृ-प्रेम लक्ष्मण में अत्यंत प्रबल है; परंतु तुलसी ने इसके सामने उनके हृदय की कोमलता को जो दबा दिया है उसे आज का युग उर्मिला के प्रति उनकी निर्दयता ही मानने के पक्ष में है। गुप्तजी ने लक्ष्मण का चरित्र-चित्रण इस प्रकार किया है कि राम के प्रति अनुज की श्रद्धा की पूर्णतः रक्षा करते हुए भी वे उनकी स्निग्ध और कोमल प्रीति की मधुर झाँकी का दर्शन कराके उर्मिला के प्रति उचित न्याय कर सके हैं। समय आने पर हृदय के कोमल पक्ष को भ्रातृ-स्नेह और कर्तव्य के निर्वाह के लिए दमन करके वे जैसा आदर्श स्थापित करते हैं उससे उनका चरित्र 'मानस' की अपेक्षा अधिक प्रिय और ऊँचा हो गया है। 'मानस' के लक्ष्मण ने माता की पुत्र-स्नेह की दुर्बलता के प्रति शंकित होकर उसके चरित्र को भी हीन कर दिया है। 'साकेत' में, इसके विपरीत, कवि ने परिस्थिति का निर्माण इस कुशलता से किया है कि अपने साथ-साथ माता और पत्नी, दोनों का चरित्र लक्ष्मण ऊँचा उठा देते हैं। इस संबंध में इतना और कहा जा सकता है कि वनवास-काल में एकाध बार लक्ष्मण उर्मिला की स्मृति से सिहर भर उठते तो उनका चरित्र प्रस्तुत से अधिक प्रिय जान पड़ता और उनका मानसिक निग्रह तथा कठोर आत्मिक नियंत्रण भी ज्यों का त्यों महान् और गौरवास्पद बना रहता।

---

१. 'साकेत', नवम सर्ग, पृ० २१३।

राम के प्रति लक्ष्मण में भ्रातृ-हृदय की नैसर्गिक कोमलता है, निस्वार्थ ममता का भाव है। राम के वन जाने की बात सुनते ही वे ओजपूर्ण शब्दों में इस कार्य का विरोध करते हैं। इसलिए नहीं कि राम के वन न जाने से उनके किसी स्वार्थ की सिद्ध होगी, अथवा उनका कोई अन्य लाभ होगा, प्रत्युत इस कारण कि भाई का अधिकार छीनने का कार्य उन्हें अनुचित प्रतीत होता है। आवेश में वे माता-पिता, दोनों के लिए ऐसे अपशब्द कह जाते हैं कि स्वयं राम को ही, जिनके अधिकार के लिए वे लड़ रहे हैं, यहाँ तक कहना पड़ता है—

रहो, सौमित्रि ! तुम क्या कह रहे हो ?
सँभालो वेग, देखो, बह रहे हो[1] ?

यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि माता-पिता के लिए 'अनार्या की जनी, हतभागिनी यह', 'बने इस दस्युजा के दास हैं जो', जैसे अपशब्द जो लक्ष्मण ने प्रयुक्त किये हैं उनसे कवि का आशय उनके चरित्र में तुलसी के प्रतिकूल और वाल्मीकि के अनुकूल एक प्रकार की उत्तेजित उग्रता—जो सामयिकता की दृष्टि से किसी-किसी की सम्मति में कुछ-कुछ आवश्यक भी हो सकती है—लाना मात्र है। सभी पात्रों के चरित्र में नवीनता—कम से कम तुलसी के पात्रों से भिन्नता—लाने के आवेश में गुप्तजी ने लक्ष्मण को इतना उग्र बना दिया है। जो हो, गुप्तजी के लक्ष्मण की उग्रता तुलसी के लक्ष्मण से कितनी बढ़ी हुई है, यह केवल इस बात से जाना जा सकता है कि 'मानस' में इनके क्रोधावेश को शांत करने के लिए अग्रज का एक स्नेहभरा संकेत ही पर्याप्त होता है, वहाँ 'साकेत' में उक्त कथन द्वारा 'होश में आओ जरा' कहने के बाद इस तरह डाँटना भी पड़ता है—

....हाँ, बस चुप रहो तुम।
अरुंतुद वाक्य कहते हो अहो, तुम[2]।

राम के प्रति अनुज की श्रद्धा और सम्मान 'साकेत' में भी कम नहीं है। 'मानस' से अंतर यहाँ केवल इतना है कि वर्तमान तर्क-कुतर्क-प्रधान युग के कवि का प्रमुख पात्र बिना वाद-विवाद में परास्त हुए बड़े भाई की बात भी मानने को तैयार नहीं है। अग्रज का अंधानुमोदन न करके लक्ष्मण का सभी

---

१. 'साकेत', तृतीय सर्ग, पृ० ६० ।
२. 'साकेत', तृतीय सर्ग, पृ० ६१ ।

अवसरों पर अपने विचार सावेश व्यक्त करना और कभी-कभी तो, 'मानस' से सर्वथा प्रतिकूल, यह कहकर राम का विरोध भी कर जाना—

सीधे हैं आप, परंतु जगत है उलटा !

\+ + +

प्रतिषेध आपका भी न सुनूँगा रण में[1] ।

इनके सर्वथा स्वतंत्र व्यक्तित्व के—मूलतः जिसका संबंध स्वभाव से अधिक रहता है, परिस्थिति से कम—परिचायक है। परंतु माता-पिता के प्रति और वन आने की सूचना पाकर आशंका के कारण भरत के प्रति उनकी उग्रता का घनिष्ठतम संबंध उनकी भ्रातृ-भावना से ही है। इन अवसरों पर लक्ष्मण, भाई के अधिकारों की रक्षा के लिए उत्तेजित हो रहे हैं और यह बात स्वयं दशरथ ही ने कही है—

स्वयं निःस्वार्थ हो तुम, नीति रक्खो,
न होगा दोष कुछ, कुल-रीति रक्खो[2] ।

लक्ष्मण की इस उग्रता का कारण भ्रातृ-भावना की प्रेरणा को बतलाकर कवि ने उनके प्रति हमारी पुरानी भावना की रक्षा की है।

लक्ष्मण की उग्रता का अपेक्षाकृत अधिक तेजस्वी और ओजपूर्ण रूप हमें जनक की सभा और लंका-युद्ध में दिखायी देता है। जनक की 'वीर विहीन वसुधा' वाली बात सुनते ही—रघुवंश का, आर्य का और अपना अपमान समझकर वे गरज उठते हैं—

कहता यह बात कौन है? सुनता सत्कुलजात कौन है?

* * *

अब भी रवि का विकास है, अब भी सागर रत्न-वास है।
अब भी रघुवंश शेष है, वसुधा है, बृहदंस शेष है।
अब भी जल-पूर्ण जन्हुजा, अब भी राघव को महाभुजा।
शत कार्मुक इक्षु-खंड है, मम शुंडोपम बाहुदंड हैं[3] ।'

---

1. 'साकेत', अष्टम सर्ग, पृ० १७० ।
2. 'साकेत', तृतीय सर्ग, पृ० ६५ ।
3. 'साकेत', दशम सर्ग, पृ० २६३ ।

सीता-हरण के अवसर पर लक्ष्मण का यह कथन कितना वीरोचित और उपयुक्त है—

पच सकती है रश्मिराशि क्या महाग्रास के तम से भी ?
आर्य, उगलवा लूँगा अपनी आर्या को मैं यम से भी[1] ।

इसी प्रकार शक्ति की मूर्छा से जागने पर जब उनके मुख से यह वाक्य निकलता है—

धन्य इंद्रजित ! किंतु सँभल, बारी अब मेरी[2] ।

तब बड़े भाई राम भ्रातृ-स्नेह के कातर होकर थोड़ी देर उनसे विश्राम करने के लिए कहते हैं—

लक्ष्मण ! लक्ष्मण ! हाय ! न चंचल हो पल पल में,
क्षण भर तुम विश्राम करो इस अंक - स्थल में[3] ।

वीरवर लक्ष्मण ने इस पर राम को जो उत्तर दिया है वह कितना ओजपूर्ण और सामयिकता के प्रभाव से कितना युक्त है—

हाय नाथ ! विश्राम ? शत्रु अब भी है जीता,
कारागृह में पड़ी हमारी देवी सीता ।

* * *

यदि बैरी को मार न कुल-लक्ष्मी मैं लाऊँ,
तो मेरा यह शाप मुझे मैं सुगति न पाऊँ[4] ।

भारत के नवयुवक वीरों को जाग्रत करने के लिए ये पंक्तियाँ कितना चुभता हुआ संकेत और संदेश लिये हुए हैं !

सारांश यह कि कष्ट-सहिष्णु और साहसी वीर लक्ष्मण का भाई के साथ वन जाने के उद्देश्य से अपनी नवविवाहिता प्रियतमा को छोड़कर, उसके और अपने भावुकतामय हृदय की मादक कामनाओं को निष्ठुरता से हँसते-हँसते कुचल देना अद्भुत-अपूर्व त्याग का विषय है। स्वयं धर्मधारी प्रभु भी उनके इस गौरवपूर्ण त्याग की गदगद कंठ से सराहना करते हैं—

---

१. 'साकेत', एकादश सर्ग, पृ० २८४ ।
२. 'साकेत', द्वादश सर्ग, पृ० ३१८ ।
३. 'साकेत', द्वादश सर्ग, पृ० ३१८ ।
४. 'साकेत', द्वादश सर्ग, पृ० ३१८ ।

लक्ष्मण, तुम हो तपस्पृही, मैं वन में भी रहा गृही,
वनवासी हे निर्मोही, हुए वस्तुतः तुम दो ही[1]।

कौशल्या—

ममता-माया की मूर्ति माता कौशल्या का अत्यंत पावन और शांत दर्शन कवि हमें चतुर्थ सर्ग के आरंभ में कराता है जब ये पवित्रता में पगी देवार्चन में संलग्न हैं। भाई के साथ राम इसी समय आकर अपने वन जाने की सूचना उन्हें देते हैं—

माँ ! मैं आज कृतार्थ हुआ।
* * *
मुझको वास मिला वन का।
* * *
जाता हूँ मैं अभी वहाँ,
राज्य करेंगे भरत यहाँ[2]।

विकार-रहित प्रभु की माता के मन में एकाकी पुत्र की एकमात्र और नितांत स्वाभाविक मंगल-कामना के अतिरिक्त और कोई अभिलाषा नहीं है। पारिवारिक स्थिति भी सभी दृष्टियों से शांत और सुखदायी थी। अतः स्वभावतः उन्हें राम की बात पर विश्वास नहीं होता। हँसकर वे लक्ष्मण से कहती हैं—

लक्ष्मण यह दादा तेरा,
धैर्य देखता है मेरा।[3]

भोले-भाले और छल-कपट से रहित हृदयवाली मोह-ममतामयी माता के ये शब्द सुनकर लक्ष्मण रो पड़ते हैं। यह देखकर कौशल्या के मुँह से सहसा निकल पड़ता है—

ईश्वर यह क्या होता है ?
* * *

---

१. 'साकेत', चतुर्थ सर्ग, पृ० ८४।
२. 'साकेत', चतुर्थ सर्ग, पृ० ७३।
३. 'साकेत', चतुर्थ सर्ग, पृ० ७४।

सच्च हैं तब क्या वे बातें ?
दैव ! दैव ! ऐसी घातें[1] !

इतना कहते-कहते वे 'मृदुदेही' काँप उठती हैं, उन्हें चक्कर आ जाता है, आँखें भर आती हैं। हृदय थाम कर वे बैठ जाती हैं। सीता आगे बढ़कर उन्हें सम्हालती हैं। तभी उन्हें धीरज देने के उद्देश्य से,

प्रभु बोले—माँ, भय न करो,
एक अवधि तक धैर्य धरो।
मैं फिर घर आ जाऊँगा[2]।

प्रिय पुत्र के इन विनम्र शब्दों से माता के कोमल हृदय पर दूसरा आघात होता है। उनके मुख से सहसा चीत्कार-सी निकलती है—

हा, तब क्या निष्कासन है[3] ?

राम से उन्हें अब कुछ नहीं पूछना है। वन भेजने के इस निर्दयपन का कारण वे राम के किसी दोष को समझती हैं, जिसका उन्हें पता नहीं है। परंतु दोष कोई और कैसा ही हो वे उसके लिए क्षमा माँगने को तैयार हो जाती हैं। उन्हें विश्वास है कि—

क्या प्रथम अपराध तेरा,
और विनीत विनय मेरा,
क्षमा दिलावेगा न तुझे[4] ?

तभी रामानुज ने सीधे-सादे शब्दों में सारी स्थिति उन्हें इस प्रकार समझा दी—

········पिता - प्रण रखने को,
सबको छोड़ बिलखने को,
कर मँझली माँ के मन का,
पथ लेते हैं ये वन का[5]।

---

१. 'साकेत', चतुर्थ सर्ग, पृ० ७४।
२. 'साकेत', चतुर्थ सर्ग, पृ० ७४।
३. 'साकेत', चतुर्थ सर्ग, पृ० ७४।
४. 'साकेत', चतुर्थ सर्ग, पृ० ७४।
५. 'साकेत', चतुर्थ सर्ग, पृ० ७५।

लक्ष्मण के ये शब्द सुनते ही कौशल्या के मुख से जो वचन निकलते हैं उनमें ममतामयी जननी के दीन वात्सल्य की कितनी मार्मिक विकलता है—

मुझे राज्य का खेद नहीं, राम - भरत में भेद नहीं।

* * *

मेरा राम न वन जावे। यहीं कहीं रहने पावे।
उनके पैर पड़ूँगी मैं, कह कर यही अड़ूँगी मैं—
भरत-राज्य की जड़ न हिले, मुझे राम की भीख मिले [1]।

माता को राज्य और धन से क्या! हिंदू नारी का लोक-परलोक तो उसका युवक पुत्र है। संसार में सुख-साधन यदि वह चाहती है तो अपने पुत्र के लिए ही; पुत्र यदि किसी कारण उन्हें भोग नहीं सकता तो उसके लिए उनमें कोई आकर्षण, कोई अर्थ ही नहीं है। कौशल्या का वात्सल्य भरा हृदय अपने राम लिए विकल है और उसकी सबसे बड़ी चाह यह है कि वह 'यहीं कहीं'—महल के बाहर ही, समीप के किसी भी स्थान में, उसकी आँखों के सामने भर—रहने की आज्ञा पा जाय। इसके लिए वे अपनी छोटी सपत्नी के पैर पकड़कर प्रार्थना करने को, आँचल पसार कर उससे भीख माँगने को भी सहर्ष तैयार हैं।

माता के हृदय की कोमलता का पुनः पता लक्ष्मण-शक्ति का समाचार पाकर शत्रुघ्न को युद्ध के लिए तैयार देखकर मिलता है। कौशल्या की दशा इस सूचना से ऐसी हो जाती है जैसे सूखे पर पाला पड़ गया हो। उन्होंने न जाने कितने व्रत किये, कितने धर्म-कर्म, जप-तप किये। यह सब करके उन्होंने क्या कुछ न सहा! आज—जब उनके देव अंधे-बहरे हो रहे हैं—पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म समझने और स्वाभिमान, कुल-गौरव और कीर्ति पर गर्व करने योग्य वे नहीं रह गयी हैं। शत्रुघ्न उन्हें कुल-गौरव, धर्म-पालन आदि का ध्यान दिलाते हैं; परंतु पतिहीना कौशल्या का पुत्र-पुत्र-वधू-वियोग से जर्जर दुख-दग्ध मातृ-हृदय इतना गौरव नहीं सह पाता। विकल होकर धाड़ मारकर रोती हुई वे कहती हैं—

बेटा, बेटा, नहीं समझती हूँ यह सब मैं,
बहुत सह चुकी, और नहीं सह सकती अब मैं।
हाय, गये सो गये, रह गये सो रह जावें,
जाने दूँगी तुम्हें न वे आवें जब आवें।

---

१. 'साकेत', चतुर्थ सर्ग, पृ० ७१।

तुष्ट तुम्हीं में उन्हें देखकर रही, रहूँगी,
तुम्हें छोड़कर निराधार मैं कहाँ बहूँगी ?
देखूँ, तुमको कौन छीनने मुझसे आता ?
(पकड़ पुत्र को लिपट गई कौशल्या माता)

वृद्धा माता के दीन वात्सल्य की कैसी करुण कातरता इन पंक्तियों में मिलती है ! कौशल्या को आज अपने एक राम की चिंता नहीं है, गोद में खिलाये भरत-शत्रुघ्न के लिए भी उसकी ममता-माया राम की तरह ही है। इसी से वह शत्रुघ्न के मुँह से वन जाने की बात सुनकर भयभीत होकर उनसे लिपट जाती है। गुप्तजी की कौशल्या की यह ममता और पुत्र-वत्सलता तुलसी से कहीं अधिक कोमल और स्वाभाविक है।

मांडवी—

मांडवी भी गुप्तजी की एक सृष्टि है। भरत की धर्मपत्नी होकर वह न तो उर्मिला की तरह वियोगिनी है और न सीता की तरह संयोगिनी ही। उसका पति अयोध्या में रहते हुए भी तपस्वी का जीवन बिता रहा है और इसीलिए राजमहल में रहते हुए भी वह तपस्विनी है। उर्मिला को तो अपने विरहोद्गार व्यक्त करने का अवसर है—कदाचित् इसके अतिरिक्त उसे कोई कार्य है ही नहीं—परंतु मांडवी को इसका भी अवकाश नहीं है। राम-वन-गमन के कारण-स्वरूप अपने को समझनेवाले भरत जब ग्लानि से गले जा रहे हैं, तब बेचारी मांडवी कभी तो भरत को इस प्रकार समझाती है कि कहीं वे उसे स्वार्थिनी न समझ बैठें और कभी अपने संतप्त परिवार को सांत्वना देती फिरती है। सीता और उर्मिला के प्रति तो सारे परिवार की पूर्ण सहानुभूति है; परन्तु जीवन के चौदह वर्ष का अमूल्य समय जिस तपस्विनी ने केवल सेवा में ही बिताया है उसके लिए सहानुभूति का एक शब्द हम किसी से नहीं सुनते।

मांडवी के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह यौवनोन्माद और प्रेमावेग पर अति कठोर नियंत्रण रखकर पति की सच्ची सहचरी के रूप में हमारे सामने आती है। पति की ग्लानि और वेदना वह समझती है और शक्ति भर उसे शांत करने का प्रयत्न करती है। 'साकेत' में उसके दर्शन हमें केवल

एक बार होते हैं और उसी से हमें चौदह वर्ष के उसके कार्य-क्रम का अनुमान हो जाता है।

नगर के बाहर ग्राम में भरत निवास कर रहे हैं। मांडवी उनके लिए फलाहार लाती है। उसकी वेश-भूषा अत्यंत सीधी-सादी है। हाथ में चार चूड़ियाँ और माथे पर सिंदूर की एक बिंदी। कवि इस समय अपने पाठक को लक्ष्मण-शक्ति की सूचना देने के लिए तैयार कर रहा है। इसलिए उसके पास किसी के हृदयोद्‌गार व्यक्त करने का समय नहीं है। हाँ, पति-पत्नी के पारस्परिक वार्तालाप मे हमें इतना ज्ञात हो जाता है कि माँओं और उर्मिला को धीरज देकर कुछ खिलाने-पिलाने का काम वही किया करती है। उस दिन उर्मिला ने बहुत-कुछ कहने-सुनने पर भी जल तक न पिया। यह सुनते ही भरत विकल हो लंबी साँस लेकर कहते हैं—

> **हाय! एक मेरे पीछे ही हुआ यहाँ इतना उत्पात!**
> **एक न मैं होता तो भव की क्या असंख्यता घट जाती?**
> **छाती नहीं फटी यदि मेरी तो धरती ही फट जाती[1]!**

जिस निर्दोष पति के सुख के लिए मांडवी सारे परिवार की सेवा प्रसन्न रहकर कर रही है, उसी को इतना विकल और संतप्त देखकर मांडवी भी उन्हीं के स्वर में कहती है—

> **हाय! नाथ, धरती फट जाती, हम तुम कहीं समा जाते।**
> **तो हम दोनों किसी मूल में रहकर कितना रस पाते!**

मांडवी अपने इस जीवन से सुखी भले न हो—सुखी होने की बात ही नहीं है—परंतु हँसते-हँसते सब कुछ सहकर उसने जिस सहनशीलता का परिचय दिया है, वह बड़े गौरव का विषय है। अपने पति के आदर्श भ्रातृ-स्नेह पर, उसे बड़ा गर्व है। जिस बन-प्रसंग के कारण इतने अनर्थ हुए उसे वह दुर्दैव का नहीं, सुदैव का लाया हुआ इसीलिए समझती है कि इसी के फलस्वरूप उसके प्राणपति का इतना आदर्श चरित्र व्यक्त हो सका।

वस्तुतः मांडवी वह हिंदू नारी है जो पति के संतोष और सुख के लिए संसार के सभी कष्ट हँसते-हँसते सहने को तैयार रहती है और जिसके लिए गुप्त जी ने स्वयं ही कहा है—

---

१. 'साकेत', एकादश सर्ग, पृ० २७१।

अपनी सुध ये कुल-स्त्रियाँ लेती नहीं,
पुरुष न लें तो उपालंभ देती नहीं।
कर देती हैं दान न अपने आप को,
कैसे अनुभव करें स्वात्म संताप को[1]।

स्वार्थ और वासना से सर्वथा रहित प्रेम तथा महान त्याग का जो उदाहरण ये कुल-स्त्रियाँ हमारे सामने रखती हैं, प्राचीन भारतीय आदर्श के अनुकूल होते हुए भी आधुनिक पाश्चात्य नारियों के लिए, जो भौतिक सुख को ही जीवन का चरम लक्ष्य समझती हैं, आश्चर्य का उपहासास्पद विषय है !

---

१. 'साकेत', पंचम सर्ग, पृ० १०७ ।

हिंदी साहित्य : कुछ विचार

द्वितीय भाग

हिंदी गद्य

राजस्थानी गद्य

हिंदी साहित्य के वीरगाथाकाल में साहित्यिक क्रियाशीलता का केंद्र प्रधानतः राजस्थान ही था। पद्य के साथ-साथ बहुत से गद्य-ग्रंथ भी इस समय लिखे गये बताये जाते हैं, जो आज उपलब्ध नहीं हैं। बहुत से ग्रंथ तो राजनीतिक परिवर्तन और उलट-फेर के फल-स्वरूप नष्ट हो गये, और शेष में से अधिकांश संरक्षकों की असावधानी के कारण। कुछ पर्याप्त खोज न होने से अब भी अंधकार में पड़े हैं। हाँ, राजघरानों में कुछ शिलालेख और दानपत्र अवश्य मिलते हैं जिनसे प्राचीन राजस्थानी भाषा के गद्य का नमूना मिल जाता है। यद्यपि इनकी प्रमाणिकता के संबंध में पर्याप्त मतभेद है, तथापि राजस्थानी गद्य के यही सबसे प्राचीन उदाहरण प्राप्त हैं। रावल समरसिंह और महाराज पृथ्वीसिंह के प्राप्त नौ दानपत्रों में से दो[1] इस प्रकार हैं—

(१) स्वस्ति श्री श्री चीत्रकोट महाराजाधिराज तपेराज श्री श्री रावल जी श्री समरसी जी बचनातु दा अमा आचारज ठाकुर रुसीकेष कस्य थाने दलीसु डायजे लाया अणी राज में ओषद थारी लेवेगा। ओषद ऊपरे मालकी थाकी है। ओजनाना में थारा वंसरा टाल ओ दुजो जावेगा नहीं और थारी बैठक दलो में ही जी प्रमाणे परधान बरोबर कारण देवेगा और थारा वंस क सपूत कपूत वेगा जी नें गाय गोणो अणी राज में खाय्या पाय्या जायेगा और थारा चाकर घोड़ा को नामो कोठार सूं चला जावेगा और थूँ जमाखातरी रीजो मोई में राज थान बाद जो अणी परवाना री कोई उलंगण करेगा जी ने श्री एकलींग जी की आण है। दुबे पंचोली जानकी दास।

सन् ११७२—(आनंद संवत् ११३९) [विक्रम संवत् (११३९ + ९०) १२२९]

---

१. 'हरिऔध' कृत 'हिंदी भाषा और साहित्य का विकास' (द्वितीय संस्करण) पृ० ६२८-९।

(२) श्री श्री दलीन महाराजं धीराजं । हिंदुस्थानं राजंधानं संभरी नरेस पुरवदली तषत श्री श्री माहानं राजंधोराजं श्री पृथीराजी सु साथंनं आचारज रुषीकेष धनंत्रि अप्रत तमने काका जोनं के दुवा की आरानं चओजीन के राजं में रोकड़ रुपीया ५०००) तुमरे आहाती गोड़े का षरचा सीताश्र आवेंगे। खजानं से इनको कोई माफ करेंगे जोनको नेर को के अवंकारी होवेंगे। सई दुबे हुकुम के हडमंत राश्रा।

सन् ११७८—(आनंद संवत् ११४५) [विक्रम संवत (११४३+९०) १२३५]

राजस्थानी भाषा के इन दोनों अवतरणों के कुछ अंशों—यथा क्रियाओं, सर्वनामों, संज्ञाओं और पदांशों—को देखने से तीन बातें[1] प्रत्यक्ष जान पड़ती हैं। एक तो कुछ शब्दों के रूप बिल्कुल ही संस्कृत की विभक्ति से युक्त हैं; जैसे—'समरसिंह की आज्ञा से' के लिए लिखा है, 'समरसी जी वचनातु'। दूसरी बात यह है कि उसकी क्रियाएँ खड़ी बोली की सी ही हैं; जैसे—लेवेगा, जावेगा, देवेगा, करेगा, आवेंगे, होंगे। तीसरे, इन अवतरणों के शब्द-रूपों में थोड़ा हेर-फेर छोड़कर आजकल के ही शब्द हैं; जैसे—'आचारज', 'डायजे', 'ओपद'। 'जनाना' जैसे एकाध फारसी शब्द भी कहीं-कहीं मिलते हैं जिससे अनुमान होता है कि उसका भी भाषा पर धीरे-धीरे प्रभाव पड़ने लगा था। मुसलमानों के आक्रमण बारहवीं शताब्दी भर लगातार होते रहे थे। अतः इन शब्दों को देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिए।

ऐसे कई पट्टे-परवाने स्व० पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या ने प्रकाशित कराये थे। इन्हें वे, जैसा ऊपर के संवतों से स्पष्ट है, पृथ्वीराज चौहान के समय के आस-पास का मानते थे। अनेक विद्वान उनके विचारों से सहमत भी हैं। परंतु महामहोपाध्याय रायबहादुर डाक्टर गौरीशंकर हीराचंद ओझा जैसे विद्वान उनकी प्रामाणिकता में संदेह करते थे[2]। कुछ सज्जनों की राय है[3] कि ये जाली न हों तो भी इसमें कोई संदेह कि ये बहुत बाद के हैं। उनकी भाषा और लिपि-पद्धति बहुत अर्वाचीन है। यही दूसरी बात अधिक संभव जान पड़ती है।

---

१. 'साहित्य-चर्चा,' पृ० २६-७।

२. 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका,' नवीन संस्करण, भाग १ में—ओझा जी का 'आनंद विक्रम संवत् की कल्पना' शीर्षक लेख।

३. 'हिंदुस्तानी,' भाग ५, सं० ३, पृ० २२१ में श्री नरोत्तम स्वामी का 'हिंदी का गद्य साहित्य' शीर्षक लेख।

जो हो, इस संबंध में अभी कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। इधर अन्वेषण से पता लगा है कि बारहवीं, तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में कई जैन साधुओं ने निज धर्म-संबंधी अनेक ग्रन्थों की रचनाएँ की थीं। इनमें कुछ गद्य के हैं और कुछ पद्य के। पद्य-रचनाएँ प्रायः मौखिक ही रहती थीं; परंतु गद्य-ग्रन्थ लिखित हैं, और कुछ के अंश अब भी मिलते हैं। इनकी भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव स्पष्ट है। इनसे हमें निश्चय रूप से राजस्थानी के प्राचीन गद्य का नमूना मिलता है। तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी के कुछ गद्य-ग्रंथों के ये अवतरण देखिए[1]—

(१) ....अढार पापस्थान त्रिविधिहिं मनि-वचनि-काइ कराणि-करावणि अनुमति परिहरहु। अतीतु निंदउ, वर्तमान संवरहु, अनागत पारक्खउ। पंचपरमेष्ठि नमस्कारु जिन शासनि-सारु चतुर्दश-पूर्व-समुद्धारु संपादित-सकल-कल्याणसंभारु विहित-दुरितापहारु क्षुद्रोपद्रवपर्वतवज्र-प्रहारु लीलादलितसंसारु सु तुम्हि अनुसरहु—सन् १२७३।

(२) स्वर केता १४। समान केता १०। सवर्ण १०। ह्रस्व ५। दीर्घ ५। लिंगु ३। पुल्लिंगु। स्त्रीलिंगु, नपुंसकलिंगु। भलउ पुल्लिंगु, भली स्त्रीलिंगु, भलु नपुंसकलिंगु—सन् १२७६।

(३) पहिलउँ त्रिकालु अतीव अनागत वर्तमान बहत्तरि तीर्थंकर सर्वपाप-क्षयंकर हउँ नमस्कारउँ। ....तउ पहिलइ सौधर्मि देवलोकि बत्रीस लाख। बीजइ ईसाणि देवलोकि अट्ठावीस लाख।............सातमइ शुक्रदेवलोकि च्यालीस सहस, आठमइ सहस्रादि देवलोकि छ सहस............इग्यारह आरणि देवलोकि बारमइ अच्युतदेवलोकि बिहू दउढु दउढु सउ, अनइ हेठिले त्रिहू ग्रैवेयके इग्यारोतर सउ माहिले सत्तोत्तर सउ उपइले एकु सउ..................एवंकारह स्वर्गलोकि चउरासी लाख सत्ताणवइ सहस त्रेवीस आगला जिन भुवन वाँदउँ—सन् १३०२।

(४) माहरउ नमस्कारु आचार्य हुऊ। किसा जी आचार्य। पंचविधु आचार जि परिपालइ ति आचार्य भणियइ। तीह आचार्य माहरउ नमस्कार हुउ। ईणि संसारि दधि चंदन दूर्वादिक मंगलीक भणियइ। तीह मंगलीक सर्व

---

१ ये अवतरण 'हिंदुस्तानी'—भा० ५, सं० ३, परिशिष्ट (क) 'राजस्थानी गद्य', पृ० २४८-४६ से चुने गये हैं।

ही माँहि प्रथम मंगलु एहु। इणि कारणि शुभ काय आदि पहिलउँ गुमेरवउँ जिव ति कार्य एह-तणइ प्रभावइ वृद्धिमंता हुयइ—सन् १३०२।

(५) मृषावादि मृषापदेष दीधउ, कूडउ लेख लिखिउ, कूडी साखि थापणि मोसउ, कुणहइ-सउँ राँडि भेढि कलहु विढाविढि जु कोइ अतिचार मृषावादि वृति भव सगलाइ थाहि हुउ। त्रिविधि त्रिविध मिच्छामि दुक्कडे—सन् १३१२।

(६) तीर्थजात्रा रथजात्रा कीधी, पुस्तक लिखाव्याँ, तप नीयम देववंदन वाँदणाँइँ सज्याइ अनेराइ धर्मानुष्टान-तणइ विखइ जू ऊजमु कीधउ सु अह्मारउ सफलु हुओ—सन् १३१२।

(७) ईही जि, जंबूद्वीप माहि भरतक्षेत्र माहि मगध नामि जनपदु छइ। तिहाँ विजयवती नामि नगरी। तिहाँ नरवर्मि नामि राजा, रतिसुंदरी नामि पट्टमहादेवी हुँती। हरिदत्त नाम पुत्तु हूँतउ। मतिसागरादिक अनेक महामात्य हुँता। अनेरइ दिवसि राजेंद्र आगइ सभा माहि धर्म विचार विषइ आलापु नीपनउ—सन् १३५४।

(८) एतकइ प्रस्तावि चोरु एकु चोरी तिहाँ आविउ। केउइ बाहर पुणि आवी। चोरु स्मशान वन गहन माहि पइठउ। बाहर बाहिरि वेढु करि रही। चोर महेसरदत्तु चडतउ ऊतरतउ देखी करी बोलाविउ तउँज विद्या साधइ छइ स मूँहरइ आपि, एह माहरउ धनु तउँ लइ—सन् १३५४।

(९) जु करइ, सुइ, दिइ, पठइ, हुइ—इत्यादि बोलिवइ उक्ति माहि क्रिया करवइ जु मूलिगउ हुइ सुकर्त्ता। तिहाँ प्रथमा हुइ। चंद्र ऊगइ—ऊगइ इसी क्रिया। कउण ऊगई चंद्र। जु ऊगइ सु कर्त्ता तिहाँ प्रथमा। जं दीजइ तं कर्म। तिहाँ द्वितीया—सन् १३९३।

इन अवतरणों में चौथा प्राकृत भाषा का एक वाक्यांश है। इन सभी में संस्कृत के शब्द ही नहीं, लंबे-लंबे समासांत पद तक प्रयुक्त हुए हैं। हाँ, यह ध्यान देने की बात है कि सन् १२७३ के अवतरण में जितने समासांत लंबे पद हैं उतने अन्यों में नहीं। सन् ११७२ और ११७८ के जो नमूने ऊपर दिये गये हैं उनकी भाषा स्पष्टतः इनसे भिन्न है और उनकी प्रामाणिकता का प्रश्न सामने रखती है। यद्यपि जैन साधुओं की भाषा, अपभ्रंश और प्राकृत के विशेष प्रभाव के फल-स्वरूप, पट्टे-परवानों की भाषा से भिन्न होनी चाहिए थी, तथापि इतनी भिन्नता में कुछ रहस्य अवश्य है जिसका समाधान आगे खोज होने पर हो सकेगा।

पंद्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में भी राजस्थानी गद्य पर्याप्त उन्नति करता रहा। अर्थात् गद्य में रचना करने का जो क्रम भक्तिकाल के पूर्व से ही आरंभ हुआ वह तीन-चार सौ वर्ष तक निरंतर चलता रहा। राजस्थान में उस समय छोटे-छोटे राज्य थे। इन शताब्दियों में इनकी ख्यातें (इतिहास) बराबर लिखी जाती रहीं[1]। साथ-साथ कथा-साहित्य की—जिसमें ऐतिहासिक, इतिहास-आधारित और काल्पनिक सभी प्रकार की रचनाएँ हैं—सृष्टि भी अविकल रूप से होती रही। वीर रस के प्रबंध और मुक्तक ऐतिहासिक काव्य-ग्रंथों के अतिरिक्त इन तीन शताब्दियों में धर्म, नीति, इतिहास, छंद-शास्त्र, शालिहोत्र, वृष्टि-विज्ञान इत्यादि अन्यान्य विषयों के ग्रंथ भी एक बड़ी संख्या में उपलब्ध होते हैं। ये ग्रंथ गद्य-पद्य दोनों में हैं[2]। अभी तक इनमें से गिने-चुने ही आंशिक रूप में प्राप्त हैं और उनके भी लेखकों, रचना और लिपिकालों का पूरा-पूरा पता नहीं लग रहा है।

इन तीन शताब्दियों के राजस्थानी गद्य-साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग जैन धर्म-संबंधी रचनाएँ हैं। राजनीतिक स्थिति में इन शताब्दियों में शीघ्रता से जो परिवर्तन होता रहा उसके फलस्वरूप कुछ तो उक्त रचनाएँ नष्ट हो गयीं और कुछ का पता-ठिकाना न रहा—प्रायः इतिहास-ग्रंथ, लेखकों के उत्तराधिकारियों के पास उपेक्षित अवस्था में पड़े रहे और अधिकांश धीरे-धीरे नष्ट हो गये। इसके विपरीत, जैन धर्म-विषयक रचनाएँ, जिनकी संख्या पर्याप्त है, राजनीतिक परिस्थिति से लेखकों के अधिक प्रभावित न होने के कारण बहुत-कुछ सुरक्षित रहीं। सारांश यह कि अनुसंधान से इन शताब्दियों में जो गद्य-साहित्य—ऐतिहासिक, काल्पनिक और धार्मिक रचनाएँ—पूर्ण-अपूर्ण रूप में प्राप्त हुआ है, उसके प्रकाशन और अनेक निर्देशित तथा संबंधित ग्रंथों के समुचित अनुसंधान के पश्चात् ही हिंदी गद्य का ठीक-ठीक इतिहास लिखा जा सकेगा।

पंद्रहवीं शताब्दी के किसी ग्रंथ का निश्चित रूप से अभी पता नहीं लगा है। हाँ, गद्य के कुछ नमूने अवश्य मिलते हैं जो इस शताब्दी में रचे ग्रंथों से चुने

---

१ 'हिंदुस्तानी'—भा० ४, अंक ३, 'हिंदी गद्य-साहित्य' शीर्षक लेख, पृ० २२८।

२ 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' (प्रथम भाग), १९४२ भूमिका। पृ० २।

बताये जाते हैं। वे नमूने इस प्रकार हैं[1]—

(१) दृढ़प्रहार पल्लीपति आदि सहित एकिं गामि पडिओ। एक ब्राह्मण नइँ घरि खीरनुँ भोजन ब्राह्मणी अनइ बालक वाहावतां हूताँ लीधउ। तेतकइँ ब्राह्मण स्नान करिवा गिओ हूँतओ, ते आविओ। तीणइं रीस लगइँ भोगल लेइ केतलाइँ चोर विणासिया—सन् १४०० के लगभग।

(२) पछइ राजाइ कालसूरीड खाटकी बोलाविउ। तेह-हइँ कहिउँ भावइ तेतलउ द्रव्य मागि पणि जीवहिंसा परही मूँकि। काल सूरिउ पछइ राजाइ ते अंधकूप माहि घाती अहो रात्र राखिउ—सन् १४०० के लगभग।

(३) तीह माहि बखाणीयइ मरहट्ठ देस। जीणइ देसि ग्राम, अत्यंत अभिराम। भला नगर जिहाँन मागीयइ कर। दुर्ग, जिस्याँ हुइ स्वर्ग। धान्य, न नीपजइ सामान्य। आगर, सोना-रूपा-तणा सागर। जेह देस माहि नदी वहइ, लोक सुखइँ निर्वहइ। इसिव देश, पुण्य तणउ निवेश, गहअउ प्रदेश—सन् १४२१।

(४) साँभलउ ए बात, ए आगलि दीसइ पद्मपुरनगर महाविख्यात। तिहाँ छइ राजा समरकेतु, अति सचेतु, वयरी प्रति साक्षात् केतु। जेतलइ तेउ ए बात जाणिसिइ, तेतलइ ताहरा अहंकार—तणउ अंत आणिसिइ। एह कारणि चोर आपि निर्दोष थाउ, पछे तुम्हइ भावइ तिहाँ जाउ—सन् १४२१।

(५) रत्नमंजरी कुमारि प्रतिहारि तणाँ इस्याँ वचन साँभली अंगि रोमांच धरती, नेउर-तणा झमझमकार करती, हर्षभर वहती, राजा-ढूकडी पुहती। लाज ठेली, कंठ-कंदलि वरमाल मेल्ही। तत्क्काल जयजयारव ऊछलिया, लोक कलकल्या। विद्याधर पुष्प-वृष्टि करइँ, भट्ट जयजय शब्द उच्चरइँ—सन् १४२१।

(६) राजसिंह कुमार रत्नवती सहित नाना प्रकार भोगसुख भोगवइ छइ। घणउ काल हूओ। एक बार पिताइँ मृगांकराजाइँ प्रतिहार हाथि लेख मोकलीनइ कहाविउँ—वच्छ अमे वृद्ध हूआ। राज्य छांडी दीक्षा लेवानी[2] उत्कंठा कहँ छउँ। घणा काल लगइ ताहरा दर्शननिनी उत्कंठा छइ। तु वहिलुं आँहाँ आविजे।

---

[1] ये नमूने 'हिंदुस्तानी'—भा० ५, अं० ३, परिशिष्ट (क) 'राजस्थानी-गद्य', पृ० २४६-५० से चुने गये हैं।

[2]. नी=की। प्राचीन राजस्थानी का यह विभक्ति-चिन्ह आधुनिक गुजराती में चला आया है। देखिए फुटनोट, 'हिंदुस्तानी', भा० ५, अं० ३, पृ० २५०।

पछइ राजसिंह कुमार चालिउ। अनुक्रमि पुहतउ। पिताहरइँ प्रणाम कीधउँ। सर्व कुटंब परिवार हर्षिया—सन् १४४३।

पंद्रहवीं शताब्दी के राजस्थानी गद्य के इन अवतरणों में संस्कृत के समासांत पदों की संख्या तो कम है, परंतु शब्दों के तत्सम रूपों के अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश से प्रभावित तद्भव रूप बराबर प्रयुक्त हुए हैं। इनके क्रियारूप प्रायः ब्रजभाषा से प्रभावित और उसके क्रियारूपों के निकटवर्ती जान पड़ते हैं। तीसरी ध्यान देने की बात यह है कि कहीं-कहीं, जैसा छठे अवतरण में दिखायी देता है, गद्य को अलंकृत करने के लिए अंत्यानुप्रास का प्रयोग भी किया गया है। वह प्रथा बहुत प्राचीन जान पड़ती है; क्योंकि तेरहवीं शताब्दी के अंतर्गत दिये हुए सन् १२७३ के अवतरण में भी ऐसे ही अंत्यानुप्रासयुक्त वाक्यांश मिलते हैं। राजस्थानी में ऐसे अनुप्रासयुक्त गद्य को वचनिका कहते हैं[1]।

सोलहवीं शताब्दी के प्राप्त ग्रंथों में 'चंद्रकुँवर री बात' नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है। इसके रचयिता का नाम प्रतापसिंह है। इन्होंने अपनी 'वात' सन् १४८३ में लिखी थी। इसमें अमरावती नगरी के राजकुँवर और वहाँ के सेठ की पुत्री चंद्रकुँवरि के प्रेम की कहानी गद्य-पद्य में कही गयी है। इसकी भाषा बोलचाल की राजस्थानी है।

इस शताब्दी के गद्य के अधिक नमूने प्राप्त नहीं हैं। पाठक केवल चार अवतरण[2] देख कर ही संतोष करें—

(१) राजि श्री सीहोजी कनवज-हुँती आइ खेड रहीयौ! पछै श्री द्वारिका-जीरी जातनुँ हालीयौ। सु विचालै पाटण मूलराज सोलंकीरी रजवार सु लाखौ फुलाणी उजाड़ घणी कीया। सु तेरै लीयै सीहै जीनुँ राखै। पछै सीहैजीं कहै। जु[3] जात करिनै घिरतौ आइस। पछै घिरहा आया ताहरा लाखौ फुलाणीं मारोयौ। पछै सीहैजी नुं मूलराज परनाइनै खेड मेल्हीया—सन् १५४३ के लगभग।

---

१ देखिए, फुटनोट, 'हिंदुस्तानी', भा० ५, अं० ३, पृ० २५०

२ ये अवतरण 'हिंदुस्तानी,' भा० ५, अंक ३, पृ० २५०-५१; परिशिष्ट (क) 'राजस्थानी गद्य' से चुने गये हैं।

३. इ, जो—पुरानी हिंदी में 'कि' के स्थान पर प्रयुक्त होते थे। देखिए फुटनोट, 'हिंदुस्तानी'—भा० ५, अं० ३. पृ० २५१।

(२) पछै जोधीजी राम कहो सु टीकाइत नीबो हुतो सु पेहली राँम कोह हुतो। पछै राउ वीको कोडमदेसर हुँतो सु रा वे रसल भीमोत वीवेजीनु कहाडीया जु राउ जोधै राम कहौ छै जे विगर गढयै चढीया तु आयो तो टीको तोन हुसी। पछै राउ वीको कोडमदेसर-हुती हालियो सुपेडै माहै आवंत अँमल करनै सुती। सु मोवडैरा आयो। पछै सातलनुँ टीको दीन्हौ। तितरै राउ वीकरो ही आयो। पछै गढ़ घेरीयो—सन् १५४३ के लगभग।

(३) मोहिल अजीत नै राँणौ वछौ श्यारौ राजथाँन लाडणुँ नै छापर हुतो नै द्रुणपुर मोहिल कान्हौ वसतो। पछै महाराइ श्री जौधै जी रुगला नुँ मारिनै मोहिलाँरी धरती लेनै राजि श्री वीदेजीनुं राखीयौ—१५६८ के लगभग।

(४) जोधपुर तुरकाणी छै। चंद्रसेण जी राम कहो ताहरा टीको आसकरननु दीनो। पछै कितरेहेके दिनाडै उगरसेन कहो जु मो कन्हा चाकरी कराडी की नहीं—सन् १५६८।

सत्रहवीं शताब्दी के प्राप्त ग्रंथों में 'रावरतनमहेसदासतरी वचनिका' और 'वेलिक्रिसन रुकमणी री टीका' नामक दो ग्रंथ मिले हैं। प्रथम के संबंध में इतना ही मालूम है कि इसकी रचना सन् १६०३ के लगभग हुई। 'टीका' के रचयिता का नाम कुशलधीर है। ये खरतरगच्छीय जैन साधु जिनमाणिक्य सूरि की शिष्य - परंपरा में कल्याणलाभ के शिष्य थे। इन्होंने राठौड़ पृथ्वीराज-कृत 'वेलि क्रिसन रुक्मणी री' और केशवकृत 'रसिकप्रिया' की टीकाएँ लिखीं जिनका रचना-काल क्रमशः सन् १६३९ और सन् १६७० है। ये बहुत उच्चकोटि के कवि और विद्वान थे। 'रसिकप्रिया' के गद्य का उदाहरण आगे दिया जायगा। यहाँ हमें 'वेलि क्रिसन रुक्मणी री टीका' के संबंध में इतना और कहना है कि टीका सरल और सारगर्भित तो है, परंतु अपूर्ण रह गई है; पद्यों में से केवल १६१ की टीका ही की गयी है। इन दोनों ग्रंथों की[1] भाषा के नमूने देखिए,—

(१) तिणि बेला दातार झूझार राजा रतन मूँछाँ करि घाति बोलै। तरआर तोलै। आगै लंका, कुरखेत महाभारत हूआ। देव-दानव लड़ि मूआ। च्यारि जुग कथा रही। वेदव्यास वालमीक कही। सु तीसरौ महाभारत आगम कहता उजोणि खेत। अंगनि सोर गाजसी। वनन वाजसी। गजबंध क्षत्रबंध गजराज गड़सी। हिंदू असुराइण लड़सी —(रावरतन महेस-दासोतरी वचनिका।) सन् १६०३ के लगभग।

---

१. 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' (प्रथम भाग), पृ० १३८।

(२) राउ श्री कल्याणमल्ल पुत्र राज श्री पृथ्वीराज राठवण वंसी ग्रंथ नी आदिइं इष्ट देवता नइं नमस्कार करइ मंगल निमित्तइं। पहिलऊ परमेसर नइ नमस्कार करइ। वलि सरस्वती वाग्वादिनी नइं विधातणी नमस्कार करइ त्रीजउ सद्गुरू विद्यागुरू नइं नमस्कार करइ। ए तीनइ तत्वसार बिहु लोके सुषदायी साक्षात मंगलरूप श्रीकृष्ण गुण गाईजइ वखाणियै। माधव श्रीलक्ष्मी वरइ तरेजे बांछइ ते पामइ। ए प्रकारेइं मंगलाचरण करी श्रीकृष्ण रुकमिणी नी गुण स्तुति करइ (वेलि क्रिसन रुकमणी टीका)—सन् १६३६।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त 'मुहणोत नैणसीरी ख्यात' नामक एक अन्य ग्रंथ भी मिलता है जिसके रचयिता के संबंध में कुछ ज्ञात नहीं है। इसका रचनाकाल सन् १६६३ के लगभग बताया जाता है[1]। इसकी भाषा का नमूना यह है—

तठै पाबू जी गायाँ पायनै छोड़ो छै। इतरै स्नेह दीठी। कही रै चाँदा आखेट केरी? तद चाँदै कही—राज खीची आयौ। अर पहलड़ी लड़ाई माँहे चाँदै खीचीनुं तरवार वाही हती तद पाबूजी तरवार आपड़ लीवी, कही—मारो मताँ, बाँड़ राँड हुसी। तद चाँदै कही—राज, आप तरवार आपड़ी, बुरी कीवी। पण पाबूजी मारण दीया नहीं। तठै फौज आई। तद चाँदै कही—राज, जो मारियो हुवै हात तौ पाप काटियौ हुत, हराँमखोर आयो। तठै पाबूजी तौ बुहा नै लड़ाई कीवी। वडो रीठ वाजियौ। तैंसूँ पाबूजी तौ काम आया—सन् १६६३ के लगभग।

सत्रहवीं शताब्दी के राजस्थानी गद्य के कुछ नमूने भी इधर-उधर मिलते हैं। इनमें से कुछ यहाँ उद्धृत[2] हैं—

(१) राउ जोधो गया जी जात पधारीया। आगरारी पारवती नीसरीया। तराँ राजा करन कनवज रौ धणी राठौड़ तिइसूँ जोधौजी मिलिया। तरै राजा करन पातिसाही अमराव थौ। तिण पातिसाहिजीनुं गुदरायो राउ जोधौ मारवाडिरौ धणि छै, वड़ो राजा छै, गुजारातिरै मुँहडै इणांरो मुलक छै—सन् १६०३ के लगभग।

(२) जहाँगीर पातिसा, नूरमहल इतमाद्दोलारी बेटी आँसपखाँरी बहन; तिणसूँ

1. 'हिंदुस्तानी', भा० ५, अंक ३, परिशिष्ट (क) 'राजस्थानी गद्य,' पृ० २५१-५२।

2. 'हिंदुस्तानी' भा० ५, अं० ३, परिशिष्ट (क) 'राजस्थानी गद्य' पृ० २५१-५२।

साहजादे थकाँ यारी हुती तै पछै पातसा हुवौ तरै उणारौ माँटी मारिनै उणनू लै मौहलामाँ घाली । पाउसाही उणनूँ सूँपी —सन् १६२३ के लगभग ।

(३) पछै बेढ़ हुई । उमराव जैतसीजीरा भाग । आप काम आया । साथ माहै दूजो ही लोक काम आयो सु गिणामाँ जैतो-कूँपो आया जद कही—साँखलो नाठौ दीसै छै, देखाँ करडा जाब कहे थौ । कही कहो—साँखलो तौ मोहलाँ मैं खेत पड़ो छै । श्रै ऊपर आया । देखै तो साँखलौ गिरणै छै । तद पूछै—साँखला, गिरणै सु घाव दोहरा लागा । तद इयै कहै—जी घाव न दूखे छै पण छोटे माणसे मोटो राव मारीयो है गिरणू छुँ । तद कहै—म्हारो बेटो साँखलो उणतरै ही ज बोलै; इणरै मुहम धूड़घातो । सु धूड़ घाती । सा वणी कहै—धरती ही साँखलौ दाढ़ा मैं लें रहो —सन् १६३८ के लगभग ।

इधर खोज में कुछ ऐसे ग्रंथों का पता लगा है जिनके लिपिकाल का तो प्रतियों में उल्लेख है, परंतु रचनाकाल का टीक-टीक पता नहीं चलता । इनके संबंध में आवश्यक विवेचना और उनके गद्य की परख हम नहीं करना चाहते हैं, क्योंकि हमारा अनुमान है कि इन ग्रंथों की रचना पंद्रहवीं, सोलहवीं अथवा सत्रहवीं शताब्दी में ही हुई होगी ।

गद्य-ग्रंथ	लिपिकाल
(१) वेलि क्रिसन रुकमणी री टीका	सन् १६७०
(२) लीलावती भाषा	,, १७३०
(३) ढोलामारवणी री वात	,, १७३७
(४) वैताल पचीसी	,, १७३८
(५) सदैवच्छ सावलिंग री वात	,, १७४०
(६) अनंतराय सांखला री वात	,, १७५०
(७) राजा रिसालू री वात	,, १७६५
(८) बीजा सोरठ री वात	,, १७६५
(९) अचलदास खीची री वात	,, १७६५
(१०) पना वीरम दे री वात	,, १८५७

प्रथम ग्रंथ के टीकाकार का नाम ज्ञात नहीं है । इस ग्रंथ की एक और टीका मिलती है जिसका रचयिता कुशलधीर है । इसका टीकाकाल सन् १६४६ है । अतः यह संभव है कि सन् १६७० वाली टीका इससे भी पहले लिखी गयी हो ।

इस ग्रंथ में ३०१ पद्य हैं। इनमें से पहले २८६ पद्यों के नीचे उनकी टीका भी है। इसके गद्य का नमूना देखिए—

प्रथम ही परमेस्वर कुँ नमस्कार करे छै। पाछै सरसती कुँ नमस्कार करै छै। पाछै सतगुरू कूँ नमस्कार करै छ। ए तीन्यूं तत्तसार छै। मंगलरूप माधव छै। तें को गुणानुवाद कीजै। जा उपरांत मंगलाचार कोई नहीं छै[1]।

'लीलावती भाषा' की रचना लालचंद ने की। यह संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथ लीलावती का भाषांतर है। इसका विषय गणित है।

तीसरे ग्रंथ के रचयिता का नाम ज्ञात नहीं है। इसका विषय नरवर के राजकुमार ढोला और पूँगल की राजकुमारी मारवाणी की प्रेम कहानी है। इसमें १०० दोहे हैं। अंतिम दस को छोड़कर शेष के साथ गद्य-वारता भी है। इसके गद्य का नमूना देखिए—

राजा पूँगल अर देसरौ नाम पुंगल। जात भाटी। इस समीया माहे देस माहे काल पड़ियौ। सु राजा पुंगल सारी परजा नै लियां देसउ चालौ कियौ। राजलोकां सहित सेझ वाल जुता गाड़ा पोली मारग हुता तिंके हाकिया। अर राजा रो वडोडो भाई गोपालदास तिणनें मतौ करनै सात सैं रजपूतां सू गढ़ माहे सावधानी करवा सारू भेजीयौ। जाणयौं कोई सूनां गढ़ माहे दुसमण आय बैससी तो धरती जासी। तिणाथी भाई गोपालदास नें धरतीरी घणी सरम भलावै नै राजा पुंगल असवार हुवो[2]।

चौथे ग्रंथ 'बैताल पचीसी' के रचयिता शिवदास बताये जाते हैं। इनके संबंध में विशेष वृत्त ज्ञात नहीं है। इसी नाम के एक कवि का उल्लेख 'राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' (प्रथम भाग) में और है[3] जिनका बनाया 'रससरल' नामक ग्रंथ है। इसका रचनाकाल सन् १७३७ है और 'बैताल पचीसी' का लिपिकाल सन् १७३८ है। अतः हो सकता है कि दोनों ग्रंथ एक ही व्यक्ति के रचे हुए हों। 'बैताल पचीसी' के गद्य का नमूना[4] देखिए—

---

१. 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' (प्रथम भाग), पृ० १३६-३७।

२. वही, पृ० ३८।

३. वही, परिशिष्ट १, पृ० १७६।

४. वही, पृ० १३८-३९।

(१) ग्रंथ रौकती श्रीगणेश सरस्वती हे नमस्कार करे ने सर्वलोक रा विनोद रे अर्थे ग्रंथ करै छैं। एक दक्षिण देश जठे महिलारोप्य नाम इसों नगर छैं। जठे सकल शास्त्र रो जाणणहार इसो ब्राह्मण रहे छै। तिणरे गुणवती सीलवंत सुदक्षिणा नाम स्त्री हुई। रूपवंत सीलवंत इसी। तिणरै दोय पुत्र हुआ कृष्ण ने माधव। तदी श्रो ब्रह्मदत्त ब्राह्मण दोही पुत्रां हैं लेने मालव देश रे विषे एक अवंति नाम नगरी छै। तिणि प्रते प्रस्थान करतो हुओ। जिणी नगरी रे विषै सकल कला चतुर चउदे विद्या में प्रवीण परनारी सहोदर परदुख कातर महा साहसिक पुन्यात्मा इसौ विक्रमसेन राजा उणी नगरी अवंति रो राज्य करतो हुऔ।

(२) घणी रूपवती सीता जी थी तो विकार उपजओ। रावण घणो गर्व कीधो तो नाश पायो। घणो दान राजा बलि कीधौ तौ बांध्यो। तींथो घणौं कंइ नहीं थोड़ों मीठो लागैं।

पाँचवें ग्रंथ 'सदैवछ सावलिंगा री वात' का लिपिकाल तो सन् १७४० है, परंतु उसके रचयिता के संबंध में कुछ ज्ञात नहीं है। इस ग्रंथ की तीन प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। तीनों का कथानक—अमरावती नगरी के राजा शालिवाहन के पुत्र सदैवछ और शालिवाहन के मंत्री पदमसी की कन्या सावलिंगा की प्रेम-कहानी—प्राय: मिलता-जुलता है। इन तीनों ग्रंथों के रचयिता भिन्न-भिन्न व्यक्ति जान पड़ते हैं, क्योंकि तीनों के पाठ बिलकुल भिन्न हैं। उक्त लिपिकाल केवल एक प्रति में दिया हुआ है। इसलिए अनुमान से अन्य दोनों का लिपिकाल सन् १७४० के आगे-पीछे होना चाहिए। इन तीनों प्रतियों के गद्य के नमूने इस प्रकार हैं[१]—

(१) सावलिंगा रे बेटो हुवो सो पाटवी कीधो। राजा सदयवछ जी रे सावलिंगा रे घणी प्रीत हुई। घणा सुख विलास कीया। पहिलांतर रो लेख विधात्राये लिख्यो। पुरवलो लेख इण भव भोगव्यो। सावलिंगा री वात मन सुधे सांभले केहि वांचे तिणनुं घणो सुख होवे। सोग चिंता उद्वेग मिटे। सावलिंगा री वात सांभली होय तो घणी खुष्याली होवे। घण मंगलीक होवे। मन वांछित सुख पामें। घणा विलास पामें।

(२) एक अवछरा छी। तिको नाम एलवी छो। श्री गंगा जी की तीर

---

१. 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' (प्रथम भाग), पृ० १४७-४८।

अवछरा का महलै छा। अवछरा का अजोधा की ऊपली आडी महलावत छी। ताहा अवछरा रह छी। सु ताहा इक लन लहषी सरसीर (?) रह छो। सु रोजीना को रोजीने तारा की छाहा माहा मां सांपड़वा आवतो।

(३) कुंकण देस विजया नाम नगरी। जे नगरी महा मोटी है। चौरासी चोहटा च्यारे दिस है। जिहां सालिवाहन राजा राज करे छै। जे राजा न्यायवंत प्रजा री प्रतिपाल करै है। धरमी ने धनवंत है। वन वाड़ी आराम सरोवर है। चकवा चात्रीक रटना करै है। सुत्रा, सास, मोर झिंगोर करै है। जै नगरी में जैन सीवप्रसाद है[१]। काजी मुलां कुरान कताब पढ़ै है। ब्रामण वेद भणे है। तपीया तप तापै है। योगीसर योगध्यान में लयलीन है।

इन तीन अवतरणों में अंतिम जिस प्रति से लाया गया है उसका रचनाकाल सन् १७४० दिया हुआ है। इस तिथि के आस-पास का राजस्थानी गद्य तीसरे अवतरण से बिलकुल भिन्न है। संभव है, इसका रचयिता व्रजभाषा से परिचित कोई भ्रमणशील व्यक्ति हो, जिसका निवासस्थान कुछ समय तक राजस्थान में रहा हो।

छठे ग्रंथ 'अनंतराय सांखला री वात' के रचयिता के संबंध में भी कुछ ज्ञात नहीं है। इस ग्रंथ में एक छोटी-सी कहानी है जिसमें कोलापुर पाटण के राजा अनंतराय और अहमदाबाद के मुसलमान शासक महमद की लड़ाई का वर्णन है। इसकी भाषा बोल-चाल की राजस्थानी है जिसमें गुजराती भी मिली हुई है। इस ग्रंथ के आदि-अंत की कुछ पंक्तियाँ ये हैं[१]—

(१) समुद्र विचै कोयलापुर पाटण। तिणरो धणी अणंतराय सांखलो छत्रधारी। तिणरै बड़ो गढ़। तिणरै एक सौ एक भाई भतीजा छै। तिके भेला गढ़ में रहै।

(२) संवत् १३२५ समै चैत सुद ४ वार मंगल जगमाल जी रे गींदोली आई। पातसाह अहमदाबाद आयो। संवत् १३ माहे (युद्ध) हुवौ। इतरी सूरां-पूरां खत्रीयांरी बात कही सूरबीर दातारौ मन लहही।

सातवें ग्रंथ 'राजा रिसलू री वात' का रचयिता नरबदो नाम का कवि है। यह जाति के चारण था। इस ग्रंथ में श्रीपुर नगर के राजा शालिवाहन की कहानी

---

१. **'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' (प्रथम भाग), पृ० २।**

गद्य-पद्य में है। इसकी भाषा बोलचाल की राजस्थानी है। इसके आदि की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं[1]—

श्रीपुर नगर को राजा सालिवाहन राज करे छें। तिणरे पाटे राजा समसतराज करे छे। तिणरे सात असतरो छें। पिण पुत्र नहीं। बेटा वासते घणा देव देवता पुज्य षटदरसण छतीस पाखंड। अनेक दाग्र उपाय कींधा। पिण पुत्र नहीं। तदी राजा कहे—पुत्र बिना माहरो राज किसा कांमरो।

आठवें ग्रंथ 'बीजा सोरठ री वात' के रचयिता का नाम-धाम ज्ञात नहीं है। इस ग्रंथ में बीजा और सोरठ की कहानी गद्य-पद्य में कही गयी है। इस ग्रंथ की भाषा राजस्थानी है। इसके आदि और अंत का गद्य यहाँ दिया जाता है[2]—

(१) साचोर नगर। तठो राजा रायचंद देवड़ो राज करे छें। तिणरे मुलरे पेहले पाए पुतरी रो जनम हुवो। वरांमणें कह्यो पता ने भारछै तिवरि ग्रांम मांहे राजा अपुत्रीयारी चौकस कराइ। जदी साचोर मांहे चंपो कुंमार अपुत्रिक धनवंत छै। तिणरे सेवक निमाह कमावे आप सुखी बेठो रहे। रात्र गइ तिवा रे सोरठ नें पेइ माहे घाले। मेहलां हेठे नदी वहे छै तिण में चलाइ। पेइ तरती जठे चंपा कुंभार रा चाकर माटी खोदे छै धोबी छै जठे आवे नीकली। जदी धोबी बोलियो। पेइ आवे छै सो मांहरी। चंपा कुंमार का चाकर बोलीया— पेह मांहे होवे सो वे सत मांहरी। पेइ बारे काठी उघाड़े जोए तो माहा रूपवंत कन्या छै। माहा सुकुमाल छै।

(२) बीजाजी रा मसांण उपर सोरठ बेसी नें सूरज साहमों बेसी हाथ जोड़ी ने कहे। मनख तो घणी बात कहे छैं जो मन सुध मो३ बीजा जी सुं होवे तो भवो भव बीजाजी री असतरी होज्यो। एस रीत नुं अगन लाकड़ी पाखांण तजी कहज्यो तथा प्रगटी अगन सरीर दाज्यो। इतरी बात करतां ततकाल अगन प्रगटी सोरठ रो सरीर बीजाजी री मसांण मांहे एकठो हुवो। बीजाजी रो जीव जठे सोरठ रो पिण जींव पोहतो। सनेइ पालणों कठण छे। सोरठ बीजाजी सुं सनेइ राख्यो। इसो जिण तिण प्रती न रखाए। सनेह राख्यो तो संसार मांहे बात रही।

नवें ग्रंथ 'अचलदास खींची री वात' का रचयिता अज्ञात है। 'राजस्थान में

---

१. 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' (प्रथम भाग), पृ० ११७-१८।

२. वही, पृ० १३४-३५।

हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' (प्रथम भाग) नामक ग्रंथ में इसका लिपिकाल सन् १७६५ और रचनाकाल अज्ञात माना गया है[1] । परंतु 'हिंदुस्तानी' (भा० ५, अं० ३) में सन् १४१३ के लगभग गद्य-रूप में इसकी भाषा का नमूना दिया गया है[2] । संभव है, यह रचना सन् १४१३ के लगभग की ही हो, और 'खोज' में जिस प्रति का उल्लेख है उसमें रचनाकाल न दिया हो । इस ग्रंथ में गागरौनगढ़ के राजा अचलदास खीची और उनकी लालां तथा उमां नामक दो रानियों की कहानी है । कहानी के अंतिम भाग में अचलदास और मांडू के मुसलमान बादशाह के युद्ध का भी उल्लेख है । अचलदास अपने सरदार-सामंतों सहित इस युद्ध में काम आये और उनकी दोनों रानियाँ उनके साथ सती हो गयीं । यह ग्रंथ आदि से अंत तक रोचक और मार्मिक है । इसमें गद्य और पद्य, दोनों हैं । इसकी भाषा बोल-चाल की राजस्थानी है जिस पर गुजराती का भी थोड़ा सा प्रभाव है । इसके आदि-अंत का गद्य यह है[3]—

(१) अचलदास खीची गढ़ गागरूण राज करे छै । तिणरे लालां मेवाड़ी पटराणी छै । मेवाड़ रोधणी राणो मोकल छै । तिणरी बेटी लालां । अपछरा रो अवतार । सघलो राज लालां जी रे हाथ छै । अचलदास जी रा राज मांहे लालां जी रो हुकुम चाले छै । इण तरे राज पाल थकां खीमसी साँखलो जांगुल रो धणी । जांगुल रो राज करे छै । तिणरे बेटी उमां सांखली मारवड़ी रो अवतार । वरस तेरे मांहे छै । खीमसी साँखला रे चारण वीठो छै तिणरे बेहन झुमां चारणी छै ।

(२) अतरे गढ़ मंडोवर (?) रो पातसाह चढ़े आयो । तरे अचलदास जी केवाड्यो माथे चोथ ठेरावो । तरे पातसाह कह्यो । कै तो ग्रांम गढ़ छोड़ द्यो । कै लड़ाई करो । तरे अचलदास जी आपरा उंबरावां ने पुछे ने लड़ाई मांडी । लड़ाई करतां पसीस मोटा उंबराय साथे अचलदास काम आया । पाछे लालां मेवाड़ी उमां साँखली दोनुं सती हुई । लाला मेवाड़ी रो रूसणो भागो । संसार मांहे नाम रह्यो ।

---

१. परिशिष्ट ४, पृ० १८२ ।

२. परिशिष्ट (क) 'राजस्थानी गद्य', पृ० २५१ ।

३. 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' (प्रथम भाग), पृ० १-२ ।

'हिंदुस्तानी' (भा० ५, अं० ३) में इस ग्रंथ का जो गद्यावतरण दिया हुआ है उसमें और उक्त अवतरण में अधिक अंतर नहीं है। अतः उसमें दिया हुआ इस ग्रंथ का रचनाकाल (सन् १४१३ के लगभग) ठीक माना जा सकता है। 'हिंदुस्तानी' में दिया हुआ अवतरण इस प्रकार है[1]—

महाराजा जी विसक्रमाजी बोलाया । विसक्रमाजी आया । हुकुम थारा । विसनपुरी, रुद्रपुरी, ब्रह्मपुरी विवै अचलपुरी बसावउ ।.................। विसनपुरी का विसनलोक आया । रुद्रपुरी का रुद्रलोक आया । ब्रह्मपुरी का ब्रह्मलोक आया । इंद्रपुरी का इंद्रलोक आया ।

अंतिम ग्रंथ 'पना वीरमदे री वात' है। इसमें ईडर के राव राई भाण के कुंवर वीरमदे और पूँगल देश के सेठ शाहरतन की कन्या पना की प्रेम-कहानी का वर्णन है। ग्रंथ शृंगार रस प्रधान है, पर प्रसंगानुसार वीर रस की भी इसमें सुंदर व्यंजना हुई है और इसलिए इसका दूसरा नाम 'वीरसींगार' भी है। इसमें गद्य-पद्य दोनों हैं। भाषा इसकी बोलचाल की राजस्थानी है। इसका लिपिकाल सन् १८५७ है; परंतु रचनाकाल अथवा रचयिता के संबंध में कुछ ज्ञात नहीं है।

उक्त दस ग्रंथों के अतिरिक्त चार ग्रंथ ऐसे भी प्राप्त हुए हैं जिनका रचनाकाल, लिपिकाल और रचयिता, तीनों अज्ञात हैं। वे ग्रंथ ये हैं—

(१) उदयपुर री ख्यात
(२-३) सदैवछ सावलिंगा री वात (दो प्रतियाँ)
(४) सूरजवंस

इनमें से दूसरे-तीसरे ग्रंथ, 'सदैवछ सावलिंगा री वात' की दोनों प्रतियों के संबंध में पहले विचार किया जा चुका है। 'उदयपुर री ख्यात' नामक ग्रंथ गद्य में है। इसमें मेवाड़ के महाराणा राजसिंह तक के राजाओं का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। लेकिन महाराणा अरिसिंह के पहले के राणाओं के जो नाम गिनाये गये हैं, उनमें दो-चार को छोड़कर शेष सब कल्पित और आधुनिक ऐतिहासिक शोध के विचार से अशुद्ध हैं। बाद के राणाओं के नाम तथा संवत् आदि प्रायः ठीक हैं। राणाओं के परिचय में उनकी माताओं के नाम भी दिये गये हैं। उदाहरणार्थ, महाराणा अरिसिंह, महाराणा अजयसिंह, महाराणा हमीरसिंह को क्रमशः धनाबाई तुँवर, दीनांबाई राठौड़ और हीराबाई परमार का पुत्र बतलाया गया है। यदि ये नाम ठीक हों तो ग्रंथ का ऐतिहासिक महत्व

---

१. परिशिष्ट (क) 'राजस्थानी गद्य', पृ० २९१ ।

और भी बढ़ जाता है; क्योंकि इन राणाओं के इतिहास के विषय में अभी तक जो छानबीन हुई है वह प्रायः नहीं के बराबर है और इन नामों के सहारे उनके विषय में कुछ अधिक जानकारी प्राप्त करने की आशा की जा सकती है। सारा ग्रंथ गद्य में होने से राजस्थानी गद्य के विकास का अध्ययन करने के लिए भी महत्व का है। इस ग्रंथ के अंत में संवत् १७१४ का उल्लेख हुआ है। इसलिए इसे इस काल के बाद की रचना मान सकते हैं। इस ग्रंथ का अंतिम भाग[1] यह है—

महाराजाधिरांज श्री राजसिंघ रांणोजी राठोड़ जनादेबाई रा बेटा। उदैपुर वास्त संवत् १७०६ नवडोतरें राज्य बैठा फागुण सुदी बीज राज्य बैठा। २१००० सहश्र अस्व १०१ हस्ती १५००० पायदल २०४ बाजित्र १ बाराजा ५ राव ११ रावत महाराजाधिराज श्री रांणै राजसिंघ मालपुरो मारयौ डंड लीधो संवत् १७१४ बीरषे पतिसाहजी औरंगसाहजी है तरवार बंधावी। भाई अरसिंह जी है मोकनैः॥

चौथे ग्रंथ 'सूरजवंस' में मेवाड़ के छकु प्रसिद्ध-प्रसिद्ध महाराणाओं के जीवनचरित्र वर्णित हैं। सबसे अधिक वर्णन महाराणा भीमसिंह जी का है और यहीं पर ग्रंथ समाप्त भी होता है, जिससे अनुमान होता है कि यह उन्हीं के किसी आश्रित कवि का बनाया हुआ है। महाराणाओं का वर्णन उनके काल के क्रमानुसार नहीं है। इस ग्रंथ की भाषा डिंगल है और गीत-दोहों के अतिरिक्त कहीं-कहीं गद्य भी मिलता है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि पंद्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में राजस्थानी गद्य में पर्याप्त ग्रंथ लिखे गये। रीतिकाल में ऐतिहासिक और काल्पनिक कहानियाँ लिखने का यह क्रम पूर्ववत् ही बना रहा। इस काल अर्थात् अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में धर्म, नीति, इतिहास, काव्यशास्त्र आदि विषयों के ग्रंथों में कभी-कभी गद्य के नमूने मिलते हैं और कुछ टीकाएँ भी गद्य में लिखी पायी जाती हैं। इनके अतिरिक्त ऐसी सैकड़ों कहानियाँ, जिनको राजस्थानी में 'वातां' कहते हैं और जिनमें धार्मिक, नैतिक, पौराणिक ऐतिहासिक आदि अनेकानेक विषयों का उद्घाटन सीदी-सादी, घर की बोली में बड़ी रोचकता के साथ किया गया है, गद्य और पद्य, दोनों में मिलती हैं।[2] अभी तक यह कहानी-

---

१. 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' (प्रथम भाग), पृ० १३।

२. देखिए, 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' (प्रथम भाग), भूमिका, पृ० ४।

साहित्य अधिकांश में मौखिक ही है।

अठारहवीं शताब्दी में प्राप्त मौलिक ग्रंथों में 'भाषा भारथ' और टीकाओं में 'रसिकप्रिया' की टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। कालक्रम के अनुसार 'रसिकप्रिया' का रचनाकाल सन् १६७० सबसे पहले पड़ता है। इसके रचयिता कुशलधीर बड़े विद्वान और वीर थे। राठौर पृथ्वीराज-कृत 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' की टीका भी इन्होंने की थी। इसकी चर्चा पहले हो चुकी है। 'रसिकप्रिया' की टीका राजस्थानी भाषा में है जिस पर गुजराती का प्रभाव पड़ा है। इसकी विशेषता यह है कि टीकाकार ने बहुत सरल भाषा और थोड़े शब्दों में केशव की कविता का मर्म समझाने की कोशिश की है। इसके प्रारंभ का थोड़ा-सा भाग यहाँ[1] दिया जाता है—

एक रदन कहे एक दांत छइं। हस्तिहनो बदन छैं जेहनो घर छइं जे बुद्धिनउ सदन नो कंदणहार जे महादेव तेहनउ पुत्र छइं गवरी कहे पार्वति तेहनो पुत्र आनंद कह हर्ष तेहनो कंद छइं जग संसार जेहने पगे लागइं चंद्रमा ललाटे छइं जेहने सुख शाता नो देणहार छैं वली भली कीर्ति नो देणहार छै आवगण मां अग्रेसर छैं वली नायकह योग्य छैं दुर्जणनो मारणहार छैं वली दलिद्र नो मारणसार छैं सर्व लायक उपमानयोग्य छइं जे योग्य योग्य माँ गुरू गरिष्ट ज्यें मांहि गुण अनंत छइं ज्ञानवंत संसार मांहे रुद्र भगति सेवाना करणहार तेहना संसार जे भय तेहना हरणहार छइं जयवंत हो केशव कहै छैं जे निवास ठाम छैं नव निधिनो मोटो उदर छैं जेहना एहयो गणेश असरण अत्राण तेहनो जे शरण।

'भाषा भारथ' के रचयिता खेतसी सौंदू शाखा के चारण कवि जोधपुर के महाराजा अभयसिंह के आश्रित थे। कविता में अपना उपनाम ये 'सीह' लिखा करते थे। इन्होंने महाभारत के १८ पर्वों का अनुवाद डिंगल भाषा में किया जिसका नाम 'भाषा भारथ' है। यह डिंगल साहित्य का अद्वितीय ग्रंथ है। इसका रचनाकाल सन् १७३३ है। इस ग्रंथ में कविता के बीच-बीच में कहीं-कहीं गद्य भी मिलता है।

अठारहवीं शताब्दी के राजस्थानी गद्य का एक अवतरण 'हिंदुस्तानी' में मिलता है जो इस प्रकार है[2]—

---

१. देखिए, 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' (प्रथम भाग), भूमिका, पृ० १११।

२. 'हिंदुस्तानी', भा० २ अं० ३, परिशिष्ट (क) राजस्थानी गद्य, पृ० १९३।

चातक दादर मयुर तोनूँ ही मेघरा मित्र हैं जिणाँमै मयुर अत उत्तम है। मेघ चातकरै फायदो वरै, दादुररै अत फायदो करै। भररै क्यूँ ही फायदो करै नहीं – सन् १७७८ के लगभग।

उन्नीसवीं शताब्दी में लिखे गये ऐसे दो ग्रंथों का पता लगता है जिनमें कविता के बीच-बीच में कहीं-कहीं राजस्थानी गद्य के नमूने मिल जाते हैं। वे ग्रंथ हैं—'रघुवरजस-प्रकास' और 'आनंदरघुनंदन नाटक'। 'प्रकास' के रचयिता किशन जी आढ़ा गोत्र के चारण थे। ये राजपूताने के सुविख्यात कवि दुरसा जी की वंश-परंपरा में दूलह जी के बेटे और मेवाड़ के महाराणा भीमसिंह जी के आश्रित थे। इन्होंने 'भीमविलास' और 'रघुवरजसप्रकास' नामक दो ग्रंथ क्रमशः सन् १८२२ और सन् १८२४ में बनाये। ये दोनों डिंगल भाषा में हैं।

'आनंदरघुनंदन नाटक' के रचयिता रीवाँ नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह जू देव हैं। इस ग्रंथ का लिपिकाल सन् १८३४ है और रचना-काल भी सन् १८३३ के लगभग ही होना चाहिए, क्योंकि 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' (प्रथम भाग) में[1] इनके एक ग्रंथ 'अयोध्या-महात्म' का रचनाकाल सन् १८३३ बताया गया है। इस नाटक में गद्य-पद्य दोनों हैं।

इनके अतिरिक्त 'अभयविलास' नामक एक काव्य का पता और लगता है जिसके रचयिता पृथ्वीराज साँदू शाखा के चारण थे। इन्होंने अपना ग्रंथ महाराजा अभयसिंह के आश्रय और समय में बनाया। इस ग्रंथ का रचनाकाल सन् १७४३ के आस-पास होना चाहिए, क्योंकि इनके आश्रयदाता का राज्यकाल सन् १७२४ से सन् १७४९ तक है। इस ग्रंथ में कवि ने महाराजा अभयसिंह के वीरोचित कार्यों और शौर्य-पराक्रम का बड़ा सजीव वर्णन किया है। इसकी भाषा डिंगल है। इसके अंत में लिपिकार ने ये पंक्तियाँ[2] लिखी हैं—

औ ग्रंथ कवि जोड़तौ चलौ गयौ जिण सूं इहौ ईज वाखियो छे। पोथी री परत मुजब लिखियो छे। लिखणवारा मै दोस नहीं छे।

इस ग्रंथ का लिपिकाल सन् १८४३ के आस-पास है। अतः ये पंक्तियाँ इसी समय के गद्य का नमूना हो सकती हैं।

---

१. 'हिंदुस्तानी', भा० ४, अं० ३—परिशिष्ट (क) 'राजस्थानी गद्य', पृ० १३७।

२. 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' (प्रथम भाग), पृ० ७।

हिंदुस्तानी' (भाग ५, अंक ३) में उन्नीसवीं शताब्दी के गद्य के दो नमूने और भी दिये हुए हैं[1] जो इस प्रकार हैं—

(१) जिण खिसामें दराजो रहे सो खिसौ इतिहास कहावे । जिण खिसामें कम दराजी सो वात कहावे । इतिहासरो अवयव प्रसंग कहावे । जिण वात में एक प्रसंग हो चमत्कारीक होय तिका वात दासतान कहावे—सन् १८०३ के लगभग ।

(२) संवत् १८८९ वैसाख वद ९ श्रीम्हाराज रतनसिंह जी तखत विराजिया करण म्होल में । सु पहलाँ तो गाँव सेखसररै गांदारै तिलक कियो श्री हजूररे । वा पीछे म्हाराजरा ठाकराँ वेरीसालजी सरसिधोत हजूर रै तिलक किया । पीछे रावत सर रा ठाकराँ न्हारसिंह जी तिलक कियो ।

खरीतो १ दिल्लारै रजोडंट कवलब्रूक साहब बहादर री आयौ । श्री दरबार साम्हाँ जैमें इस्यो लिख्यो के धोकलसिंह जी जोधपुर रै इलाके में फिसाद करै है—सन् १८६३ ।

सन् १८८७ के गद्य का नमूना दयालराम के रचे 'राणा रासो' की प्रति की इन पंक्तियों में[2] मिलता है—

संवत् १६७९ का माहा वद ९ सुभं लिखतां भाई सोभ जी । यह 'राणा रासो' की पुस्तक जिला रामसी के परगना गढ़ूँड के फूलेस्या माळियों के राव दयाराम की पुस्तक सं० १६७९ की लिखी हुई से राजस्थान उदयपुर गोरवाल विष्णुदत्त ने सं० १९४४ का मृगशिर विद १४ क दिन पंडित जी मोहनलाल जो विष्णुलाल जी पंड्या के पुस्तकालय के लिए लिखी - सन् १८८७ ।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं के आरंभ में रचे 'पंचाख्यान' नामक एक और ग्रंथ का परिचय मिलता है। इसके रचयिता फतहराम का आविर्भाव काल सन् १७८३ है। ये मेवाड़ राज्य के आज्यां ग्राम के निवासी और जाति के वैरागी साधु थे। इनके दादा का नाम गोवर्धनदास और पिता का बालकृष्ण था। राजस्थानी भाषा के ये अच्छे कवि और गद्य-लेखक थे। इनका 'पंचाख्यान'

---

१. परिशिष्ट (क) 'राजस्थानी गद्य', पृ० २९३ ।

२. 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' (प्रथम भाग), पृ० ११८ ।

राजस्थानी गद्य में 'पंचतंत्र' का अनुवाद है, जो बहुत सरस और सरल हुआ है। ग्रंथ के आरंभ का थोड़ा-सा अंश[1] देखिए—

एक गांव में रास मंडवा लागो। जाजम बिछाई। झालर बजाई। तर मर्दंग्या ने तस लागी तर गांव का छोरा ने पूछे। अरे डावड़ा पाणी री जुगत बताओ। तब छोरा कोयो। ऊ कूड़ो आंबा का रुख हेरे छै। तब मरदंग्यो कूड़े गीयो। आगे देखे तो एक अस्त्री पांणी के किनारे रूठी बैठी छै। तब मरदंगे कैही—हे बाई तू कूणे छै। तब कन्या कही—हूँ महाजन का बेटा की बहु छूं। तब मरदंगे कही—तू अठे कूँ आई है।

आरंभ में राजस्थानी का संबंध खड़ीबोली से अधिक था, ब्रजभाषा से कम। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों ब्रजभाषा का क्षेत्र बढ़ता गया, त्यों-त्यों उसका संबंध भी ब्रजभाषा से घनिष्ठ होता गया। यहाँ तक कि रीतियुग में आते-आते राजस्थानी के क्रिया और सर्वनाम के अधिकांश रूप ब्रजभाषा के समान ही हो गये। परंतु साथ-साथ कुछ ऐसे ग्रंथ भी रचे गये जिनकी भाषा शुद्ध राजस्थानी है और जो भाषा-शैली की दृष्टि से विशेष महत्व के हैं। आगे चलकर खड़ी बोली का विस्तार-क्षेत्र बढ़ जाने के कारण राजस्थानी भाषा का हिंदी-भाषी प्रांतों में विशेष प्रचार न हो सका। पद्य के लिए भी उसका क्षेत्र सीमिति ही रहा।

---

१. 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' (पहला भाग), पृ० ५०-५१।

ब्रजभाषा का गद्य-साहित्य

[प्रारंभिक काल से सन् १८०० तक]

वीरगाथाकाल में काव्यभाषा का ढाँचा प्रायः शौरसेनी से विकसित पुरानी ब्रजभाषा का ही था। काव्यभाषा के रूप में इसका प्रचार बहुत समय पूर्व से था और चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ तक तो इतना बढ़ गया था कि जिन पश्चिमी प्रदेशों की बोलचाल की भाषा खड़ी बोली थी वहाँ भी कविता के लिए ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया जाता था। फारसी के प्रसिद्ध लेखक अमीर खुसरो (मृत्यु सन् १३२५) के, जिनका रचनाकाल सन् १२८३ के आसपास से आरम्भ होता है, गीत और दोहे इसी ब्रजभाषा में हैं। 'वासों', 'भयो', 'वाको', 'मोहि अचम्भो आवत', 'बसत हैं', देखत में', 'मेरो', 'सोवै', 'भयो है', 'डरावन लागै', 'डस-डस जाय'—जैसे ब्रजभाषा-रूप उनकी कविता में बराबर मिलते हैं।

वीरगाथाकाल के प्राप्य ग्रन्थों में कुछ गोरखपन्थी ग्रन्थों का सम्बन्ध, जिनके विषय प्रायः हठयोग, ब्रह्मज्ञान आदि हैं, ब्रजभाषा गद्य से है। इनमें एक के रचयिता का नाम कुमुटिपाव है और शेष गोरखनाथ अथवा उनके शिष्यों के रचे अथवा संकलित हैं। बाबा गोरखनाथ संस्कृत और हिंदी के पंडित और शैवमत के प्रवर्तक थे। कर्मकांड, उपासना और योग, तीनों की कुछ बातें इनके पन्थ में प्रचलित हैं। तन्त्रवाद से भी इन्हें रुचि थी और उसी के सहारे अद्भुत चमत्कारों द्वारा ये जनता को प्रभावित करते थे। गोरखपुर इनका मुख्य स्थान था। इसके आस-पास इनके अनुयायी पर्याप्त संख्या में बसे हैं। महाराष्ट्र में भी इनके मानने वाले पाये जाते हैं।

बाबा गोरखनाथ प्रसिद्ध सिद्ध थे। उनका जन्म नैपाल अथवा उसकी तराई में हुआ था। अब तक उनका समय सन् १३५० माना जाता था। इनसाइक्लो-पीडिया ब्रिटैनिका में इनका समय ईसवी सन् की बारहवीं शताब्दी माना गया

है। परन्तु इधर की खोज के आधार पर डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल[1] तथा श्रीयुत राहुल सांकृत्यायन[2] ने इनका समय सन् ६५० के लगभग सिद्ध किया है। कारण यह है कि इनके गुरु मछन्दरनाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) के पिता मीनपा[3] का समय सन् ८७० के आस-पास माना गया है। श्री राहुल सांकृत्यायन जी के अनुसार भी इनके दादागुरु जालन्धर पाद अथवा आदिनाथ का समय सन् ८६७ के लगभग ही आता है। इस हिसाब से मछन्दरनाथ का समय सन् ६५० और गोरखनाथ का सन् १०५० के आसपास समझना चाहिए। इस अनुमान की पुष्टि एक और प्रमाण से होती है। नाथपन्थी महात्मा ज्ञानदेव (ज्ञानेश्वर) का काल सन् १२३० के आस पास माना जाता है। इन्होंने अपने बड़े भाई निवृत्तिनाथ से उपदेश ग्रहण किया था। इतिहासकारों ने इनका समय सन् ११७० के लगभग अनुमाना है[4]। निवृत्तिनाथ के गुरु गैनीनाथ थे जो बाबा गोरखनाथ के शिष्य थे। इस तरह गैनीनाथ का समय सन् ११९० और बाबा गोरखनाथ का सन् १०५० के आसपास मान सकते हैं। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की सम्मति में बाबा गोरखनाथ का समय दसवीं शताब्दी का परवर्ती नहीं माना जा सकता[5]।

गोरखनाथ जी का समय जानने में जालन्धरनाथ, चौरंगीनाथ, कणेरीपाव, चरपटनाथ, चुणकरनाथ आदि के जीवनकाल की तिथियों से भी सहायता मिल सकती है। प्रथम महाशय उनके गुरु मछन्दरनाथ के गुरुभाई थे; द्वितीय और चतुर्थ उन्हीं के गुरुभाई थे; तृतीय सज्जन प्रथम अर्थात् जलन्धरनाथ के शिष्य थे और प्रथम चुणकरनाथ के समकालीन थे। इन पाँचों के समयों में लगभग ७५ वर्षों का अन्तर होना आवश्यक जान पड़ता है; परन्तु मिश्रबन्धुओं ने इन पाँचों का समय बाबा गोरखनाथ का पूर्व-प्रचलित और मान्यकाल संवत् १३५० मान लिया है[6]। वस्तुतः ऐसा करना भ्रमोत्पादक है।

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण, भाग ११ में डाक्टर साहब का 'हिंदी कविता में योग प्रवाह' शीर्षक लेख।

२. 'गंगा' (पुरातत्त्वांक) भाग ३, अंक १, श्री राहुल सांकृत्यायन जी का 'मंत्रयान, वज्रयान और चौरासी सिद्ध' शीर्षक लेख।

३. 'मिश्रबंधु-विनोद'—प्रथम भाग, पृ० १४०।

४. 'मिश्रबंधु-विनोद'—प्रथम भाग, पृ० १४०।

५. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, 'नाथ-संप्रदाय', पृ० ६८।

६. 'मिश्रबंधु-विनोद', प्रथम भाग, पृ० १६१-२।

प्रसिद्धि है कि गोरखनाथके गुरु मछन्दरनाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) अपने शिष्य को उपदेश देने के पश्चात् फिर सांसारिक व्यवहार में लिप्त हो गये। उस समय गोरखनाथ ने उन्हें इस मायाजाल से छुड़ाया। इस किंवदन्ती से यह आशय निकाला जा सकता है कि दीक्षा लेने के पश्चात् गोरखनाथ के ज्ञानोपदेश अपने गुरु मछन्दरनाथ से भी अधिक महत्त्व के होते थे, उनका जनता में पर्याप्त सम्मान था और शिष्य की प्रसिद्धि गुरु से अधिक इन्हीं के जीवनकाल में हो चली थी। कुछ विद्वानों[1] का यह भी कहना है कि गोरखनाथ की रचनाओं की-जो हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं वे उतनी पुरानी नहीं हैं। अतएव यह सन्दिग्ध ही है कि ये कृतियाँ इन प्रतियों में अपने मूल रूप में हैं। परन्तु शुक्ल जी जैसे विद्वान् इन सब खोजों और विचारों की विवेचना करने के पश्चात् भी इनका समय निश्चित रूप से दसवी शताब्दी मानने को तैयार नहीं हैं[2]। जो हो, बाबा गोरखनाथ के नाम से प्रचलित ४८ ग्रन्थ अब तक खोज में प्राप्त हुए हैं। इनकी सूची किसी भी इतिहास ग्रन्थ में देखी जा सकती है। इन ग्रन्थों की भाषा और वर्णनशैली की विभिन्नता देखकर अनुमान होता है कि उक्त ग्रन्थों में कुछ ही गोरखनाथ के बनाये हुए हो सकते हैं। शेष की रचना, उनका संकलन अथवा सम्पादन उनके शिष्यों ने किया होगा। यह कार्य उनकी सम्मति से हो सकता है और उनकी मृत्यु के बाद भी किया जाना संभव है। कारण, अपने जीवनकाल में ही गोरखनाथ को पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त हो गयी थी और ऐसी दशा में शिष्यों का उनके नाम पर ग्रन्थ संकलित, सम्पादित करना अथवा नये ग्रंथ रचना स्वाभाविक ही हो गया होगा। इन ग्रन्थों में कुछ गद्य के हैं। उनकी भाषा[3] यह है—

(१) सो वह पुरुष संपूर्ण तीर्थ अस्नान करि चुकौ, अरु संपूर्ण पृथ्वी ब्राह्मननि को दै चुकौ, अरु सहस्र जज्ञ करि चुकौ, अरु देवता सर्व पूजि चुकौ अरु पितरनि को संतुष्ट करि चुकौ, स्वर्गलोक प्राप्त करि चुकौ, जा मनुष्य के मन छनमात्र ब्रह्म के विचार बैठो।....पराधीन उपरांति बंधन नाँही, सुआधीन

---

१. 'हिंदुस्तानी', भाग ५, अं० ३, पृ० २२९ में श्री नरोत्तम स्वामी एम० ए० का 'हिंदी का गद्य साहित्य' शीर्षक लेख।

२. 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण) सं० १९९७, पृ० १७।

३. 'हिंदी भाषा और साहित्य का विकास' (द्वितीय संस्करण) सं० १९९७, पृ० ६३०।

उपरांति मुकुत नाँही, चाहि उपरांति पाप नाँही, अचाहि उपरांति पुन्नि नाँही, क्रम उपरांति मल नाँही, निहिक्रम उपरांति निरमल नाँही, दुष उपरांति कुवधि नाँही, निरदोष उपरांति सुबुधि नाँही, घोर उपरांति यंत्र नाँही, नारायण उपरांति ईसर नाँही, निरंजन उपरांति ध्यान नाँही।

(२) श्री गुरु परमानंद तिनको दंडवत है। हैं कैसे परमानंद ? आनंद स्वरूप है शरीर जिन्हि कौ। जिन्हीं के नित्य गावै हैं सरीर चेतन्नि अरु आनंदमय होतु है। मैं जु, हौं गोरष सो मछंदरनाथ को दंडवत करत हैं। हैं कैसे वे मछंदरनाथ ? आत्माजोति निश्चल है, अंतहकरन जिन्हको अरु मूल द्वार तैं छह चक्र जिन्हि नीकी तरह जानैं। अरु जुगकाल कल्प इनिकी रचनातत्व जिनि गायो। सुगंध को समुद्र तिन्हि कौ मेरी दंडवत। स्वामी तुम्हें तो सतगुर अम्है तो सिष, सबद एक पूछिबा दया करि कहिबा मनि न करिबा रोस।

बाबा गोरखनाथ के नाम से प्रचलित सभी ग्रन्थ ऐसी व्रजभाषा में लिखे गये हैं जिसमें सम्पूर्ण, प्राप्त, सर्व, स्वर्गलोक, सन्तुष्ट, मात्र, मनुष्य, स्वरूप, नित्य, आत्मा, निश्चल, चक्र, कल्प, तत्त्व, सुगन्ध आदि संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है। गोरखनाथ ने अपने पन्थ के प्रचार के लिए भारत के पश्चिमी भाग—पंजाब, राजपूताना आदि प्रदेश—चुने थे। इसलिए उनकी व्रजभाषा में 'अम्हैं', 'पूछिबा', 'कहिबा', 'करिबा' आदि राजस्थानी शब्द भी मिलते हैं। 'जा मनुष्य के मन छनमात्र ब्रह्म के विचार बैठो'—जैसे वाक्यांशों पर पूरबीपन की छाप भी स्पष्ट है। यद्यपि उक्त अवतरणों को देखकर शुक्ल जी को यह शंका होती है कि यह किसी संस्कृत लेख का 'कथंभूती' अनुवाद न हो, तथापि उन्होंने निश्चयरूप से इसे सं० १४०० के गद्य का नमूना माना है[1]। इससे स्पष्ट यह कि जिस ग्रंथ का यह अवतरण है वह बाबा गोरखनाथ-कृत नहीं हो सकता; उनके किसी अनुयायी अथवा शिष्य की ही यह कृति हो सकती है।

कुछ शब्दों के प्रचलित तद्भव रूप भी इन ग्रंथों में सर्वत्र मिलते हैं। कहीं-कहीं तो तद्भव रूपों की अधिकता देखकर अनुमान होने लगता है कि लेखक का ध्यान शब्दों के तत्सम रूप की ओर अधिक नहीं है। जग्य, अस्नान, छन, सर्ब, पूजि चुकौ, पितरन आदि शब्द इसी रूप में इन ग्रंथों में मिलते हैं,

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास (संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण), सं० १९९७, पृ० ४७६।

अपने तत्सम रूप में नहीं[1]। वस्तुतः इन शब्द-रूपों के अपनाये जाने का एक कारण है। प्राचीन हिंदी कविता में, कुछ तो तुक की आवश्यकता से और कुछ भाषा की सरसता तथा व्यवहार की स्वाभाविकता के कारण, संस्कृत शब्दों के हिंदी रूपों का व्यवहार आरंभ से ही किया गया है। गद्य-रचनाओं में भी लेखकों ने यही प्रवृत्ति अपनाना उचित समझा। बाबा गोरखनाथ ही नहीं, उनके पश्चात् विठ्ठलनाथ, गोकुलनाथ, नाभादास, बनारसीदास आदि सभी प्राचीन गद्यलेखकों में यह प्रवृत्ति समान रूप से मिलती है।

गोरखनाथ की भाषा के उदाहरण-रूप में जो उक्त अवतरण हमारे साहित्य-इतिहासों में उद्धृत रहते हैं, ब्रजभाषा-विकास की दृष्टि से वे प्रायः सभी यह समस्या उपस्थित करते हैं कि यदि गोरखनाथ का समय ग्यारहवीं शताब्दी माना जाय तो यह गद्य उनका लिखा हुआ नहीं हो सकता और यदि यह गद्य उन्हीं का है तो चौदहवीं शताब्दी से तीन सौ वर्ष पहले ऐसी साफ ब्रजभाषा प्रचलित नहीं मानी जा सकती। मिश्रबंधुओं ने बाबा गोरखनाथ को ही हिंदी गद्य का प्रथम लेखक माना है[2], परंतु उन्होंने इस समस्या पर विचार नहीं किया[3]। अन्य इतिहासकार भी प्रमाण के अभाव में अनुमान से काम चलाते हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन जी उनका समय ईसवी सन् की ग्यारहवीं शताब्दी ही मानते हैं; परंतु उनके गद्य के संबंध में स्पष्ट मत कदाचित् उन्होंने भी नहीं दिया है[4]। मत-विशेष के प्रचार-कार्य से संबंध रखने के कारण गोरखनाथ का गद्य उपदेशपूर्ण हो गया है। इसलिए उससे हम केवल साधारण क्रिया-रूपों और हिंदी गद्य पर संस्कृत के प्रभाव-मात्र को जान सकते हैं। सिद्धांतों के वर्णन की चेष्टा होने के कारण कहीं-कहीं उसमें साहित्यिक भाषा-कीसी झलक अवश्य मिलती है।

कुमुटिपाव[5] के नाम पर मिला दूसरा ग्रंथ भी हठयोग से संबंध रखता है। इसमें षट्चक्र और पंच मुद्राओं का वर्णन है। इसका रचनाकाल ज्ञात नहीं है,

---

१. मिश्रबंधु-विनोद, प्रथम भाग—भूमिका, पृ० ४३
२. ,, ,, ,, ,, पृ० १४७
३. ,, ,, ,, ,, ,, १६१
४. ,, ,, ,, ,, ,, १६१
५. कुमुटिपाव संभवतः चौरासी सिद्धवाले कुमुरिपा हैं—लेखक।

लिपिकाल सन् १८४० है। इसकी भाषा के रूप को देखकर कहना पड़ता है कि यह ग्रंथ चौदहवीं शताब्दी के लगभग ही लिखा गया होगा और इस दृष्टि से इसकी भाषा का यह रूप विचारणीय है। नमूना[1] इस प्रकार है—

अजया जयंती महामुनि इति ब्रह्मचक्र जाप प्रभाव बोलीये। ब्रह्मचक्र ऊपर गुह्यचक्र सीस मंडल स्थाने बसै। इकईस ब्रह्मांड बोलीये। ....। परम सून्य स्थान ऊपर जे न बिनसे न आवे न जाई योग योगेंद्र है समाई। सुनौ देवी पार्वती ईश्वर कथितं महाज्ञानं।

इस अवतरण में एक ओर जयंती, स्थाने, कथितं, ज्ञानं आदि रूप हैं और दूसरी ओर बोलीये, बसै, न विनसे, न आवे न जाई, समाई, सुनौ इत्यादि। इससे प्रकट होता है कि सिद्धों की रचनाओं में संस्कृत के साथ लोकभाषा को भी स्थान मिलने लगा था।

वीरगाथाकाल के पश्चात् भक्तियुग में एक विशेष परिवर्तन यह हुआ कि साहित्य-केंद्र राजस्थान न रहकर व्रज और काशी के आसपास हो गया। फलतः राजस्थानी के साथ-साथ व्रजभाषा और अवधी को भी काव्य-भाषा होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और कुछ ही वर्षों में दोनों भाषाओं में अनेक सुंदर काव्य रचे गये। आगे चलकर कृष्ण-भक्ति-आंदोलन का आश्रय पा जाने के कारण व्रजभाषा का क्षेत्र अवधी से बहुत विस्तृत हो गया। काव्य की सर्वमान्य भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने के साथ-साथ अनेक गद्य-ग्रंथ भी उसमें रचे गये। भक्तिकाल में लिखे हुए जितने गद्य-ग्रंथ अब तक खोज में प्राप्त हुए हैं, उनकी संख्या यद्यपि अधिक नहीं है, तथापि गद्य-रचना के क्रम का पता उनसे अवश्य चलता है।

सोलहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में लिखी एक चिट्ठी कुछ वर्ष हुए खोज में प्राप्त हुई थी जो राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोसाईं हितहरिवंश की लिखी बतायी जाती है। वह चिट्ठी[2] इस प्रकार है—

---

१. काशी नागरी-प्रचारिणी सभा का अड़तालीसवाँ वार्षिक विवरण, सं० १९९७, पृ० १०।

२. 'समालोचक' (त्रैमासिक), भाग १, अं० ४, पृ० ३२१ (अक्टूबर १९३९)।

श्रीमुख पत्री लिखति। श्री सकल गुण सम्पन्न रसरीति बढ़ावनि चिरंजीव मेरे प्राननि के प्रान बीठलदास जोग लिखति श्री वृंदावन रजोपसेवी श्री हरिवंश जोरी सुमिरन बंचनौ। जोरी सुमिरन भत्त रहौ। जोरी जो है सुख बरखत है। तुम कुसल स्वरूप है। तिहारे हस्ताक्षर बारंबार आवत हैं। सुख अमृत स्वरूप है। बाँचत आनंद उमड़ि चलै है। मेरी बुद्धि कौ इतनी शक्ति नहीं कि कहि सकौं। पर तोहि जानत हौं। श्री स्वामिनी जू तुम पर बहुत प्रसन्न हैं। हम कहा आशीर्वाद देहिं। हम यही आशीर्वाद देत हैं कि तिहारो आयुस बढ़ौ। और तिहारी सकल संपत्ति बढ़ौ। और तिहारे मन को मनोर्थ पूरन होहु। हम नेत्रन सुख देखैं। हमारी भेंट यही है। यहाँ की काहू बात की चिंता मति करौ। तेरी पहिचानि तैं मोकौं श्री श्यामाजू बहुत सुख देवैं हैं। तुम लिख्यो हो दिन दश में आवैंगे। तेई आसा प्रान रहे हैं। श्री श्यामाजू बेगि लै आवैं। चिरंजीव कृष्णदास कौं जोरी सुमिरन बाँचनौ। गोविंददास संतदास की दंडौत। गाँगू मेदा कौ कृष्ण सुमिरन बाँचनौ। कृष्णदास मोहनदास कौ कृष्ण सुमिरन। रंगा की दंडौत। बनमाली धर्मसाला कौ कृष्ण सुमिरन बाँचनौ।

यह चिट्ठी गोसाईं श्री हरिवंश जी ने अपने प्रिय शिष्य बीठलदास जी को लिखी थी। गोसाईं जी का जन्म संवत् १५५६ है। शुक्ल जी ने इनका रचनाकाल सं० १६०० से १६४० तक माना है[1]। परंतु 'साहित्य समालोचक' का कहना है कि यह चिट्ठी संवत् १५६५ में लिखी गयी थी[2]। स्पष्ट है कि यदि यह चिट्ठी वास्तव में गोसाईं जी की लिखी हुई है तो संवत् लिखने में अवश्य भूल हुई है। हम समझते हैं कि यह सन् १५३८ (सं० १५६५) के आसपास लिखी गयी होगी। इसका गद्य बिलकुल स्पष्ट है और यदि यह चिट्ठी ठीक है तो उन विद्वानों को बड़े आश्चर्य में डालने वाली सिद्ध होगी जो व्रजभाषा गद्य को बिलकुल अस्पष्ट और अव्यवस्थित समझते हैं। इसमें संस्कृत शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ है, यद्यपि तत्सम रूप उन्हें लिपिकार की कृपा से मिला जान पड़ता है।

सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में महाप्रभु वल्लभाचार्य जी (सन् १४५८-१५३०) के पुत्र और उत्तराधिकारी गोसाईं बिट्ठलनाथ (सन् १५१५-१५८५)

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास (संशोधित, परिवर्द्धित संस्करण), सं० १९९७, पृ० २१९।

२. 'समालोचक' (अक्टूबर '३९), भाग १, अं० ४, पृ० ३१९।

का गद्य सामने आता है। इन्होंने 'शृंगाररस मंडन'[1] और 'राधाकृष्णविहार' नामक दो ग्रंथ व्रजभाषा में लिखे थे। दोनों की भाषा का नमूना इस प्रकार है—

(१) जम के सिषरपर सब्दायमान करत है, विविध वायु बहत है, हे निसर्ग स्नेहार्द सखी कूँ सम्बोधन प्रिया जू नेत्र कमल कूँ कछुक मुद्रित दृष्टि होय कै बारम्बार कछु सभी कहत भई, यह मेरो मन सहचरी एक छन ठाकुर को त्यजत भई।

—'राधाकृष्ण विहार' से[2]।

(२) प्रथम की सखी कहतु हैं। जो गोपीजन के चग्न विषै सेवक को दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबि कै इनके मन्द हास्य ने जीते हैं। अमृत समूह ता करि निकुंज विषै शृंगाररस श्रेष्ठ रसना कीनो सो पूर्ण भई।

—'शृंगाररसमंडन' से[3]।

इनके अतिरिक्त श्री विठ्ठलनाथ की लिखी दो पुस्तकें, 'यमुनाष्टक' तथा 'नवरत्न सटीक' और बतायी जाती हैं जिनमें से अंतिम का गद्य इस प्रकार का है—

तहाँ प्रथम श्री भगवान कलियुग में अधर्म विशेष प्रवर्त भयो देखि के धर्म के स्थापिबे को आप श्रीकृष्ण रूप पूरण प्रगट हो भए।

यह गद्य गोरख-पंथी ग्रंथों के लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् का नमूना है। भाषा के परिमार्जन के लिए दो शताब्दियों का समय आज बहुत होता है, परंतु संस्कृत की प्रधानता के उस युग में, जब 'भाषा' की कविता भी सम्मान की दृष्टि से नहीं देखी जाती थी, गद्य में लिखने का चलन अधिक नहीं था। अतः दो सौ वर्ष बाद भी गद्य को उसी प्रकार अपरिमार्जित और अव्यवस्थित देखकर हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

ऊपर दिये हुए प्रायः सभी अवतरणों में एक बात जो समान रूप से पायी

---

१. एक मत यह भी है कि गो० विट्ठलनाथ ने 'शृंगार-रस मंडल' नामक पुस्तक संस्कृत में लिखी थी और जो गद्य-ग्रंथ इसी नाम से मिलता है, वह किसी अन्य व्यक्ति-कृत उसी पुस्तक का अनुवाद है—लेखक।

२. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास (द्वितीय संस्करण) सं० १९९७, पृ० ६३१।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास (संशोधित, परिवर्द्धित संस्करण) १९९७, पृ० ४७१।

जाती है वह है संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग। 'योगाभ्यास मुद्रा' के गद्य में सिद्धों की वाणी में संस्कृत पदावली के मध्य हिंदी भाषा का अंकुर देखा जाता है। गोरखपंथी ग्रंथों में तो संस्कृत के तत्सम शब्द प्रयुक्त हुए ही हैं। वही बात गोसाई विट्ठलनाथ की भाषा में भी देखने को मिलती है, जहाँ विविध, निसर्ग, स्नेहार्द्र, संबोधन, मुद्रित दृष्टि, सहचरी, तृण, चरण, प्रेमामृत, मंदहास्य, समूह, निकुंज, श्रेष्ठ रसना, पूर्ण आदि शब्दों का स्वतंत्रता के साथ प्रयोग किया गया है। 'हरिऔध' जी की सम्मति में, 'श्रीमद्भागवत का प्रचार और राधाकृष्णलीला का साहित्यक्षेत्र में विषय के रूप में प्रवेश करना ही इस संस्कृत शब्दावली की लोक-प्रियता तथा उसके फल-स्वरूप हिंदी गद्य में उसके स्थान पाने का कारण जान पड़ता है। प्रांतीय भाषाओं का प्रभाव भी उक्त अवतरणों में दिखायी पड़ता है। 'पै' के स्थान पर 'पर' और 'को', 'कौ' अथवा 'कौं' के स्थान पर 'कूं' का प्रयोग ऐसे ही प्रभावों का परिणाम है'[1]।

सत्रहवीं शताब्दी के व्रजभाषा-गद्य-लेखकों में सबसे पहला नाम हरिराय का आता है। इनका जीवनकाल सं० १६०७ माना गया है। ये महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य एवं संस्कृत तथा हिंदी के अच्छे ज्ञाता बताये गये हैं। इनके कई ग्रंथों का विवरण सभा की पिछली कई रिपोर्टों में आया है[2]। सन् १९३२-३४ के त्रैवार्षिक विवरण में इनके रचे—(१) कृष्णप्रेमामृत, (२) पुष्टि दृढ़ावन की वार्ता (लिपिकाल सन् १८५६) (३), पुष्टि प्रवाह-मर्यादा, (४) सेवाविधि (लिपिकाल सन् १८०७), (५) वर्षोत्सव की भावना, (६) वसंत होरी की भावना (लिपिकाल सन् १८४५), (७) भाव-भावना—इन सात ग्रंथों में अंतिम, गद्य का एक विशालकाय ग्रंथ है, जिसमें राधाजी के चरण-चिह्नों की भावना, नित्य की सेवाविधि, वर्षोत्सव की भावनाएँ, डोल उत्सव की भावना, छप्पन भोग की रीति, हिंडोरादि की भावनाएँ, सातों स्वरूप की भावना एवं भोग की सामग्री आदि बनाने की रीति दी गयी है। नीचे 'भाव-भावना' से इनके गद्य का उदाहरण दिया जाता है[3]—

---

१. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास (द्वितीय संस्करण) सं० १९९७, पृ० ६३१-३२।

२. देखिए—रि० १९०० ई०, सं० ३८; १९०९-११ ई०, सं० ११५; १९१७-१९ ई०, सं० ७४; १९२३-२५ ई०, सं० १६०; १९२९-३१ ई०; १९३२-३४ ई०।

३. प्राचीन हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज का पन्द्रहवाँ त्रैवार्षिक विवरण (सन् १९३२-३४), पृ० ३७१।

सो पुष्टिमार्ग में जितनी क्रिया हैं, सो सब स्वामिनी जी के भावते हैं। तातें मंगलाचरण गावें। प्रथम श्री स्वामिनी जी के चरण-कमल को नमस्कार करत हैं। तिनकी उपमा देवे कों मन दसो दिसा दोरयो। परन्तु कहूँ पायो नहीं। पाछे श्री स्वामिनी जी के चरण-कमल को आश्रय कियो है। तब उपमा देवे कूँ हृदय में स्फूर्ति भई। जैसें श्री ठाकार जी को अधरबिम्ब आरक्त हैं रसरूप। तैसेई श्री स्वामिनी जी के चरण आरक्त हैं। सो नाते श्री चरण-कमल कों नमस्कार करत हैं। तिन में अनवट बिछुआ नुपुर आदि आभूषण हैं।

यह गद्य बिलकुल स्पष्ट और व्यवस्थित है। इससे पता लगता है कि सन् १५५३ के लगभग गद्य का प्रयोग ग्रंथरचना के लिए बराबर किया जाता था। उक्त अवतरण में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से किया गया है। 'पुष्टिमार्ग में जितनी क्रिया हैं', 'श्री स्वामिनी जी के चरण आरक्त हैं', 'नूपुर आदि आभूषण हैं' इत्यादि प्रयोग राधावल्लभी सम्प्रदाय-प्रवर्तक गोसाईं श्री हितहरिवंश जी की चिट्ठी में आये हुए, 'सुख अमृत स्वरूप है', 'तुम पर बहुत प्रसन्न हैं', 'हमारी भेंट यही है' आदि से मिलते-जुलते हैं।

इसी समय के लगभग 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' का गद्य सामने आता है। अब तक ये ग्रंथ गोस्वामी बिट्ठलनाथ के पुत्र गोस्वामी गोकुलनाथ के नाम पर, जिनका समय सन् १५६८ से १५६३ के आसपास था, प्रचलित थे। इधर अपने इतिहास के नये संस्करण में[1] शुक्ल जी ने अपना यह मत दिया है कि प्रथम 'वार्ता' गोकुलनाथ के किसी शिष्य की लिखी जान पड़ती है; क्योंकि इसमें गोकुलनाथ का कई जगह बड़े भक्तिभाव से उल्लेख है। इसमें वैष्णव भक्तों तथा आचार्य श्री वल्लभाचार्य जी की महिमा प्रकट करनेवाली कथाएँ लिखी गयी हैं। इसका रचनाकाल विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। 'दो सौ वैष्णवों की वार्ता' तो और भी पीछे, औरंगजेब के समय के लगभग लिखी गयी जान पड़ती है। डाक्टर धीरेंद्र वर्मा का भी यही मत है कि ये दोनों 'वार्ताएँ' एक ही लेखक की रचनाएँ नहीं हैं[2]। इस संबंध में हमें यह निवेदन करना है कि गोकुलनाथ जी का बड़े भक्तिभाव से उल्लेख देखकर ही हम प्रथम 'वार्ता' को उनके किसी

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास (संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण), सं० १६६७, पृ० ४७६-८०।

२. देखिए 'हिन्दुस्तानी', अप्रैल १६३२, भाग २, सं० २, पृ० १८३।

शिष्य की लिखी मानने के पक्ष में नहीं हैं। संभव है, जिन स्थलों पर गोस्वामी जी की प्रशंसा की गयी है, वे प्रक्षिप्त हों। गोकुलनाथ जी के समकालीन कवियों के काव्यों में भी जब प्रक्षिप्त अंश पाया जाता है—काव्यों में कुछ जोड़ना गद्य की अपेक्षा स्वभावतः कठिन है—तब गद्य में ऐसा होना असंभव नहीं जान पड़ता है। जो हो, ये 'वार्ताएँ' सत्रहवीं शताब्दी में रची मानने के लिए प्रायः सभी विद्वान तैयार हैं। इनकी भाषा का नमूना यह है—

(१) चौरासी वैष्णवन की वार्ता –

(क) तब सूरदास जी अपने स्थल तें आयके श्री आचार्य महाप्रभून के दर्शन को आये। तब श्री आचार्य महाप्रभून ने कह्यौ जो सूर आवौ बैठौ। तब सूरदास जी श्री आचार्य महाप्रभून के दर्शन करिके आगे आय बैठे तब श्री आचार्य महाप्रभून ने कही जो सूर कछु भगवद्यश बर्णन करौ। तब सूरदास ने कही जो आज्ञा[1]।

(ख) सो सूरदास जी के पद देशाधिपति ने सुने। सो सुनि कें यह बिचारौ जो सूरदास जी काहू बिधि सों मिले तो भलौ। सो भगवदिच्छा ते सूरदास जी मिले। सो सूरदास जी सों कह्यो देशाधिपति ने जो सूरदास जी मैं सुन्यो है जो[2] तुमने बिनय पद बहुत किये हैं। जो मोकों परमेश्वर ने राज्य दियो है सो सब गुनीजन मेरो जस गावत हैं ताते तुमहूँ कछु गावौ। तब सूरदास जी ने दे.ाधिपति के आगे कीर्तन गायौ।[3]

(२) दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता—

(क) नन्ददास जी तुलसीदास जी के छोटे भाई हते। सो विनकूँ नाच-तमासा देखबे को तथा गान सुनबे को शोक बहुत हतो। सो वा देश में सूँ एक संग द्वारका जात हतो। सो नन्ददास जी ऐसे विचार कें मैं श्री रणछोड़ जी के दर्शन कूँ जाऊँ तो अच्छौ है। जब विनने तुलसीदास जी सूँ पूँछी तब तुलसीदास

---

१. 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता', पृ० २७४।

२. जो—कि। 'कि' का प्रयोग बहुत समय बाद होने लगा था। सम्भव है, वह फारसी से लिया गया हो। यद्यपि कई विद्वानों की राय इसके प्रतिकूल है। वे इसकी उत्पत्ति 'किम्' से मानते हैं। देखिए—फुटनोट—हिन्दुस्तानी (५-३), पृ० २२४।

३. चौरासी वैष्णवों की वार्ता, पृ० २७१।

जी श्री रामचन्द्र जी के अनन्य भक्त हते। जासूँ बिनने द्वारका जायबे की नाहीं कही[1]।

(ख) तब नन्ददास जी श्री गोकुल चले। तब तुलसीदास जी कूँ संग संग आये। तब आयके नन्ददास जी ने श्री गुसाईं जी के दर्शन करे। साष्टांग दंडवत करी और तुलसीदास जी ने दंडवत करी नहीं। और नन्ददास जी कूँ तुलसीदास जी ने कही के जैसे दर्शन तुमने वहाँ कराये वैसे ही यहाँ कराओ। तब नन्ददास जी ने श्री गुसाईं जी सों विनती करी ये मेरे भाई तुलसीदास हैं। श्री रामचन्द्र जी बिना और कूँ नही नमें हैं। तब श्री गुसाईं जी ने कही तुलसीदास जी बैठो[2]।

इस भाषा के संबंध में मुख्यतः दो बातें स्मरण रखनी चाहिएँ। पहली बात यह कि उक्त अवतरण जन-साधारण में प्रचलित ऐसी भाषा के हैं, जिसमें भाव-व्यंजना की सुंदर शक्ति जान पड़ती है। इनके लेखक ने कहीं अपनी योग्यता अथवा किसी प्रकार का चमत्कार दिखाने का प्रयत्न नहीं किया है। संस्कृत के तत्सम, तद्भव तथा अन्य प्रचलित शब्द ही इसमें प्रयुक्त हुए हैं। इससे जान पड़ता है कि संस्कृत के प्रभाव से मुक्त एक काव्य-भाषा उस समय गद्य-भाषा का रूप धारण करने की ओर पैर बढ़ा रही थी। तीसरे अवतरण में प्रयुक्त 'तमासा', 'शोक' आदि शब्दों से ज्ञात होता है कि लेखक अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों को अपनाने के भी पक्ष में था। यही नहीं, मिश्रबंधुओं की सम्मति में, गुजराती-मारवाड़ी बोलियों का भी इनकी भाषा पर प्रभाव पड़ा है[3]।

दूसरी बात क्रियापदों के रूप से संबंध रखती है। बाबा गोरखनाथ, गोसाईं बिठ्ठलनाथ, हरिराय आदि गद्यलेखकों की भाषा की क्रियाएँ तथा कुछ अन्य शब्द इस बात के समर्थक हैं कि उनकी रचनाएँ व्रजभाषा की ही हैं। इस गद्य का क्रमशः विकास होता गया। 'वार्ताओं' के लेखक की भाषा में यद्यपि क्रियापदों का रूप बहुत कुछ पूर्ववत् ही बना रहा, तथापि कुछ ऐसे क्रियारूपों का प्रयोग भी उन्होंने किया जो नये तो नहीं कहे जा सकते, पर जिनका प्रयोग पूर्ववर्ती लेखकों के गद्य में बहुत कम हुआ है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित वाक्यों की क्रियाओं की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है—

---

१. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, पृ० २८।

२. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, पृ० ३९।

३. मिश्रबन्धु-विनोद, प्रथम भाग, पृ० २८९।

सो एक दिन नन्ददास जी के मन में ऐसी आई। जो जैसे तुलसीदास जी ने रामायण भाषा करी है। सो हमहूँ श्रीमद्भागवत भाषा करें।[1]

इन पंक्तियों में आई, करी है, करें तथा ऊपर के अवतरणों में प्रयुक्त आये, बैठे, सुने, मिले, चले, करे, कराओ, कराये आदि क्रियारूप प्रायः वे ही हैं, जो वर्तमान खड़ी बोली में प्रयुक्त होते हैं। यही नहीं, 'वार्ताओं' की भाषा पूर्ववर्ती लेखकों की भाषा से कुछ शुद्ध भी है। 'पूर्ण होत भई' की तरह पर 'त्यजत भई', 'कहत भई' आदि जो प्रयोग गोस्वामी विट्ठलनाथ आदि की भाषा में हैं उनके स्थान पर 'वार्ताओं' में हमें इनके शुद्ध ब्रजभाषा के रूप मिलते हैं। इसके अतिरिक्त इनमें कारक चिह्नों का प्रयोग भी अपेक्षाकृत अधिक निश्चित रूप से हुआ है।

'वार्ताओं' में खटकनेवाली एक बात है सर्वनाम का उचित प्रयोग न किया जाना। इसका फल यह हुआ कि संज्ञा शब्दों की भद्दी पुनरुक्ति हो गयी है। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से इनका गद्य सजीव और स्वाभाविक है। साधारण वर्णन की प्रवृत्ति होने से लेखकों ने भाषा को साहित्यिक और शुद्ध बनाने का कृत्रिम प्रयत्न नहीं किया। इन विशेषताओं को देखते हुए कहा जा सकता है कि 'वार्ताएँ' गद्य की सुन्दर रचनाएँ हैं और इनकी भाषा विषयानुकूल और व्यवस्थित है।

यह तो हुई 'वार्ताओं' की बात। इनके अतिरिक्त स्वामी गोकुलनाथ के बनाये हुए छः ग्रंथ—वनयात्रा, पुष्टिमार्ग के बचनामृत (लि० का० सन् १८४८), रहस्यभावना (लि० का० सन् १८५४), सर्वोत्तम स्तोत्र, सिद्धांत-रहस्य, और वल्लभाष्टक—प्रकाश में आये हैं। ये सब ग्रंथ ब्रजभाषा में हैं और इनमें पुष्टिमार्ग के सिद्धांतों तथा भक्ति विषय का प्रतिपादन किया गया है। यदि 'वार्ताओं' का रचयिता गोस्वामी गोकुलनाथ को न भी मानें तब भी उक्त ग्रंथों को देखकर डा० बड़थ्वाल[2] उन्हें अनेक गद्य-ग्रंथों का निर्माता, उत्कृष्ट विद्वान और श्रेष्ठ लेखक स्वीकार करते हैं।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्य गद्य-लेखकों में नंददास, नाभादास, तुलसीदास, दामोदर, बनारसीदास, किशोरीदास, वैकुंठमणि शुक्ल और चिंतामणि के गद्यग्रंथों का

---

१. दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता, पृ० ३२।

२. प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज का पन्द्रहवाँ त्रैवार्षिक विवरण, पृ० ३६८

पता लगता है । ये ग्रंथ साहित्यिक दृष्टि से तो विशेष महत्व के नहीं हैं, तथापि व्रजभाषा-विकास की दृष्टि से इनका मूल्य अवश्य है । इनसे तत्कालीन गद्य-भाषा के रूप का कुछ परिचय अवश्य मिलता है और पाठक को यह कहने का अवसर भी मिलता है कि हमारे कवि कभी-कभी गद्य में भी लिखा करते थे ।

अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नंददास के लिखे 'नासिकेत पुराण भाषा' और 'विज्ञानार्थ प्रवेशिका' नामक ग्रंथ मिलते हैं । इनका रचनाकाल सन् १५६८ के आसपास होना चाहिए, क्योंकि इनके 'अनेकार्थनाममंजरी' नामक ग्रंथ का रचनाकाल सन् १५६७ है । उक्त दोनों ग्रंथ व्रजभाषा गद्य में बताये जाते हैं । प्रथम ग्रंथ उसी नाम की संस्कृत रचना का अनुवाद है और द्वितीय एक संस्कृत ग्रंथ की व्रजभाषा-गद्य में टीका, जो मिश्रबंधुओं ने छतरपुर में देखी थी[1] । 'नासिकेतुपुराण' के गद्य के दो उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

पुंडरीक उवाच । तू हमारी दासी है अरु बहुत प्यारी है । तेरे घर हूं नाग की देही धरै हूं आऊँगौ । तू डरपै मति । घर ही बिषै नाग होइ तौ बाबी काहे कू जइयै । पुंडरीक नाग ब्राह्मनि के घर आयौ है । अपनौ सरूप नाग कौ धरयौ है । मस्तिक मनी है । अरु कमल कौ पौहोय है । अरु सुरह गाइ कौ षोज है । जब वह कन्या नाग की पूजा करी है, बिधि संजुगति करी है, तब वाही की माता देषि के अचरज भई है । हे देव कहा बनायौ है । नाग कौ सरूप देषी जब वह कन्या पूजि करि परक्रमा करी आपनी माता सुं कह्यौ । यह नाग मेरो भरतार है । तब माता कह्यौ यह तौ नाग है । तूं मनिष देह है । तोहिर याहि जोगि नाही । जब कन्या कह्यौ यह औतार है तू जानै नाही । मनिष रूप भी धारै अरु नाग रूप भी धारै[2] ।

× × ×

नासकेत पुराण भाषा करि नंददास जी आपणा सिष्य नै कहत है । सो याह कथा कैसी है ॥ या कथा सहंसक्रत पुराण बैसंपायन रिषि राजा परीछित को पुत्र जनमेजय कौ कथा कही है ॥ और जनमेजय या कथा सुणी परम गति कौ प्रापति भयौ है । और सब पाप कटे हैं । और स्वामी नंददास जी आपणा मित्रनैं भाषा करि कहतु है । सिष्य पूछत है गुसाइ जी मेरै अभिलाषा नासकेत पुराण सुणिबा की इंछा बहौत है मोनैं भाषा बारता कहौ । सहंसक्रत मैं समझौं नहीं ।

---

१. मिश्रबन्धुविनोद, प्रथम भाग, पृ० २२१ ।

२. 'नंददास', द्वितीय भाग, सं० श्री उमाशंकर शुक्ल, पृ० ४६१ ।

अर्थ नंददास जी कहत है सिष्य को और बैसंपायनि रिषि राजा जनमेजय कों कही है। रिषि कहत है राजा परीछित को सराप भयो है पहोप की कली मांहि तछिक सरपि डस्यो सींगी रिषि का पुत्र को सराप भयो है सम्यक रुषिसुर को अब राजा जनमेजय पिता का बैर निमति जग्य रच्यो है सरप होमि बाके सिस्य जग्य को आरंभ कीयौ है [1]।

इनके बाद 'भक्तमाल' के प्रसिद्ध कवि नाभादास जी ने सन् १६०३ के आसपास 'अष्टयाम' नामक एक पुस्तक ब्रजभाषा-गद्य में लिखी। उसमें भगवान राम की दिनचर्या का वर्णन है। इस पुस्तक की भाषा का नमूना[2] यह है—

तब श्री महाराजकुमार प्रथम वशिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भये। फिर ऊपर वृद्ध समाज तिनकों प्रनाम करत भये। फिर श्री राजाधिराज को जोहारि करिके श्री महेन्द्रनाथ दशरथ जू के निकट बैठत भये।

नाभादास जी का यह गद्य गोस्वामी विट्ठलनाथ की भाषा से मिलता-जुलता है। 'करत भये', 'बैठत भये' आदि से मिलते-जुलते रूप हम उनकी भाषा में देख चुके हैं। सन् १६०० के लगभग प्रेमदास नामक एक और गद्य-लेखक के प्रादुर्भाव का पता इधर लगा है[3]। इन्होंने हितहरिवंशजी (जन्म सन् १५०२) के 'हितचौरासी' नामक ग्रंथ की टीका बड़े विस्तार से, लगभग ५०० पृष्ठों में की थी। प्रेमदास का समय पूर्णतः निश्चित नहीं है। हितहरिवंश जी का रचनाकाल सन् १५४० से १५८० तक मान्य है। अतः प्रेमदास की टीका इसके बाद लिखी गयी होगी। इसी समय के लगभग का गोस्वामी तुलसीदास जी का लिखा हुआ एक पंचनामा मिलता है। उसकी कुछ पंक्तियाँ[4] इस प्रकार हैं—

सं० १६६९ समये कुआर सुदी तेरसी बार शुभ दिने लिखीतं पत्र आनन्दराम तथा कन्हाई के अंश विभाग पूर्वमु आगे जे आग्या दुनहु जने माँगा जे आग्या भै शे प्रमान माना दुनहु जने विदित तफसील अंश टोडरमल के माह जे विभाग पदु होत रा।.........। मौजे भदेनी मह अंश पाँच तेहि मँह अंश दुइ आनन्दराम तथा लहरतारा सगरेउ तथा छितुपुरा अंश टोडरमलुक तथा नमपुरा अंश टोडरमल की हील हुजती नास्ती।

---

१. 'नंददास', द्वितीय भाग, सं० श्री उमाशंकर शुक्ल, पृ० ३५९।

२. हिन्दुस्तानी—भा० ५, अं० ३, पृ० २९९।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास—संशोधित संस्करण, पृ० २१६।

४. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास—(द्वि० संस्करण), सं० १९९७, पृ० ६३५।

इस पंचनामे की भाषा व्रज नहीं, बोलचाल की अवधी है[1]। परंतु इसमें प्रयुक्त 'माँगा', 'माना' आदि शब्द ध्यान देने योग्य हैं। इसी प्रकार तफसील, हुज्जती आदि फारसी के शब्द सम्भवतः इस बात की याद दिलाते हैं कि टोडरमल की कृपा से राजकाज की भाषा फारसी हो गयी थी और इसके फलस्वरूप 'पंचनामे' में ऐसे शब्दों का प्रयोग करना आवश्यक था। इस पंचनामे की रचना सन् १५१२ में हुई थी। इसी समय के आसपास दामोदर नाम के जैनकवि ने 'मदन-शतक' नामक ग्रंथ लिखा जिसमें दोहों के बीच-बीच में गद्य है। इस कवि का दीक्षा नाम दयासागर जान पड़ता है। इसके गद्य की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत हैं[2]—

अमरपुर नगर तिहाँ रत्नसिंह राजा गुनमंजरी नाम रानी ताकौ सुत मदनकुमर यौवनवंत भयौ तब श्री कामदेव सुपनै में आइकै कह्यौ। मदनकुमर तूँ अपनौ राज्य देश छोडिकै परदेश जाहु तोकूँ नफा है अरु इहाँ रह्याँ तोकूँ केइक दिन सुख नाँही कष्ट है। एतों कहि कामदेव अदस भयौ। अरु मदनकुमर प्रात समैं मात पिता सूँ बिना मिल्याँ एक सुक साथि लेकै देसावर चल्यौ, आगै चलताँ श्रीपुर नगर कै विषै जनानंद वन ताकै बीचि श्री कामदेव कौ प्रासाद तहाँ मदनकुमर सूआ कूँ दरवाजै बैठाय कै आप देवल भीतर सोया तिन समै नगरराय की बेटी रतिसुंदरी नाम पूजा करनकूँ आई।

यह गद्य सर्वथा स्पष्ट है और कथा-कहानी के उपयुक्त सरलता भी इसमें है। कदाचित् दामोदर कवि के ही समकालीन थे जौनपुर के बनारसीदास (जन्म सन् १५८६) नामक एक जैन मतावलंबी कवि जिनके लिखे हुए कुछ उपदेश व्रजभाषा-गद्य में मिलते हैं[3]। सन् १६१३ के लगभग इन्होंने एक पुस्तक लिखी थी। उसकी कुछ पंक्तियाँ[4] यहाँ दी जाती हैं—

सम्यग् दृष्टि कहा? सो सुनो। संशय, विमोह, विभ्रम तीन भाव जामैं नाहीं सो सम्यग् दृष्टी। संशय, विमोह, विभ्रम कहा? ताको स्वरूप दृष्टान्त करि दिखाइयतु है सो सुनो।

---

१. देखिए फुटनोट—हिन्दुस्तानी—भा० ५, अंक ३, पृ० २५५।

२. 'कल्पना' में प्रकाशित श्री अगरचंद नाहटा और श्री भँवरलाल नाहटा का 'मदनशतक का गुप्त प्रेम-पत्र' शीर्षक लेख, वर्ष ६, अंक ४, पृ० ४८।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास—संशो० संस्करण, पृ० ३४०।

४. हिन्दी साहित्य का इतिहास—संशो० संस्करण, पृ० २६६।

बैकुंठमणि (सन् १६२५ के लगभग वर्तमान) की दो छोटी-छोटी पुस्तकें 'अगहनमाहात्म्य' और 'वैशाखमाहात्म्य' मिलती हैं। ये ओरछा के महाराज जसवंतसिंह की महारानी के लिए लिखी गयी थीं। यह बात द्वितीय पुस्तिका में स्वयं लेखक ने इस प्रकार लिखी है—

सब देवतन की कृपा तें बैकुंठमनि सुकुल श्री महारानी श्री रानी चन्द्रावती के धरम पढ़िबे के अरथ यह जयरूप ग्रन्थ बैसाख-महात्म भाषा करत भये।

इस वाक्य से इन ग्रंथों की भाषा का नमूना मिल जाता है और यह भी ज्ञात होता है कि ये अनुवाद मात्र हैं। इनकी रचना का समय सन् १६२५ के आसपास समझना चाहिए।

बैकुंठमणि के समकालीन विष्णुपुरी नामक लेखक ने सन् १६३३ में 'भक्तिरत्नावली' नाम का एक ग्रंथ ब्रजभाषा में अनुवादित किया। इस काल की अन्य रचनाओं से यह बड़ा है। 'भुवनदीपिका' नामक एक ग्रंथ उनके किसी समकालीन लेखक का बनाया जान पड़ता है; क्योंकि इसका रचनाकाल सन् १६१४ है।

सत्रहवीं शताब्दी के लगभग मध्य में अनूदित चिंतामणि त्रिपाठी की 'शृंगारमंजरी'[1] नामक पुस्तक का इधर और पता लगा है। यह ग्रंथ अकबर साह-कृत है और इसमें नायिका-भेद तथा शृंगार रस का सुंदर विवेचन है। चिंतामणि इस ग्रंथ के ब्रजभाषा में रूपांतर-कार हैं और इन्होंने बीच-बीच में विषय का गद्य में भी विवेचन किया है। इनका गद्य समकालीन और परवर्ती टीकाकारों के गद्य से अधिक प्रौढ़ और साहित्यिक है। इसलिए इसके गद्य के दो उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

रसमंजरी कार चित्तमात्रोपाधिक सकल पुरुषानुरागा सामान्या, यह सामान्या को लच्छन लिख्यो है। यामैं शंका। चित्तोपाधिक जो अनुराग सो अनुराग न कहावै ताते सामान्या मैं यह लच्छन को असम्भव रूप दोख होतु है। अनुराग एक ही ठौर होतु है सर्वत्र जो अनुराग सो अनुरागै न होइ। तातें सामान्या नाइका ई न होइ। काहु ग्रंथकार इच्छै अनुराग कह्यो है। यातें वित्तनिमित्तक पुरुषेच्छा रूप अनुराग याहूँ मैं है। यह जो कोऊ कहै तो यह कहिये कि इच्छा यद्यपि भाँति-भाँति की है तथापि सौन्दर्यादि गुण को देखि जो स्त्री पुरुष के इच्छा

---

१. 'शृंगार-मंजरी' डा० भगीरथ मिश्र द्वारा संपादित होकर 'लखनऊ विश्वविद्यालय हिंदी प्रकाशन' के अंतर्गत प्रकाशित हो चुकी है।

होति है सोई शृंगार ग्रंथनि विषै अनुराग कहावै और इच्छा अनुराग न कहावै । बंधु पुत्रादिकन मैं जो इच्छा सो ममता कहावति है। ऐसे भाँतिन भाँतिन की इच्छा भाँतिन भाँतिन के नाम पावति है[1] ।

× × × ×

शृंगार सो द्वै भाँति एक लौकिक दूसरो अलौकिक । लौकिक नायक नायिका में प्रकट होतु है अलौकिक काव्य-नाट्य को सामाजिकन मैं प्रकाशतु है सो कैसे यह जो कोऊ पूछै तौ यह कहिए लौकिक संभाषणादि वाक्यांतर संभोग करि पारवश्य करि सुखोत्पत्ति नायिका नायक ही के होति है या ते नायिका नायक निष्टै लौकिक रस होत है। काव्य-नाट्य विषै आकर्णनादिकन करि वचन रचना अभिनय द्वारा नायिका नायक के कटाक्ष भुज विक्षेपादि लज्जास्मितादि सामाजिकन करि अनुभव गोचर करियत है। ताते सामाजिकन के आनन्दाभिव्यक्ति होति है ताते अलौकिक रस सामाजिक निष्टै होत है[2] ।

वैकुंठमणि के दोनों 'माहात्म्यों' के लगभग ८० वर्ष पश्चात् सन् १७०५ के आसपास लिखा गया 'नासिकेतोपाख्यान' नामक एक ग्रंथ मिलता है जिसका रचयिता अज्ञात है। इसकी भाषा का नमूना यह है—

हे ऋषीश्वरो ! और सुनो, देख्यो है सो कहूँ । काले वर्ण महा दुख के रूप जमकिंकर देखे । सर्प, बीछू, रीछ, व्याघ्र, सिंह, बड़े-बड़े ग्रध देखे । पन्थ में पापकर्मी कौ जमदूत चलाइ के मुग्दर अरु लोह के दंड कर मार देत हैं । आगे और जीवन को त्रास देत देखे हैं । सु मेरो रोम-रोम खरो होत है ।

इसके पाँच-छः वर्ष बाद सन् १७१० में आगरे के[3] सुरति मिश्र ने व्रजभाषा में 'बैतालपचीसी' लिखी । इसका कथानक संस्कृत के 'बैतालपंचविंशति' से लिया गया था । इसके अतिरिक्त 'बिहारीसतसई' की 'अमरचंद्रिका' नाम से और 'कविप्रिया' तथा 'रसिकप्रिया' की उन्हीं नामों से टीकाएँ भी मिश्र जी ने कीं। 'अमरचंद्रिका' का रचनाकाल सन् १७३४ है और शेष दोनों का सन् १७४० के आसपास । इन टीकाओं से इतना तो स्पष्ट है ही कि कभी-कभी शास्त्रीय

---

१. 'शृंगार मंजरी', संपादक—डा० भगीरथ मिश्र, पृ० ३५–३६ ।
२. 'शृंगार मंजरी', संपादक—डा० भगीरथ मिश्र, पृ० १४० ।
३. इन्होंने स्वयं लिखा है—सूरत मिश्र कनौजिया, नगर आगरे बास ।

विषयों के निरूपण के लिए हमारे आचार्य गद्य का भी उपयोग किया करते थे। इस संबंध में स्व० शुक्ल जी का भी यही मत है[1]।

सन् १७६५ में, लगभग ८५ वर्ष पश्चात्, हीरालाल ने जयपुर-नरेश सवाई प्रतापसिंह की आज्ञा से 'आईन अकबरी की भाषा वचनिका' तैयार की। इसकी भाषा का नमूना यह है—

अब शेख अबुल फजल ग्रन्थ को करता प्रभू को निमस्कार करिके अकबर बादस्याह की तारीफ लिखने को कसत करे है। अरु कहे है या की बड़ाई अरु चेष्टा अरु चिमत्कार कहाँ तक लिखूँ। कही जात नाहीं। तातें याके पराकरम अरु भाँति भाँति के दसतूर व मनसूबा दुनिया में प्रगट भये, ताको संखेप लिखत हैं।

इन अवतरणों का भाषा-रूप बहुत-कुछ व्यवस्थित होते हुए भी 'वार्ताओं' की भाषा का सौ-डेढ़-सौ वर्षों में विकसित रूप नहीं कहा जा सकता ; हाँ, इन्हें देखकर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि व्रजभाषा में यदा-कदा गद्य-ग्रंश लिख लिये जाते थे। परंतु उक्त लेखकों के पश्चात् व्रजभाषा के गद्य का विकास क्रमिक गति से नहीं हुआ। रीतिकाल के लेखकों ने तो इसका प्रयोग काव्य-ग्रंथों की केवल शाब्दी टीका करने के लिए किया, यहाँ तक कि व्रजभाषा का एक भी स्वतंत्र और प्रौढ़ ग्रंथ इस समय नहीं लिखा गया। टीका और भाष्य इस समय के अवश्य मिलते हैं—एक 'बिहारी-सतसई' की ही कई टीकाएँ पायी जाती हैं, परंतु भाषा-शैली के विकास की दृष्टि से इनका विशेष मूल्य नहीं है। कारण यह है कि इनकी भाषा प्रायः अव्यावहारिक और अव्यवस्थित है तथा शैली अपरिमार्जित और पंडिताऊ ढंग की। 'रामचंद्रिका' की सन् १८१५ के लगभग लिखी हुई टीका का एक उदाहरण यहाँ उद्धृत है—

राघव शर लाघव गति छत्र मुकुट यों हयो।
हंस सबल अंसु सहित मानहु उड़ि के गयो॥

टीका—सबल कहें अनेक रंग मिश्रित है अंसु कहें किरण जाके ऐसे जे सूर्य हैं जिन सहित मानो कलिन्दगिरि शृंग से हंस समूह उड़ि गयो है। यहाँ जाहि विषे एक वचन है। हंसन के सदृश स्वेत छत्र है और सूर्यानि के सदृश अनेक नभ-जटित मुकुट हैं।

'वार्ताओं' की भाषा से इस भाषा की तुलना करने पर स्पष्ट होता है कि

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास (संशो० संस्करण), पृ० ४८२।

उनकी रचना के बाद ब्रजभाषा के गद्य का विकास न होकर ह्रास होने लगा। यदि 'वार्ताओं' की भाषा में उसी प्रकार स्वतंत्र रूप से गद्य-ग्रंथ-रचना होती रहती तो कदाचित् भाषा की व्यंजना-शक्ति बढ़ती जाती, परंतु एक तो विषय की परतंत्रता और दूसरे, टीकाकारों की संकुचित मनोवृत्ति के कारण ऐसा न हो सका। 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया', 'बिहारीसतसई', 'श्रृंगारशतक' आदि अनेक ग्रंथों की टीकाएँ इस युग में हुईं और सुरति मिश्र, किशोरीदास तथा सरदार कवि आदि अनेक व्यक्तियों ने इस क्षेत्र में काम किया; परंतु प्रायः सभी की भाषा ऊपर दिये हुए नमूने की तरह अनगढ़ और अनियंत्रित ही है, जिससे मूल पाठ टीकाओं में सरल और स्पष्ट न होकर दुर्बोध और अस्पष्ट हो गया है। टीकाओं की भाषा का मूल्य कितना है, यह इस कथन से ठीक-ठीक ज्ञात हो जायगा कि मूल पढ़कर उसका अर्थ भले ही समझ लिया जाय, परंतु इन टीकाओं का समझना एक कठिन समस्या है।

ब्रजभाषा-गद्य के विषय में जैसा अब तक देखा जा चुका है, पर्याप्त सामग्री मिलती है। फिर भी हमारे इतिहास-लेखकों को गद्य का निश्चित विकास-क्रम नहीं मिलता[1]। इसके दो मुख्य कारण हैं। पहली बात तो यह है कि जिन गद्य-ग्रंथों का पता आज चलता है उनकी खोज हाल ही में हुई है और अब भी वे प्रकाशित होकर सामने नहीं आये हैं। दूसरे, हमारे इतिहासकारों ने ब्रजभाषा-गद्य के विकास का क्षेत्र समझने का प्रयत्न नहीं किया। वस्तुतः ब्रजभाषा-गद्य का विकास दो साहित्यिक दलों ने स्वतंत्र रूप से किया—(१) भक्त कवि और आचार्यों ने और (२) रीतिकालीन आचार्यों ने। भक्ताचार्यों ने गद्य में ग्रंथ लिखने पहले आरंभ कर दिये थे, क्योंकि एक तो उनका प्रादुर्भाव पहले हुआ और दूसरे जन-साधारण की भाषा अपनाने की आवश्यकता उन्हें अपेक्षाकृत अधिक थी। इन भक्तों का गद्य दो रूपों में विकसित हुआ। एक तो स्वान्तःसुखाय ग्रंथ-रचना के लिए और दूसरे पंडिताऊ ढंग से कथावार्ता के लिए। रीतिकालीन कवियों ने गद्य में ग्रंथरचना बहुत देर से प्रारंभ की और दूसरे उन पर संस्कृत के पंडिताऊ ढंग का भी प्रभाव था। भक्तों के पंडिताऊ ढंग की भाषा से इनका गद्य बहुत-कुछ मिलता-जुलता है।

हिंदी गद्य की तीन धाराओं में—दो भक्ताचार्यों की और एक रीतिकालीन आचार्यों की—केवल प्रथम का विकास कुछ क्रम से हुआ और इसके प्रमाण-स्वरूप

---

१. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास—पृ० ६२६।

ग्रंथ मिलते भी हैं। इन सबकी भाषा क्रमशः विकसित और व्यवस्थित होती गयी है। अन्य दोनों रूपों की—भक्ताचार्यों की पंडिताऊ और रीतिकालीन आचार्यों की शास्त्रीय भाषा अपेक्षाकृत अव्यवस्थित और शिथिल है। सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में ऐसी भाषा के ग्रंथ भी मिलते हैं और प्रथम प्रकार की व्यवस्थित और विकसित भाषा के भी। यही देखकर हमारे इतिहास लेखक आश्चर्य में पड़ जाते हैं और कभी-कभी लिख मारते हैं कि हिंदी गद्य का क्रमशः विकास नहीं हुआ। वस्तुतः तथ्य यह है कि प्रत्येक शताब्दी में गद्य-ग्रंथ रचे तो अवश्य गये, परंतु उनके लेखकों का लक्ष्य गद्य-साहित्य की उन्नति करना नहीं था। वे ग्रंथ रचते थे और परोक्ष रूप से इस प्रकार गद्य की उन्नति होती गयी।

अंतिम बात यह है कि ब्रजभाषा-गद्य की संपूर्ण सामग्री अभी प्रकाश में आयी ही नहीं है और इस क्षेत्र मे अभी बहुत काम करने की आवश्यकता है। ब्रजभाषा के जिन गद्य-ग्रंथों का पता भी लगा है, प्रकाशित न होने के कारण अभी उनका विधिवत् अध्ययन नहीं किया गया है। जिस दिन ये दोनों कार्य संपूर्ण हो जायँगे उसी दिन ब्रजभाष-गद्य के विकास का ठीक-ठीक इतिहास लिखा जा सकेगा।

द्विवेदी जी का संपादन-कौशल

'सरस्वती' का संपादन हाथ में आते ही द्विवेदी जी ने अनुभव किया कि बिना योग्य लेखक और पाठक उत्पन्न किये हिंदी की दशा में सुधार होना असंभव है। उन दिनों हिंदी में लेखक इने-गिने थे। जो थे भी वे लकीर के फकीरों की तरह पुराने विषयों को ही, कविता करने और गद्य लिखने के लिए अपनाते थे ; भाषा-शैली और व्याकरण पर तो कोई ध्यान ही न देता था। द्विवेदी जी ने इस अनियमितता को रोकने का भारी प्रयत्न किया और इस प्रकार के दोष-पूर्ण लेखों का प्रकाशन बंद कर दिया। लोग लेख भेजते थे। द्विवेदी जी उनके दोष दिखा कर लौटती डाक से ही वापस कर देते थे। इससे दकियानूसी लेखकों में बड़ा असंतोष फैल गया। द्विवेदी जी ने इसकी कुछ चिंता न की। जब तक अच्छे लेख न मिले, उन्होंने स्वयं इतना परिश्रम किया कि 'सरस्वती' का पूरा मैटर प्रायः खुद ही तैयार करने लगे। वे विभिन्न विषयों का अध्ययन करके लिखते थे और कल्पित नाम से छपा देते थे। द्विवेदी जी की चौमुखी प्रतिभा इन दिनों देखने योग्य थी। वे कभी 'नियमनारायण शर्मा' के रूप में हिंदी के अक्षर-विन्यास को व्यवस्थित करते, कभी श्रीकंठ पाठक, एम० ए० होकर भाषा की मिट्टी पलीद करनेवालों को राह पर लाते, कभी 'भुजंगभूषण भट्टाचार्य' बनकर कथा-साहित्य की नींव डालते तो कभी 'कश्चित् कान्यकुब्ज' ; का जामा पहन कर समाज को सुधारने की कोशिश करते थे।

उन्होंने स्वयं भारी परिश्रम करना स्वीकार किया, पर ऐरे-गैरे पँचकल्यानियों के लेख छापना उचित नहीं समझा। लगभग साल भर तक यही क्रम चलता रहा। दूसरे-तीसरे वर्ष उन्होंने 'भाषा और साहित्य' तथा 'भाषा और व्याकरण' आदि के ढंग के लेख भी प्रकाशित किये। इनके लिखने का मुख्य उद्देश्य यह था कि लेखक द्विवेदी जी के विचारों से परिचित हो जायँ और स्पष्ट रूप से

उन्हें ज्ञात हो जाय कि क्यों उनके लेख 'सरस्वती' में नहीं प्रकाशित होते। ऐसे लेखों के प्रकाशित होने से एक लाभ और हुआ कि जिन लोगों को हिंदी में लिखने की चाह थी वे अब सावधान होकर लिखने लगे ; परंतु जो लेखक 'हम चुनीं दीगरे नेस्त' का शिकार हो रहे थे और अपनी योग्यता के सामने किसी को कुछ समझते ही नहीं थे, वे द्विवेदी जी से असंतुष्ट हो गये और उन्होंने 'सरस्वती' के लिए लिखना ही बंद कर दिया। इतनी सरलता से पिछले खेवे के इन स्वयंभू लेखकों से छुटकारा पाकर शायद द्विवेदी जी ने संतोष की ही साँस ली होगी।

धाँधली मचानेवालों का मुँह बंद करने के पश्चात् द्विवेदी जी ने सत्साहित्य के उत्पादन के लिए योग्य लेखकों को ढूँढ़ना और उन्हें उत्साहित करना आरंभ किया। बात यह थी कि जो लोग विद्वान थे और कुछ लिख सकते थे वे पहले तो लिखते ही नहीं थे और यदि लिखते भी थे तो अँगरेजी आदि अन्य भाषाओं में ; हिंदी में लिखने में 'शायद' वे अपना अपमान तक समझते थे। द्विवेदी जी सामयिक पत्रों में ऐसे लेखकों के लेख पढ़ा करते थे और प्रयत्न करते थे कि ये लोग हिंदी में भी लिखें। यह प्रयत्न कभी-कभी व्यतिरेक-युक्ति-साधन के रूप में भी देखा जाता था। एक ऐसे ही लेखक के विषय में वे लिखते हैं—

'हिंदुस्तान रिव्यू का जुलाई १९१४ का अंक इस समय हमारे सामने है। उसमें प्लेटो और शंकराचार्य के तत्त्व-ज्ञान पर एक लंबा लेख है। उसके लेखक हैं कोई प्रभुदत्त शास्त्री, आई० ई० एस०। ये शायद वही डाक्टर साहब हैं जो किसी समय पंजाब में थे और सरकारी वजीफा पाकर अपना दार्शनिक और संस्कृत-ज्ञान पक्का करने के लिए योरप गये थे। यदि यह सच है तो क्या आप पर उन लोगों का कुछ भी हक नहीं जिनसे वसूला हुआ रुपया वजीफे के रूप में पाकर आपने अपनी विद्वत्ता की सीमा बढ़ाई है? क्या केवल अँगरेजीदाँ हजरत ही इस देश में बसते हैं? क्या ये स्कूल, कालेज और वजीफे उन्हीं के घर के रुपये से चलते और मिलते हैं? आप लोगों को अपने घर की भी खबर रखनी चाहिए। जिसके घर में चूहे डंड पेलते हों वह यदि जगतसेठ के गोदाम में गेहूँ की गाड़ियाँ उलटाने जाय तो कितने आश्चर्य की बात है! हमारी यह शिकायत डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री से ही नहीं, उत्तरी भारत के अन्यान्य डाक्टरों और अँगरेजीदाँ शास्त्रियों से भी है। आप लोग अपनी भाषा में भी उपयोगी लेख लिखने की दया करें। लिखना नहीं आता तो सीखिए, अपना कर्तव्य पालन कीजिए।'

इन चेतावनियों से बहुत से लोग तो रास्ते पर आ गये और हिंदी में लिखने लगे, पर कुछ लोग ऐसे भी थे जो बात-बात में पाश्चात्य देशों के गीत गाया करते थे और भारतीय होते हुए भी भारतवासियों को मूर्ख कहा करते थे। द्विवेदी जी इनसे बहुत चिढ़ गये। उन्होंने 'साहित्य की महत्ता' शीर्षक लेख में ऐसे व्यक्तियों को फटकारते हुए लिखा—

'जर्मनी, रूस, इटली और स्वयं इँगलैंड चिरकाल तक फ्रेंच और लैटिन भाषाओं के माया-जाल में फँसे रहे थे। पर बहुत समय हुआ, उन्होंने उस जाल को तोड़ डाला। अब वे अपनी भाषा के साहित्य की अभिवृद्धि करते हैं, कभी भूल कर भी विदेशी भाषाओं में ग्रंथ रचना करने का विचार भी नहीं करते। बात यह है कि अपनी भाषा का साहित्य ही जाति और स्वदेश की उन्नति का साधन है। विदेशी भाषा का चूडांत ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी विशेष सफलता नहीं हो सकती अपने देश को विशेष लाभ नहीं पहुँच सकता। अपनी माँ को निःसहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा-शुश्रूषा में रत होता है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तंब ही कर सकते हैं।'

इसके पहले 'भाषा और साहित्य' के लेख में वे विश्वविद्यालयों के बड़े-बड़े पदवीधारी लेखकों को भी खूब फटकार चुके थे। यहाँ तक कि महामना पंडित मदनमोहन जी मालवीय से भी आपने प्रार्थना की—'आप स्वयं हिंदी में लिखा कीजिए और अपने प्रभाव के अधीन सबको हिंदी ही अपनाने को प्रवृत्त कीजिए।'

इन हृदय-वेधक सच्चे उद्गारों का लेखकों पर अभिलषित प्रभाव पड़ा। बात यह थी कि कुछ लोग विद्वान् थे और उनके हृदय में मातृभाषा हिंदी के लिए प्रेम और आदर था, पर हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं और संपादकों की धाँधली देखकर उन्होंने साहित्य-सेवा से अपना हाथ खींच लिया था। अब उनको एक ऐसा व्यक्ति ललकार रहा था जिसने अपना तन, मन और धन मातृभाषा की उन्नति के लिए अर्पण कर दिया था। अतः मातृभाषा के प्रति उन्होंने अपना कर्तव्य निर्धारित कर लिया। द्विवेदी जी तो चाहते ही थे कि हिंदी-भाषा-भाषी दूसरी भाषाओं में पीछे लिखें, पहले अपनी मातृभाषा की यथोचित उन्नति कर लें। अतः उन्होंने इन लोगों का सहर्ष स्वागत किया। इनमें कुछ लेखक

तो उनके समकालीन थे; परंतु अधिकांश लेखक नवयुवक ही थे जिनमें वे उपाधियों या डिगरियों की ओर ध्यान न देकर प्रतिभा के कण ढूँढ़ा करते थे। सत्य ही वे प्रतिभा के उपासक थे; समर्थक थे। वे गुणग्राही थे और ऐसे पारखी जौहरी थे कि हीरे का उचित मूल्य देते थे, चाहे वह किसी निर्धन व्यक्ति के हाथ में ही क्यों न हो। परंतु कृत्रिमता की उन्हें परख थी और उसकी ओर से वे घृणा से दृष्टि फेर लिया करते थे।

लेखकों में से कई ऐसे भी थे जो विदेशी भाषाओं के पंडित थे। इनका ज्ञान स्वभावतः बहुत विस्तृत था। इनमें कई विद्वान् अँगरेजी के पत्रों में लेख लिखा करते थे। इन लेखों का विदेशों में भी बड़ा मान होता था। द्विवेदी जी ने सोचा कि यदि ऐसे विद्वान् हिंदी पर कृपा करने लगें तो उसका बेड़ा पार होने में विलंब न हो। फल-स्वरूप ऐसे विद्वानों को लिख-लिखकर और अनुनय विनय करके उन्हें हिंदी-भाषा में लिखने की प्रेरणा वे देने लगे। उन विद्वानों के हृदयों में हिंदी में लिखने की भी इच्छा थी, पर वे इसमें लिखते डरते थे। अँगरेजी और संस्कृत के महाविद्वान् महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा को उन्होंने हिंदी लिखने के लिए किस प्रकार प्रेरित किया, इसका वर्णन 'झा' महोदय के शब्दों में ही सुनिए—

'यहाँ (इलाहाबाद में) जब मैं म्योर सेंट्रल कालेज में काम करता था, एक दिन पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी अपनी लठिया टेकते हुए मेरे बँगले पर आये। यथोचित आदर-सम्मान के बाद उन्होंने मुझसे कहा—'झा जी, आप 'सरस्वती' में लेख क्यों नहीं लिखते?' मैंने कहा 'पंडित जी, मेरी मातृ-भाषा हिंदी नहीं है। संस्कृत और अँगरेजी में तो मुझे लिखने का अभ्यास है, लेकिन हिंदी में तो मैं कदाचित् लिख ही नहीं सकता। मैं घबराता हूँ कि हिंदी में व्याकरण की अनेक अशुद्धियाँ हो जायँगी।' द्विवेदी जी इसे गंभीर मौन के साथ सुनते रहे। फिर बोले—'आप लिखिए तो। आप पंडित हैं। आप जो लिखेंगे वह अच्छा ही होगा। अच्छा तो आप लेख भेज रहे हैं न?' यह कह कर द्विवेदी जी वहाँ से चले गये।

'इसके पश्चात् साहस करके मैंने 'सरस्वती' में एक लेख भेजा। और महीने के अंत में मेरे पास 'सरस्वती' आ पहुँची। मैंने जब ध्यान-पूर्वक उस लेख को पढ़ा तब मुझे विदित हुआ कि यद्यपि भाव सब मेरे ही हैं, किंतु भाषा में आमूल परिवर्तन कर दिया गया है।'

ऐसे लेखकों में श्रीयुत काशीप्रसाद जी जायसवाल का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। वे अपने लेख विलायत से भेजा करते थे। इनके बाद अँगरेजी के सुप्रसिद्ध लेखक और पत्रकार श्री संत निहालसिंह का नाम आता है। संत जी ने अमेरिका, चीन और जापान आदि देशों का भ्रमण कर ज्ञानोपार्जन किया था और इनके लेख 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित होते थे। द्विवेदी जी ने वे लेख पढ़े और बहुत पसंद किये; फिर सन् १९११ की फरवरी मास की 'सरस्वती' में उन्होंने संत जी का संक्षिप्त परिचय प्रकाशित किया और अंत में उनकी प्रशंसा करते हुए लिखा :—

'सेंट जी से एक उलाहना है। अँगरेजी न जाननेवाले अपने देशवासियों को अपनी बहुज्ञता से लाभ पहुँचाने का भी कभी उन्होंने खयाल किया है या नहीं! सबसे अधिक तो इसी की जरूरत है। वह क्या आपके अँगरेजी लेखों से हो सकता है? जिस योरप और अमेरिका से उन्होंने इतना ज्ञानार्जन किया है वे सब अपनी ही अपनी मातृभाषाओं में लिखते हैं। फिर क्यों न आप भी कभी-कभी देश-भाषा में कुछ लिखने की कृपा किया करें? अपनी माँ की बोली को—अपने देश की भाषा की सेवा करना भी तो मनुष्य का कर्तव्य है!'

इस उलाहने की दाद देकर सेंट जी ने कई लेख 'सरस्वती' में लिखे। इसी प्रकार रायसाहब छोटेलाल जी (बार्हस्पत्य) इंजीनियर के ज्योतिष-वेदांग पर बड़े महत्व के गवेषणापूर्ण लेख 'हिंदुस्तान-रिव्यू' नामक अँगरेजी पत्रों में प्रकाशित हुए थे। इन लेखों की विद्वानों ने बड़ी प्रशंसा की थी। द्विवेदी जी ने भी इन्हें पसंद किया। उन्होंने लेखक की प्रशंसा में संस्कृत में स्वयं एक पद बनाया। बार्हस्पत्य जी को आशीर्वाद भी दिया। बस, उसी दिन से द्विवेदी जी ने मानो उन्हें 'सरस्वती' के लिए मोल ले लिया। बार्हस्पत्य जी ने 'सरस्वती' में कई सुंदर और गवेषणापूर्ण लेख बड़े रोचक ढंग से लिखे। द्विवेदी जी का व्यवहार अपने इन सभी लेखकों के प्रति बड़ा सौजन्यपूर्ण रहता था। जो लोग द्विवेदी जी की संपादकीय टिप्पणियाँ पढ़कर अनुमान किया करते थे कि यह व्यक्ति अहंमन्यता से पूर्ण होगा, स्वयं वे ही द्विवेदी जी से व्यवहार या साक्षात्कार करके उनकी सहिष्णुता और सौजन्य पर मुग्ध हो जाते थे। पत्र का उत्तर और लेख की स्वीकृति वे तीसरे दिन अवश्य भेज दिया करते थे। यों तो वे सभी को उत्साहित किया करते थे, परंतु जिस व्यक्ति का लेख अस्वीकृत करके लौटाते थे उसके

साथ भी पत्र भेजते थे और उसमें एक-आध वाक्य ऐसा लिख दिया करते थे जिससे कि लेखक निरुत्साहित और अप्रसन्न न होकर प्रसन्न हो जाता था।

द्विवेदी जी अपने लेखकों से भली भाँति परिचित रहते थे। कौन मनुष्य किस विषय का अच्छा लेखक बन सकता है, इसकी उन्हें अनोखी परख थी। नये कवियों की कविता लौटाते समय वे उनके दोष स्पष्टतया लिख देते थे, जिससे उन्हें भविष्य में अपनी उन्नति करने का सहारा मिल जाता था। यही नहीं, वे कवियों को सामयिक रुचि के विषय भी बतलाते थे और उन पर कविताएँ लिखने के लिए उन्हें उत्साहित करते थे। पं० केशवप्रसाद मिश्र अपने विषय में एक ऐसे ही प्रसंग का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

यों ही दस वर्ष बीत गये। सन् १६१३ के दिसम्बर में आखिर हिम्मत कर ही तो डाली। 'सुदामा' पर एक लम्बी तुकबंदी लिखकर उत्साह से द्विवेदी जी के पास भेज दी और मान लिया कि अब पंच बराबर होने में बस सिर्फ एक ही महीने की देर है। 'सरस्वती' में मेरी कविता निकली कि मैं लेखकों में गिना गया।

लेकिन द्विवेदी जी ने तुकबंदी लौटा दी। लिखा कि इसमें ये दोष हैं, इन्हें दूर करके किसी और पत्रिका में प्रकाशित करा लो। मैंने ठीक करके उसे 'मर्यादा' में भेज दिया और वह यथासमय प्रकाशित भी हो गयी।

हाँ, द्विवेदी जी ने मुझे उसी पत्र में यह भी लिखा था कि 'वर्तमान दुर्भिक्ष' पर एक अच्छी कविता भेजो तो मैं 'सरस्वती' में प्रकाशित कर दूँगा। इससे मेरा उत्साह भंग नहीं हुआ, मेरी पहली कविता के लौट आने से उसे थोड़ी-बहुत ठेस भले ही लगी हो।

मैं रोम रोम से मा सरस्वती की वन्दना करने लगा। वरदे! शारदे! थोड़ी ही देर के लिए मुझ पर पसीज जा! मैं भी 'सरस्वती' का लेखक बन जाऊँ। मैंने तन-मन से दुर्भिक्ष पर कुछ पंक्तियाँ लिख डालीं। इनकी रचना में मुझे कुछ देर न लगी। फिर क्या था, तुरन्त ही द्विवेदी जी को भेज दीं। उन्होंने दाद दी और मैं उनकी दीक्षा से 'सरस्वती' का लेखक बन गया। थोड़े ही दिनों में द्विवेदी जी का यह पत्र आया कि सरदार शहर राजपूताना के एक सज्जन तुम्हारी कविता से प्रभावित होकर तुम्हें ही स्वतः दुर्भिक्ष-पीड़ित समझकर कुछ सहायता करना चाहते हैं। मैंने उन्हें सच्ची बात लिख दी है।

नये लेखकों को द्विवेदी जी विषय के साथ-साथ सहायक पुस्तकें भी बतलाया करते थे। कभी-कभी तो स्वयं ही पुस्तकें पास से या मोल लेकर दे दिया करते थे। हिंदी के प्रसिद्ध कहानी-लेखक श्रीयुत विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक ने अपने संबंध में द्विवेदी जी के प्रोत्साहन का इस प्रकार वर्णन किया है—

मैं एक बार उनके दर्शन को जुही पहुँचा। कुछ बातचीत हो चुकने के बाद द्विवेदी जी ने प्रश्न किया क्या पढ़ते हैं ?

इस बार साहस करके मैंने कह दिया अधिकतर तो उपन्यास और गल्पें ही पढ़ी हैं।

अच्छा, कौन-कौन उपन्यास पढ़े हैं ?

मैंने अँगरेजी, हिंदी, बँगला तथा उर्दू के कुछ प्रसिद्ध उपन्यासों के नाम बताये।

उपन्यास तो खूब पढ़े हैं।

हाँ, और लिखने की रुचि भी कुछ इसी ओर है।

बड़ी अच्छी बात है। छोटी-छोटी कहानियाँ और गल्पें तो पढ़ी ही होंगी—वैसी ही लिखा कीजिए।

देखिए, प्रयत्न करूँगा।

द्विवेदी जी सिर झुकाकर मस्तक पर हाथ फेरने लगे। कुछ क्षणों के पश्चात् बगल से पानों की डिबिया उठाकर उसमें से दो पान निकाले और मुझे दिये। इसके पश्चात् बोले—मैं एक मिनट में आता हूँ। यह कहकर उठे और कमरे के अन्दर चले गये। लौटकर एक पुस्तक हाथ में लिये हुए आये। चारपाई पर बैठकर बोले बँगला तो आप जानते ही हैं—रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गल्पें पढ़ी होंगी—उन्हीं की गल्पों का यह संग्रह है। इसमें से कोई एक गल्प जिसे आप अच्छी समझें, हिंदी में अनुवाद करके मुझे दें मैं उसे छापूँगा। लेकिन इतना ध्यान रखिएगा कि न तो पुस्तक में कहीं कलम या पेंसिल का निशान लगाइएगा, न स्याही के धब्बे पड़ने दीजिएगा, न पृष्ठ मोड़िएगा।

इसी संबंध में पंडित रामनारायण मिश्र अपना अनुभव इस प्रकार लिखते हैं—

जब मैं स्कूलों का डिप्टी हुआ तब एक बार द्विवेदी जी का मेरे पास पत्र आया कि शिक्षा-विभाग की उस वर्ष की रिपोर्ट पर एक लेख लिख दो। मैं आश्चर्य से चकित हो गया। मुझे स्वप्न में भी यह ख्याल न था कि द्विवेदी जी

स्वयं मुझे 'सरस्वती' में लेख लिखने के लिए लिखेंगे। अस्तु, मैं सोच ही रहा था कि क्या लिखूँ कि मेरे पास इंडियन प्रेस से उक्त रिपोर्ट की एक प्रति डाक द्वारा पहुँच गयी। मैं समझ गया कि द्विवेदी जी ही ने उसे भेजवाया होगा। मैंने लेख भेजा और वह छप भी गया। मेरा उत्साह बढ़ गया और मैंने सरस्वती' में लिखना शुरू कर दिया। मेरे अनुकूल विषय वे बतलाते थे और तकाजा करते रहते थे। 'कैदी बालकों के स्कूल', 'संयुक्तप्रान्त में स्त्री-शिक्षा' 'प्रारम्भिक-शिक्षा', 'डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और शिक्षा', 'भारतीय शासन प्रणाली' इत्यादि विषयों पर इन्हीं की प्रेरणा से समय-समय पर मैंने लेख भेजे थे।

जिन लेखों को वे प्रकाशित करते थे, प्रायः उन सभी पर पुरस्कार दिया करते थे। और उसके लिए भी लेखकों को बार-बार लिखने की आवश्यकता नहीं होती थी; पत्रिका प्रकाशित हुई और उन्होंने पुरस्कार का मनीआर्डर कराना शुरू किया।

वे अपने नये लेखकों को प्रोत्साहित करने के लिए ऐसे लेखों पर भी पुरस्कार दे देते थे जिनका अधिकांश द्विवेदी जी स्वयं लिखते थे। पंडित लक्ष्मीधर बाजपेयी एक ऐसे ही अपने लेख के संबंध में लिखते हैं- मेरे बारे में द्विवेदी जी का ख्याल बँध गया कि मैं महाराष्ट्र में रहता हूँ, अतः नाना फड़नवीस के संबंध में 'सरस्वती' में एक अच्छा लेख दे सकता हूँ। इसके लिए उन्होंने आज्ञा दी। मैंने इस संबंध में अनेक पुस्तकें एकत्र करके लेख तैयार किया। अनुभव कम था और मसाला अधिक, अतः लेख पूरे ४०. पृष्ठ का तैयार हुआ। मैंने यह उनके पास दिया। लौटती डाक से उन्होंने पत्र लिखा कि 'सरस्वती' के लिए लेख लिखा है या पोथा? खैर, इसे छापूँगा।

समय पर 'सरस्वती' आई और मैंने आश्चर्य और उत्सुकता पूर्वक देखा कि नाना फड़नवीस का मेरा ४० पृष्ठ में लिखा लेख छपा हुआ है। लेख का सार तथा सिलसिला इतना उत्तम बँधा हुआ कि कहीं विशृंखल मालूम ही नहीं होता। इतना ही नहीं, बल्कि लेख मेरे नाम से छपा हुआ है और दो रुपये पेज के हिसाब से १६) का मनीआर्डर भी पुरस्कार में मेरे पास एक हफ्ते के अन्दर ही—आप ही आप—आ गया! मैं तो भौचक्का रह गया कि यह कैसा महान् पत्रकार है जो अपने छोटे-छोटे कृपापात्र लेखकों के प्रति इतना सजग रहता है!

वे यह भी चाहते थे कि उनके लेखक उन्हीं की भाँति सदैव लिखा करें। हर महीने वे उन्हें पत्र भेज कर याद दिला दिया करते थे। पंडित रूपनारायण जी

पांडेय (माधुरी-संपादक) ने मुझसे कई बार यह बात कही है कि प्रतिमास द्विवेदी जी कविता भेजने के लिए उन्हें तीन-चार पत्र डाला करते थे। इसी प्रकार जो महाशय बहुत दिन तक 'सरस्वती' में कुछ न लिखते, उनसे वे जवाब भी तलब किया करते थे। बेचारा समय न मिलने का बहाना करता। परंतु द्विवेदी जी इससे संतुष्ट न होते और उत्तर देते—'जी नहीं, यह सब बहाना है। तुम दृढ़ निश्चयी नहीं, समय मिलना न मिलना अपने हाथ में है। चाहो तो समय निकाल सकते हो।' बहुत से नवयुवक लेखक और कवि उनके दर्शनों को जाया करते थे। उनसे मिलने पर द्विवेदी जी बड़ी प्रसन्नता और सहानुभूति प्रकट करते थे। फिर उन्हें उत्साहित करते हुए कहते थे—'तुम्हारे लेखों और पत्रों से तो यह मालूम पड़ता है कि पुराने लेखक हो, परंतु अवस्था से तो अभी नवयुवक हो'। लेखक चाहे जो कुछ उत्तर दे, परंतु उसका हृदय प्रसन्नता से फूल जाता था और वह मन में सोचने लगता था कि द्विवेदी जी की लेखनी भी तो धोखा देती है। उनके लेख देखकर कौन व्यक्ति कह सकता है कि ये उन्निद्र रोग से पीड़ित और पारिवारिक बाधाओं से व्यथित हृदय के उद्गार हैं। कुछ नवयुवक लेखक उनके पास सिफारिशें लेकर पहुँचते थे। द्विवेदी जी को उनसे बड़ी चिढ़ थी। वे प्रतिभा और चाव चाहते थे। जिस नवयुवक लेखक में वे सच्ची लगन, विस्तृत अध्ययन, सुंदर शैली और सज्जनोचित संकोच देखते थे, उसका आधुनिक संपादकों की भाँति मजाक न उड़ाकर वे उसे उत्साहित करते थे। यदि उसमें दोष होते तो वे उसे गुरुवत् स्नेह और सहानुभूति के साथ समझाते थे। प्रायः ऐसे लेख उनके पास आते थे जिनमें काट-छाँट के बाद केवल लेखक का नाम रह जाता था, पर नये लेखकों को उत्साहित करने के लिए द्विवेदी जी प्रायः उनके लेख स्वयं फिर से लिखकर उन्हीं के नाम से छाप दिया करते थे। यों उन्होंने बहुत से लेखकों को कलम पकड़ना सिखाया।

हिंदी-भाषा में शैली की अस्थिरता और व्याकरण-संबंधी अशुद्धि द्विवेदी जी को बहुत खटकती थी। 'सरस्वती' का संपादन हाथ में लेते ही उन्होंने इसकी ओर पूरा ध्यान देना आरंभ किया। 'सरस्वती' में उन्होंने प्रमुख साहित्य-सेवियों के व्याकरण-संबंधी दोष दिखाये और उन्हें शुद्ध किया तथा अनेक लेखकों के प्रकाशनार्थ आये हुए लेखों को भी व्याकरण-विषयक दोषों के कारण ही 'सरस्वती' में स्थान न दिया और यदि प्रकाशित भी किया तो उन दोषों को सुधार कर। इसलिए बहुत से लेखक झुँझला उठे और विद्वानों में वाद-विवाद

भी छिड़ गया। पर द्विवेदी जी ने इसकी चिंता न की और अपने सिद्धांत पर डटे रहे। उन्हें वर्ग-विशेष अथवा लेखक-विशेष से किसी प्रकार का द्वेष तो था ही नहीं, अतः उन्होंने भाषा और व्याकरण के नियमों की अस्थिरता-संबंधी अपने विचार 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक लेख में स्पष्ट कर दिये। यह लेख 'सरस्वती' के छठे भाग के ग्यारहवें अंक में प्रकाशित हुआ था। इसमें उन्होंने अनेक प्रसिद्ध लेखकों के उदाहरण देकर अपने कथन की पुष्टि की थी।

सचमुच यह लेख बड़ी योग्यता से लिखा गया था; फिर भी लोग द्विवेदी जी के विरुद्ध हो गये और इसी लेख में त्रुटियाँ दिखाकर उनकी हँसी उड़ाने की चेष्टा करने लगे। बाबू बालमुकुंद गुप्त तो और भी आगे बढ़े। उन्होंने 'आत्माराम' के कल्पित नाम से 'अनस्थिरता' शब्द की हँसी उड़ाते हुए एक लेख-माला ही निकाल दी। यह 'भारत-मित्र' में प्रकाशित हुई। इस लेख-माला का कुछ अंश भद्दे विनोद का नमूना था। भाषा इसकी बड़ी ही उग्र थी। बात यह थी कि द्विवेदी जी ने अपने लेख में गुप्त जी के बँगला-अनुवाद का एक अवतरण देकर उसमें अनुवाद के दोष दिखलाये थे। बस, गुप्त जी आपे से बाहर होकर द्विवेदी जी पर वाग्बाण बरसाने लगे। 'हम पंचन के ट्वाला माँ' जैसे बैसवाड़ी के वाक्यों का प्रयोग करके गुप्त जी ने द्विवेदी जी का उस लेख-माला में गहरा उपहास किया। इस लेखमाला में सहृदयता, सौजन्य और शिष्टता तक का ध्यान नहीं रक्खा गया। इस पर द्विवेदी जी बड़े क्षुब्ध हुए। 'कल्लू अल्हइत' के कल्पित नाम से उन्होंने 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं' शीर्षक आल्हा छंद में एक भड़ौवा लिखकर गुप्त जी के भद्दे विनोद का तादृश ही उत्तर दिया। गुप्त जी ने इस पर अपनी राय देते हुए लिखा—

'भाई वाह! कल्लू अल्हइत का आल्हा खूब हुआ। क्यों न हो, अपनी स्वाभाविक बोली में है न'।

द्विवेदी जी का यह आल्हा जनवरी १९०६ की 'सरस्वती' में (भाग १, संख्या १, पृष्ठ ६८) प्रकाशित हुआ। दूसरे ही महीने में उन्होंने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक एक लेख लिखा, जो फरवरी १९०६ की 'सरस्वती' में (भाग १, संख्या २, पृष्ठ ६०) प्रकाशित हुआ। इस लेख में द्विवेदी जी ने गुप्त जी की युक्तियों का बड़े सुंदर ढंग से व्यंग्य की पुट देते हुए खंडन किया। परिणाम-स्वरूप हिंदी के तत्कालीन सभी धुरंधर विद्वान् द्विवेदी जी के पक्ष में हो गये। हिंदी-संसार में हलचल मच गयी। द्विवेदी जी के पक्षपातियों ने गुप्त जी को

मुँहतोड़ जवाब दिया। इन व्यक्तियों में पंडित गोविंदनारायण मिश्र का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने गुप्त जी के प्रतिवाद का खंडन करते हुए 'आत्माराम की टें टें' शीर्षक एक लेखमाला लिखी। इसकी भाषा यद्यपि बड़ी कटु और उग्र थी—ईंट का जवाब पत्थर से दिया गया था—तथापि शैली की गंभीरता और पंडित जी की योग्यता ने बहुतों को द्विवेदी जी के पक्ष में कर दिया। यह लेख-माला 'हिंदी-बंगवासी' में प्रकाशित हुई थी। क्रमशः 'श्रीवेंकटेश्वर-समाचार', 'सुदर्शन' आदि पत्र भी मैदान में उतर आये।

द्विवेदी जी के व्याकरण और भाषा की शुद्धता-संबंधी इस प्रकार के आंदोलनों का एक सुपरिणाम यह हुआ कि अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भी भाषा और व्याकरण की शुद्धता-विषयक चर्चा होने लगी और शीघ्र ही एक दूसरा विवाद छिड़ गया। वह यह था कि हिंदी में विभक्ति सटाकर लिखना चाहिए या हटाकर। यह बात सन् १६०६ की है। विद्यादिग्गज, 'हिंदी-गद्य के बाणभट्ट' पंडित गोविंदनारायण मिश्र इस आंदोलन के अग्रणी थे। सटाऊ और हटाऊ सिद्धांत के इस विवाद में बम्बई के 'श्रीवेंकटेश्वर-समाचार,' प्रयाग के 'अभ्युदय', बनारस के 'भारतजीवन', कलकत्ते के 'भारतमित्र' और 'हितवार्त्ता' आदि पत्रों ने पूर्ववत् भाग लिया और खंडन-मंडन के अनेक लेखक प्रकाशित हुए। 'हितवार्त्ता' में अधिकांश लेख पंडित अंबिकाप्रसाद बाजपेयी के थे। उन्होंने लाला भगवानदीन, पंडित रामचंद्र शुक्ल और बाबू भगवानदास हालना के विचारों का खंडन किया। ये तीनों विद्वान् विभक्तियों को अलग लिखने के पक्ष में थे। इसके विपरीत, पंडित गोविंदनारायण मिश्र, पं० अमृतलाल चक्रवर्ती, पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी आदि विभक्ति मिलाकर लिखने के पक्ष में थे। चक्रवर्ती जी 'भारतमित्र' के संपादक थे, उन्होंने कई संपादकीय नोट लिखकर अपने विचार प्रकट किये। ये महाशय तो विभक्ति-सम्मेलन तक करने के पक्ष में थे। अपने कथन की पुष्टि में इन्होंने स्वर्गीय अंबिकादत्त व्यास के लिखे हुए एक पोस्टकार्ड का ब्लाक भी प्रकाशित किया, जिसमें विभक्ति सटाकर लिखी गयी थी। यह ब्लाक १६०६ के अगस्त मास के 'भारतमित्र' में छपा था। ३१ अगस्त के अंक में साहित्योपाध्याय बदरीनाथ शर्मा ने, जो मिर्जापुर के निवासी थे, इस कार्ड का खंडन करते हुए अपना लेख लिखा। विपक्षियों में पंडित रामचंद्र शुक्ल का लेख बड़ा सुंदर था। यह लेख 'अभ्युदय' के १६०६ के २३ और ३० जुलाई तथा ६ अगस्त के अंकों में प्रकाशित हुआ था। फिर १०, ११, २४ सितम्बर के अंकों में भी इन्हीं विचारों का समर्थन करते हुए शुक्ल जी ने नोट लिखे थे।

प्रायः ये सभी लेख पंडित गोविंदनारायण मिश्र के विचारों को काटते थे। मिश्र जी ही इस आंदोलन के नायक और सटाऊ सिद्धांत के पक्षपाती थे। उन्होंने 'विभक्ति-विचार' नाम की एक छोटी-सी पुस्तक ही इस विषय पर लिख डाली थी। इसमें इन्होंने हिंदी की विभक्तियों को शुद्ध विभक्तियाँ सिद्ध किया और यह सलाह दी कि इन्हें शब्दों से मिलाकर लिखना ही उचित होगा। इनके विचारों का खंडन करते हुए पंडित रामचंद्र शुक्ल और बाबू भगवानदास हालना ने लेख लिखे थे।

द्विवेदी जी, एक प्रकार से इस वादविवाद से अलग ही रहे। यह बात वास्तव में बड़े आश्चर्य की है कि उन्होंने इस आंदोलन में भाग क्यों नहीं लिया। शायद उन्होंने इसकी विशेष आवश्यकता नहीं समझी ; क्योंकि उन्हीं के पक्ष के विद्वानों की ही, अंत में, विजय रही। वे स्वयं विभक्ति को अलग लिखने के पक्ष में थे। और उनके पक्ष की विजय का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि कलकत्ते और बम्बई की कुछ पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं को छोड़कर प्रायः सभी जगह विभक्ति अलग-ही लिखी जाती है।

व्याकरण की शुद्धता के लिए द्विवेदी जी एक और महत्वपूर्ण कार्य कर रहे थे। वह था 'सरस्वती' में समालोचनार्थ आयी हुई पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं के भाषा-व्याकरण-संबंधी दोष दिखाना। यह कार्य बड़े साहस का था, इसमें कोई संदेह नहीं ; पर 'सरस्वती' का संपादन-कार्य हाथ में लेने के समय से ही वे इस ओर प्रयत्नशील हुए थे और उनका यह दोष-प्रदर्शन-कार्य दिन-दिन बढ़ता ही गया। साधारण-लेखकों की भूलों की ओर वे प्रायः विशेष ध्यान नहीं देते थे ; पर जिन व्यक्तियों को 'साहित्यिक' कहलाने और साहित्य-सेवा करने का दावा था वे यदि कोई भूल करते थे तो द्विवेदी जी को हार्दिक दुःख होता था और उनकी पुस्तकों की वे प्रायः तीव्र आलोचना करते थे। ऐसी अनेक आलोचनाएँ 'सरस्वती' के प्रायः प्रत्येक अंक में निकलती थीं। इसका एक सुंदर उदाहरण-मिश्रबंधुओं के 'हिंदी-नवरत्न' की आलोचना है। हिंदी-साहित्य की, एक प्रकार से, यही पहली समालोचनात्मक पुस्तक थी, जिसमें खोज, अध्यवसाय और लगन की झलक मिलती है। इसको स्वयं द्विवेदी जी ने भी स्वीकार किया है। इसकी आलोचना 'सरस्वती' (भाग १, संख्या ३) में छपी थी। इसमें भाषा के दोष दिखाते हुए द्विवेदी जी ने लिखा था—

'भाषा इसकी परिमार्जित नहीं है। अनेक स्थलों की रचना व्याकरण-च्युत

भी है। संभव है, तीन आदमियों की शिरकत इसकी भाषा के अधिकांश दोषों का कारण हो। अच्छे लेखक की भाषा जैसी होनी चाहिए वैसी भाषा इस पुस्तक की नहीं। दो-चार उदाहरण लीजिए:—

(१) हिंदी-कविता के समान संसार में किसी भाषा की रचना ऐसी सौष्ठव और श्रुति-मधुर नहीं है भूमिका, पृष्ठ ३०। किसी भाषा की रचना ऐसी सौष्ठव..........नहीं है – यह बिल्कुल ही अशुद्ध है। 'सौष्ठव' की जगह 'सुष्ठु' चाहिए। इसके सिवा सारे संसार की भाषाओं के विषय में वही मनुष्य कुछ कह सकता है जो उन सबको जानता है। क्या लेखक उन सबको जानने का दावा कर सकते हैं?

(२) हमने उनका वर्णन थोड़े में 'स्थाली पुलाक न्याय' दिखा दिया है —पृष्ठ २१५। दूषित भाषा का यह बहुत बुरा उदाहरण है। इस विषय के अधिक उदाहरण देकर हम लेख नहीं बढ़ाना चाहते। इतने ही उदाहरण देखकर 'स्थाली पुलाक न्याय' से पाठक समझ सकेंगे कि इसकी भाषा सदोष है या निर्दोष और यदि सदोष है तो कितनी।

इसी प्रकार अनेक स्थलों के दोष दिखाने के पश्चात् 'वाक्य और वाक्यांश-दोष', 'शब्द-दोष', 'फुटकर-दोष' पर प्रकाश डालते हुए द्विवेदी जी ने लिखा—

'ब' और 'व' की तो बड़ी ही दुर्दशा हुई है। 'व्रजभाषा', 'वल्लभाचार्य', 'विरह', 'विषय', 'विधि', 'वियोग' आदि हजारों शब्द इसमें ऐसे हैं जिनमें 'व' के बदले 'ब' का प्रयोग हुआ है। लेखक महोदयों ने स्वयं अपने नामों के 'विहारी' शब्दों में भी 'ब' का प्रयोग किया है। हाँ, जिल्द के ऊपर जो नाम छपे हैं उनमें 'व' अवश्य है। पर वह शायद प्रेसवालों की कृपा का फल है।

इसी प्रकार द्विवेदी जी ने अन्य लेखकों की व्याकरण-संबंधी भूलें दिखायीं। पंडित केशवराम भट्ट ने 'हिंदी-व्याकरण' नाम की एक पुस्तक लिखी। भट्ट जी 'विहार-बंधु' के संपादक थे। द्विवेदी जी ने इस पुस्तक की आलोचना की, जो 'पुस्तक-परीक्षा' स्तंभ के अंतर्गत 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। पुस्तक के वाक्य देकर द्विवेदी जी ने अपनी क्या सम्मति दी, देखिए—

द्विवेदी जी– आप 'चाहिये' को 'चाहिए' क्यों नहीं लिखते?

'इये' प्रत्यय की जगह 'इए' क्यों न हो? स्वर प्रधान है; व्यंजन अप्रधान। जहाँ तक स्वरों से काम निकले वहाँ तक व्यंजनों के प्रयोग की क्या आवश्यकता? अकेले 'ए' का जैसा उच्चारण होता है, वैसे ही 'ये—ए' का होता है। फिर

द्राविड़ी प्राणायाम क्यों ? यदि कोई यह कहे कि 'इण्' करने से संधि हो जायगी, तो ठीक नहीं। हिंदी में इस प्रकार की संधि नित्य मानने से बड़ा गड़बड़ होगा। 'आईन' इत्यादि शब्द फिर लिखे ही न जा सकेंगे। हाँ, 'आयीन' चाहे कोई भले ही लिखे।

हिंदी-व्याकरण परंतु जब कोई किसी विषय को लिखने बैठ ा है तो उसके सामने बहुत से ऐसे-ऐसे भाव भी आ खड़े होते हैं।

द्विवेदी जी इस वाक्य में 'तो' की जगह 'तब' होता तो ठीक होता। 'जब' के साथ 'तब' का ही प्रयोग उचित जान पड़ता है।

हिंदी-व्याकरण फिर 'या' का अक्षय भंडार रहते इसे किसी दूसरे का ऋणी होने देना अच्छा नहीं।

द्विवेदी जी 'अक्षय' यहाँ पर भंडार का विशेषण है ; अतएव वह 'अक्षय्य' क्यों नहीं ?

इसी प्रकार जब पंडित श्याम जी शर्मा ने 'हिंदी-शिक्षक' व्याकरण नाम की पुस्तक में लिखा—

'तू' का संप्रदान में 'तुम्हारे लिए' और संबंध में 'तुम्हारा', 'तुम्हरे' और 'तुम्हारी' हो जाती है।

तब द्विवेदी जी ने अपना नोट दिया कि यहाँ पर 'तेरे लिए' और 'तेरा, तेरे, तेरी' क्यों न हो ? इसके सिवा 'हो जाती है' क्यों ? 'हो जाता है' या 'हो जाते हैं' क्यों न होना चाहिए ?—सरस्वती (११-६-४३०)।

एक अंक में 'संस्कृत-प्रवेशिनी' (संपादक, काव्यतीर्थ श्रीलाल जैन) पर नोट देते हुए द्विवेदी जी ने लिखा—

'इसके लेखक व्याकरण-शास्त्री हैं। आशा है, आप व्याकरण का महत्व खूब जानते होंगे। वे यह भी जानते होंगे कि व्याकरण की सत्ता सभी भाषाओं पर है। हिंदी भी एक भाषा है। अतएव वह भी अपने व्याकरण के नियमों के अधीन है। पर इस नियमन की याद आप शायद भूल गये हों। आपका एक वाक्य है 'दूसरे भाग में शेष कुल विभक्ति और धातुओं के रूप प्रयोग सहित बतलाए गए हैं'। इस वाक्य में पहले तो 'विभक्ति' लिखना, फिर उसे एक वचन में रखना औरों को न खटके तो न खटके, व्याकरण-शास्त्रियों को तो अवश्य ही खटकना चाहिए'—सरस्वती (११-४-२७७)।

ऐसे संशोधनों से लेखकों का बड़ा उपकार होता था। बहुत से लोग उनकी इन बातों को सहर्ष ग्रहण भी कर लेते थे। एक स्कूल में एक बार पंडित जी इमला बोल रहे थे। एक लड़के ने 'लिये' लिखा। पंडित जी ने इस पर कहा—'लिये' को 'लिए' लिखा करो। 'सरस्वती'-संपादक भी 'लिए' ही चाहते हैं। बात यह थी कि एक महाशय ने 'इसीलिये' लिखा था। द्विवेदी जी की निगाह उस पर पड़ गयी। उन्होंने अपने नोट में लिखा—

'इसीलिये' क्यों ? 'इसीलिए' क्यों नहीं ? जब स्वर से काम न चले तब व्यंजन का प्रयोग कीजिए। यहाँ पर 'लिये' लिया का बहुवचन नहीं है; किंतु 'इसीलिये' अव्यय का उत्तरांग है; अतएव हम इसीलिये की जगह 'इसीलिए' लिखना ठीक समझते हैं'।

इसी प्रकार विराम-चिह्नों के प्रयोग की ओर भी जनता का ध्यान उन्होंने आकर्षित किया। हिंदी-भाषा में, आरंभ में, पंडित प्रतापनारायण मिश्र और उनके समकालीन कुछ लेखक विराम-चिह्नों का बहुत ही कम प्रयोग करते थे। कविता में इन चिह्नों का न होना उतना नहीं खटकता, जितना गद्य में; लच्छेदार लंबे-लंबे वाक्यों को समझने के लिए इनका होना बहुत जरूरी है। द्विवेदी जी ने पूर्ण विराम, अल्प विराम आदि का स्वयं प्रयोग किया और दूसरों के ऐसा न करने पर उनकी आलोचना की। उनका विचार था कि विराम-चिह्नों का प्रयोग न करके 'और' आदि जोड़ देने से वाक्य बढ़ जाता है और उसमें शिथिलता आ जाती है। 'हिंदी-नवरत्न' की आलोचना में एक स्थान पर विराम-चिह्न-संबंधी दोष भी दिखाये गये हैं। वह वाक्य यह है—

'कहते हैं कि गोस्वामी जी ने पहले सीय-स्वयंवर और अयोध्याकांड की कथा बनायी थी और इतना बन जाने पर उन्हें समग्र रामायण बनाने की लालसा हुई और तब उन्होंने शेष ग्रंथ भी बनाया—पृष्ठ ४०।

इस प्रकार के लंबे-लंबे वाक्यों से द्विवेदी जी को बहुत चिढ़ थी। इस वाक्य पर उन्होंने अपना नोट यों दिया था—

'इसमें पिछले दो 'और' आ जाने से बेतरह शिथिलता आ गयी है। उन्हें निकालकर उनकी जगह एक-एक पाई (फुलस्टाप) रख देने से यह दोष दूर हो जाता'।

प्रेमचंद्जी के उपन्यासों की प्रमुख समस्याएँ

सामयिक विषयों को लेकर उपन्यास लिखने से साहित्य-रचना के साथ-साथ उन समस्याओं के विषय में लेखक को अपने विचार प्रकट करने का भी अवसर मिल जाता है। जनता में इनका जो सम्मान होता है, उसके भी दो कारण हैं। एक तो प्रचलित विषयों की ओर उसका ध्यान सहज ही आकर्षित हो जाता है, और दूसरे उनके संबंध में एक योग्य लेखक के विचार मालूम होते हैं जिससे अपना मत निर्धारित करने में उसे सहायता मिलती है। इन उद्देश्यों की पूर्ति तभी होती है जब सामयिक विषयों को ऐसे प्रासंगिक रूप से अपनाया जाय कि पाठकों का ध्यान मूल कथानक की ओर से विचलित न हो। यह कार्य सरल नहीं है, और लेखक के जरा-सा चूकने पर अर्थ का अनर्थ होने की संभावना रहती है। हर्ष की बात है कि प्रेमचन्दजी ने अपने उपन्यासों में इस बात का उचित ध्यान रखा है। सामयिक समस्याओं पर उन्होंने कभी कथोपकथन द्वारा और कभी सीधी-सादी या हास्य और व्यंग्यपूर्ण शैली में इस ढंग से विचार किया है कि पाठकों का जी नहीं ऊबता। हो सकता है कि दो-एक स्थल, अपवाद-स्वरूप भी हों, पर उनका एक विशेष कारण—विवशता—है जिसकी विवेचना यहाँ अनावश्यक है।

प्रेमचंद जी का सबसे पहला उपन्यास 'सेवासदन' था। इसकी समस्या मुख्यतः सामाजिक है। स्थान-स्थान पर कुछ तो विषय की असंबद्धता और कुछ उद्देश्य की अस्पष्टता के कारण धर्म की विवाद-ग्रस्त बातों—धर्म के ठेकेदारों के पाखंड, धर्म में फैली हुई कुरीतियों, धर्म के नाम पर किया जानेवाला अत्याचार आदि—पर भी विचारपूर्ण ढंग से प्रकाश डाला गया है। बस, 'सेवासदन' में तत्कालीन सामयिक समस्याओं में सामाजिक और धार्मिक, इन्हीं दो को मुख्यतः अपनाया गया है। एक-दो स्थानों पर भाषा, साहित्य, शिक्षा आदि

की तत्कालीन दशा के विषय में भी संकेत किया गया है; पर वह बहुत कुछ चलताऊ ही है। उसे हम मुख्य या प्रासंगिक विषय से संबद्ध या उसके अंतर्गत नहीं मान सकते।

सन् १९१४ के यूरोपीय महासमर के साथ भारत में भी स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए जोर-शोर से प्रयत्न किया जाने लगा। साधारण जनता ने इस राजनीतिक आंदोलन को उतने महत्व की दृष्टि से नहीं देखा जितना इससे संबंध रखनेवाली कृषक और ग्राम-समस्या के आंदोलन को। मूलतः दोनों आंदोलनों का लक्ष्य एक ही उद्देश्य की पूर्ति मानाजा सकता है। किसानों की दशा सुधरने पर ही वे हमारे साथ रह सकते थे और तभी स्वतंत्रता-प्राप्ति-संबंधी उद्योग में उनकी सम्मिलित शक्ति से—यह बात अत्यंत संक्षेप में, बिना किसी प्रकार की व्याख्या के ही कही जा रही है—हमें अपने प्रयत्न में सफलता मिल सकती थी। प्रथम राजनीतिक आंदोलन के लिए देश के विशेष रूप से तैयार होने की आवश्यकता थी और दूसरी ओर जनता से पूर्ण सहयोग की पूरी आशा। महात्मा गांधी ने आरंभ में किसानों की दशा सुधारने की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया, उसका मुख्य कारण यही जान पड़ता है। 'प्रेमाश्रम' की रचना के समय तक महात्मा गाँधी का यह आंदोलन आरंभ हो चुका था, उसकी ख्याति हो चुकी थी और लोग उसकी ओर ध्यान भी देने लगे थे। अतः जब प्रेमचंद जी को अपने पाठकों के सामने—उन्हीं पाठकों के सामने जो अँग्रेजी और बँगला के उपन्यासों की प्रशंसा करते न थकते थे; परंतु अपनी संकुचित दृष्टि और ईर्ष्यालु प्रकृति के कारण 'सेवासदन' की प्रशंसा करते हुए भी उसकी श्रेष्ठता स्वीकार करने में हिचकते थे—किसी ऐसी चीज के रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई जो उनका ध्यान आकृष्ट कर सके, जिसका वे सम्मान कर सकें और जिसे खरीदने के लिए वे सहर्ष पैसा खर्च करने को भी तैयार हो जायँ, तब उन्होंने उस 'प्रेमाश्रम' की रचना की जिसका मुख्य विषय तत्कालीन राजनीतिक समस्या से सम्बद्ध होता हुआ भी सर्वथा स्वतंत्र है; सामयिक होते हुए भी भारत-जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए सर्वकालीन है। उपन्यास-कला की दृष्टि से यदि हम 'प्रेमाश्रम' की आलोचना करके उसका यथार्थ महत्व और उचित मूल्य निर्धारित करने का प्रयत्न न भी करें अथवा इस दृष्टिकोण से हिंदी के उपन्यासों में उसका निर्दिष्ट स्थान हम स्वीकार ही न करें, तब भी उसका पठन-पाठन कम नहीं हो सकता। इसका एकमात्र कारण है उपन्यास का मुख्य विषय, उसमें वर्णित ग्राम-समस्या, जिसके तत्कालीन प्रवर्त्तक

थे महात्मा गाँधी। 'प्रेमाश्रम' जिस समय प्रकाशित हुआ था, उस समय कुछ आलोचकों ने दबी जबान से यह कहने का साहस किया था कि उसके मुख्य पात्र प्रेमशंकर के, इस समस्या से संबंध रखनेवाले विचारों पर महात्मा गाँधी के विचारों और नवीन आदर्शों की स्पष्ट छाप है। हम भी इससे सहमत हैं। बीच-बीच में, प्रसंगानुसार, शासन-प्रबंध और डाक्टरी, वकालत आदि व्यवसायों तथा यतीमखानों की वास्तविक स्थिति के संबंध में जो सुधारात्मक विचार प्रेमशंकर अथवा उनके मित्रों के मुख से कहलाये गये हैं, उन्हें हम प्रेमचंद जी के निजी विचारों का विवेचनात्मक प्रकटीकरण कह सकते हैं। कुछ सामाजिक और धार्मिक प्रसंगों का भी 'प्रेमाश्रम' के मूल और प्रधान विषय से संबंध था। 'सेवासदन' की उक्त समस्याओं को भी परिशिष्ट के रूप में 'प्रेमाश्रम' में गौण स्थान मिला है।

अब 'रंगभूमि' को लीजिए। 'प्रेमाश्रम' में ग्राम-समस्या के जिस पहलू का आकर्षक चित्र खींचा गया है, वह प्रारंभिक ही है। किसानों की तत्कालीन दीन दशा, उन पर होनेवाले अत्याचार और उसके कारण, अत्यंत संक्षेप में, केवल इन्हीं के विषय में प्रेमचंद जी ने अपने विचार रोचक ढंग से व्यक्त किये हैं। यह विषय नया नहीं था; कई सौ वर्षों से भारतीय किसानों की ऐसी ही दशा रही थी। उपन्यास का महत्त्व इस बात में है कि उसमें आवश्यक बातों को एकत्र करके, सुधार-संबंधी उपायों की ओर कलात्मक ढंग से संकेत किया गया है। ये उपाय विशेषतः पुराने ढंग के हैं और इनमें मुख्यतः जमींदारों को अपना नैतिक जीवन और आचरण सुधारने की आवश्यकता बतायी गयी है। वैज्ञानिक उन्नति के वर्तमान युग में ये सुधार-प्रस्ताव आवश्यक होते हुए भी अपूर्ण हैं। अतः 'रंगभूमि' में प्रेमचंद जी ने ग्राम-समस्या के उस पहलू की रोचक व्याख्या की, जिसमें कृषि-संबंधी सुधार की ओर विशेष ध्यान न देकर औद्योगिक धंधों की उन्नति करने के लिए देश में कल-कारखानों की आवश्यकता बतायी गयी। हो सकता है कि उन पाश्चात्य शीत-प्रधान देशों अथवा पहाड़ी स्थानों में इनसे लाभ हुआ हो जहाँ अनेक वैज्ञानिक आविष्कार हो चुके हैं, जहाँ खाद्य पदार्थों की उपज संतोषजनक नहीं होती; परंतु भारत के लिए यह बात ठीक नहीं। यहाँ के तो अधिकांश निवासियों का मुख्य उद्यम खेती ही है। यही कारण है कि 'रंगभूमि' में प्रेमचंदजी ने भारत के लिए कल-कारखानों की अनुपयुक्तता पर ही जोर दिया है।

'प्रेमाश्रम' में शहरों के शासन के संबंध में संकेतमात्र किया गया है; 'रंगभूमि' में इस विषय की अपेक्षाकृत विस्तृत विवेचना है। 'गबन' के अंतिम पृष्ठों में 'प्रेमाश्रम' के ढंग पर ही अदालतों की वर्त्तमान स्थिति के संबंध में थोड़ा-बहुत लिखा गया है, जिसे आलोचकों ने अनुपयुक्त बताते हुए अयथार्थ कहा है। हमें भी इस वर्णन से संतोष नहीं। हाँ, 'कर्मभूमि' में उपन्यासकार ने 'रंगभूमि' के नागरिक शासन-संबंधी वर्णनों का जो विस्तार दिया है, वह पूर्ण है, और पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने में समर्थ भी। इन उपन्यासों में अन्य सामयिक समस्याओं का जो वर्णन मिलता है, वह बहुत साधारण है। कहा जा सकता है कि 'रंगभूमि' में देशी रियासतों, 'गबन' में पुलिस के हथकंडों और 'कर्मभूमि' में स्वतंत्रता-संबंधी-आंदोलन के विषय में जो कुछ कहा गया है, वह अधिक महत्व का है। हमारी सम्मति में प्रेमचंदजी ने इनमें से केवल अंतिम की ओर थोड़ा ध्यान दिया है। 'रंगभूमि', 'गबन' और 'कर्मभूमि', तीनों उपन्यासों में इस आंदोलन के संबंध में जो विचार प्रकट किये गये हैं उनका यदि संकलन किया जाय तो हमें इनका सच्चा इतिहास प्राप्त हो सकता है।

'कायाकल्प' का विषय इन सब उपन्यासों से भिन्न है। उसका मूल विषय, एक तरह से एक है ही नहीं; प्रसंगानुसार उसमें, समाज, धर्म, राजनीति, राजमद, गार्हस्थ्य जीवन, सभी के विषय में कुछ न कुछ कहा गया है। हाँ, इसकी एक समस्या सामयिक और महत्वपूर्ण है। हिंदुओं और मुसलमानों में भिन्न धार्मिक आदर्शों के कारण जो पारस्परिक विरोध बढ़ता जा रहा था, उसकी ओर इसमें एक स्थल पर संकेत किया गया है। इस विरोध का केवल एक ही दृश्य प्रेमचंद जी ने दिखाया है; परंतु है वह बड़ा चमत्कारपूर्ण और शिक्षाप्रद, इसमें संदेह नहीं।

'कर्मभूमि' में दो समस्याएँ साथ-साथ चलती हैं। एक का संबंध नगर से है और दूसरी का गाँव से। नागरिक कथा का आरंभ एक पारिवारिक समस्या से होता है। अमरकांत को सार्वजनिक कार्यों से रुचि है, उसी के साथ रहकर हम नागरिक समस्याओं से परिचित होते हैं। पिता को पुत्र की बातें रुचती नहीं और एक दिन अमरकांत को घर छोड़ना पड़ता है। इस ठुकराये हुए युवक के प्रति हमारी सहानुभूति बढ़ती है। माया की ममता में पड़ कर पिता जब अपने पुत्र को और पत्नी अपने पति को खो देती है, तब दोनों चेतते हैं। पति का स्वभाव समझने की चेष्टा करती हुई सुखदा अछूतों के मंदिर-प्रवेश की बात लेकर धर्म के

ठेकेदारों से और बाद में अछूतों के धर्म को लेकर सरकारी बोर्ड से युद्ध ठानती है। उसके जेल चले जाने पर पिता समरकांत मैदान में आते हैं। उनको लेखक ने सुखदा से पहले दो कारणों से नहीं आने दिया। एक तो यह कि नगर में आंदोलन का आरंभ होता है धर्म के उस प्रश्न को लेकर जो समरकांत के जीवन-मरण से परे, उस लोक से उनका संबंध स्थापित करनेवाला है, और दूसरे, उनके संस्कार नयी रोशनी के नहीं हैं, उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वे सहसा पूँजी-पति-वर्ग की मनोवृत्ति छोड़कर सुधारक के रूप में सामने आ सकेंगे। पुत्र, पतोहू, कन्या, सबके जेल चले जाने पर तो उनके लिए कोई अन्य मार्ग रह ही नहीं जाता; अस्तु।

ग्राम्य आंदोलन से हमारा परिचय अमरकांत के वहाँ पहुँचने पर होता है। आरंभ में ग्रामीण समाज के उन दोषों से हम परिचित होते हैं जो उच्च वर्ग से उसे अलग किये हुए हैं। पश्चात्, उसकी निर्धनता, कर और कर्ज-संबंधी समस्याएँ सामने आती हैं, जिनका प्रत्यक्ष और परोक्ष संबंध सारे देश से है। निर्धन किसान लगान देने लायक नहीं है और छूट के लिए सरकार से संघर्ष करता है। अमरकांत अकेला शायद इतना काम सँभाल न सके, इसलिए स्वामी आत्मानंद को भी लेखक ने वहाँ पहुँचा दिया है और अमरकांत के जेल जाने पर सलीम उसके रिक्त स्थान की पूर्ति करने पहुँच जाता है।

कथा-विकास के इस प्रकार पाँच भाग लेखक ने किये हैं। प्रथम और तृतीय में नागरिक आंदोलन की कहानी है और द्वितीय तथा चतुर्थ में ग्राम्य की। पाँचवें भाग से दोनों कथाएँ मिल कर एक हो जाती हैं और लेखक एक परिच्छेद में नगर की कहानी कहता है तो दूसरे में ग्राम्य की। दोनों क्षेत्रों में सार्वजनिक आंदोलन के नेता भी मिल कर एक हो जाते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि यह मेल होता है जेल में। यह संदेश, निश्चय ही, दूरदर्शिता से युक्त और उद्देश्यपूर्ण माना जा सकता है।

पारिवारिक जीवन की विषमता और उसका परिणाम इस उपन्यास की मुख्य समस्या है। पुरानी लीक पीटनेवाला पिता और नयी रोशनी का शिक्षित पुत्र, एक धर्म के आडंबर का अंधानुयायी और दूसरा उसका शत्रु, एक धन के लिए जान देनेवाला कृपण और लोभी—उसकी प्राप्ति के लिए सभी कुछ करने को सदा प्रस्तुत महाजन; और दूसरा, सिर्फ पेट भरने के लिए पैसों की चाह रखनेवाला उदार और निर्लोभी; फलस्वरूप पिता और पुत्र में जरा भी नहीं बनती। विवाह

के पश्चात् इस असंयमी और 'युक्ती प्रकृति' के युवक का संबंध होता है विलासिनी 'युवक प्रकृति' की युवती से। जन्म से अमरकांत स्नेह से वंचित है, विमाता की डाँट-फटकार और पिता के निर्मम व्यवहार ने उसको प्रेम के लिए लालायित कर दिया है, वह किसी स्नेहमयी गोद में लेट कर विश्राम चाहता है। उधर, लाड़-प्यार से पली सुखदा बचपन से अपनी बात रखती और सब पर शासन करती आयी है। पत्नी के कर्तव्य वह समझती है और उनके अनुसार व्यवहार करने को प्रस्तुत है, परंतु तभी जब पति की ओर से इसका प्रारंभ हो ; वह स्वयं झुक नहीं सकती। अमर इसकी प्रकृति समझ नहीं पाता। फलतः शारीरिक संबंध बना रहने पर भी दोनों के मन नहीं मिलते। सुखदा के गर्भवती हो जाने पर अमर को उसके प्रति विशेष आकर्षण हो जाता है, परंतु बच्चे के तीन-चार महीने के हो जाने पर स्थिति पुनः पूर्ववत् हो जाती है। सकीना इसी समय अमर के जीवन में क्षणिक प्रवेश करती है।

'गोदान' में खन्ना-परिवार की समस्या भी ऐसी ही है। अंतर केवल इतना है कि वहाँ मिसेज खन्ना तीन-चार बच्चों की माता हैं और इस बंधन के कारण वे इच्छा रखते हुए भी घर से अपना सम्बन्ध-विच्छेद स्वयं नहीं कर सकतीं। मिस्टर खन्ना की स्थिति भी अमरकांत से अधिक पुष्ट है। वे एक मिल के डाइरेक्टर हैं, दूसरी के मालिक हैं। मनचाहा व्यवहार वे स्वच्छंद युवतियों से कर सकते हैं और मालती तो उनके हाथ का खिलौना ही बन जाती है। उनकी स्वेच्छाचरिता से मिसेज खन्ना इतनी दुखी नहीं है जितनी इस बात से कि पत्नी और पुत्र के प्रति अपने कर्तव्य को उन्होंने भुला दिया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'कर्मभूमि' और 'गोदान' की पारिवारिक समस्या का घनिष्ठ संबंध है। अंतर केवल इतना है कि 'कर्मभूमि' की समस्या विवाह के तीन-चार वर्ष बाद की है और 'गोदान' की लगभग पंद्रह।

मुन्नी जैसी स्त्रियों की समस्या भी प्रायः समाज के सामने रहती है। असहाय, निर्धन और अनाथ हिन्दू युवतियों का धर्म लूटनेवाले विधर्मियों की कमी नहीं है। हमारा समाज अपनी आँखों के सामने बहू-बेटियों की लाज लुटते देखता और फिर भी जीवित रहता है; परन्तु उन्हें पुनः अपने में मिलाने को किसी तरह प्रस्तुत नहीं। मुन्नी जैसा मनोबल तो इनमें होता नहीं—यद्यपि लेखक ने संकेत किया है कि इन स्त्रियों का, इनके प्रति नागरिकों और परिवारवालों का क्या कर्तव्य होना चाहिए—तब इनकी जीवन-नैया इस अथाह और अगम समाज-

सागर में, जिसमें भयंकर और शक्ति-शाली घातक जीव-जन्तु ही चारों ओर घात लगाये हैं, कैसे पार लगेगी ?

प्रेमचन्दजी के प्रायः सभी उपन्यासों में दो चार सार्वजनिक कार्यकर्ता हैं। देश और समाज को आज इनकी आवश्यकता है। अपने अन्य पात्र-पात्रियों के परिवारवालों की ओर से लेखक उदासीन भले ही रह ले, परन्तु इन कार्यकर्ताओं के पारिवारिक जीवन का चित्र न खींचे जाने पर चित्रण अधूरा ही समझा जाना चाहिए। 'कर्मभूमि' इस दृष्टि से उनका पूर्ण उपन्यास है; इसमें अधिकार-प्रिय अमरकांत के पारिवारिक जीवन की विस्तृत चर्चा लेखक ने की है।

सामाजिक कार्यकर्ताओं के सुधार-कार्य के प्रति परिवार के अन्य व्यक्तियों को असंतोष रहता है। समाज-सुधार का कार्यकर्ता की दृष्टि में जो भी महत्व हो, उसके सम्बन्धी उसे स्वीकार करने को तैयार नहीं होते और इसे किसी तरह पसन्द नहीं कर सकते कि परिवार की चिन्ता छोड़कर 'सुधारक' केवल सामाजिक क्षेत्र में ही कार्य करे। अमरकांत के पारिवारिक जीवन में असन्तोष का कारण उसकी जन-सेवा-वृत्ति ही है, जिसका निश्चित लक्ष्य न होने और बीच में सकीना के आ जाने पर क्रमिक विकास नहीं होता। समरकांत और सुखदा उससे इसीलिए असन्तुष्ट हैं कि वह भोर से पाठशाला जाता, दिन भर नया रोग पालता—म्युनिसिपैलिटी की मेम्बरी निभाता—और साँझ से काँग्रेस में बैठता। ये सभी काम उसकी निगाह में 'रोग', ऊपर के कार्य और व्यर्थ के झंझट हैं।

समस्या यह है कि समाज और देश, दोनों को आज ऐसे सुधारकों और सेवकों की आवश्यकता है जो व्यक्तिगत हानि-लाभ के विचारों का त्याग करके सुधार-कार्य में अग्रसर हों। परन्तु ऐसा करने पर उनके सम्बन्धियों को व्यक्तिगत हानि-लाभ का विचार छोड़ने के लिए विवश नहीं किया जा सकता; वे स्वयं ऐसा करने को प्रस्तुत हो जायँ तब तो कहना ही क्या है, परन्तु इसके लिए उन्हें दबाना नितांत अनुचित और स्वार्थयुक्त है। देश-प्रेमी के हृदय में राष्ट्रीयता की जो भावना है वह उसके परिवार के सभी सदस्यों में कदापि नहीं होगी। स्वभावतः वे उसके कार्य का विरोध करेंगे और फलस्वरूप परिवार में अशांति होगी। यदि सुधारक की आर्थिक दशा 'कर्मभूमि' के लाला समरकांत की तरह अच्छी है, तब तो कम-से-कम उसे एक चिंता से छुटकारा मिल जाता है, परन्तु आर्थिक दशा अच्छी न होने पर संघर्ष तथा उसका परिणाम और भी भयंकर हो सकता है। इस संघर्ष का अन्त तभी होता है जब सुधारक के निकटतम

सम्बन्धी उसके कार्य में सहयोग दें। 'कर्मभूमि' में सुखदा और समरकांत, दोनों अन्त में अमरकांत की तरह सार्वजनिक कार्य में भाग लेने लगते हैं।

इस सम्बन्ध में दो बातें विशेष ध्यान में रखने की हैं। एक, सुधार-कार्य में प्रवृत्त कार्यकर्ता में बलिदान होने की तीव्रतम भावना और साहस चाहिए अन्यथा वह स्वयं तो डूबेगा ही, जनता को भी ले डूबेगा ? 'कर्मभूमि' में स्वामी आत्मानंद ऐसे ही कायर सुधारक हैं, जो पहले तो गरीब अछूतों को मंदिर के द्वार पर धरना देने के लिए उभारते हैं; परन्तु मार पड़ते ही सबसे आगे भाग खड़े होते हैं। ऐसे सुधारकों से जनता की हानि तो होती ही है, स्वयं सुधारक-वर्ग भी बदनाम होता है।

दूसरी बात यह कि सार्वजनिक कार्य में भाग लेने वाले व्यक्ति के परिवार में शांति तभी हो सकती है जब अन्य संबंधी भी उसी का अनुकरण करके इस क्षेत्र में उतर आयें, अपने ऐश्वर्य का हँसते-हँसते त्याग करने को प्रस्तुत हो जायँ। 'कर्मभूमि' का अमरकांत अकेला जब इस क्षेत्र में प्रवेश करता है तब पिता उसका विरोध करते हैं और पत्नी भी। धीरे-धीरे यह विरोध भयंकर रूप धारण कर लेता है। घर की शांति नष्ट हो जाती है, एक दूसरे से हँसने-बोलने को तरस जाते हैं। एक दिन अछूतों के मंदिर-प्रवेश का प्रश्न लेकर सुखदा मैदान में आ जाती है और अंत में समरकांत भी। उद्देश्य की एकता हो जाने पर इन प्राणियों को कृष्ण-मंदिर में भी पर्याप्त सुख-संतोष मिलता है।

'निर्मला' सामाजिक उपन्यास है जिसमें दहेज न दे सकने के कारण कन्या के विवाह में आनेवाली बाधाओं की चर्चा है। पंद्रह वर्षीय किशोरी निर्मला को 'जिसके यौवन का अभी तक पूर्ण प्रकाश नहीं हुआ है', एक चालीस वर्ष के अधेड़ के साथ ब्याह देना कितना भयंकर सामाजिक पाप है, यही दिखाना इस उपन्यास का उद्देश्य है। 'वकालत के कठिन परिश्रम ने जिसके बाल पका दिये हैं, व्यायाम करने का जिसे कभी अवकाश नहीं मिलता, यहाँ तक कि जो घूमने भी नहीं जा सकता, जिसके तोंद निकल आयी है, देह के स्थूल होते हुए भी आये दिन कोई न कोई शिकायत जिसे रहती है, मंदाग्नि और बवासीर से जिसका स्थायी संबंध है, और जो बहुत फूँक-फूँककर कदम रखता है,' ऐसा अधेड़ व्यक्ति फूल-सी कुमारी कन्या के पिता की अवस्था का है जिसके 'पास बैठने और हँसने बोलने में उसे संकोच होता है,' 'जिसके सामने वह सिर झुका कर, देह चुराकर निकलती थी, जिससे भागती फिरती और जिसको देखते ही

उसकी प्रफुल्लता पलायन कर जाती थी। वकील साहब प्रेम-प्रदर्शन में कोई कसर न रखते ; परंतु उनके व्यवहार में 'रस न था, उल्लास न था, उन्माद न था, हृदय न था, केवल बनावट थी, धोखा था और था शुष्क, नीरस शब्दाडंबर'। युवती कन्या को ऐसे पति से शारीरिक अतृप्ति और मानसिक असंतोष के अतिरिक्त और क्या मिल सकता है ? कारण, ऐसी अवस्था के पति को वह 'प्रेम की वस्तु नहीं, सम्मान की वस्तु समझती है'।

निर्मला के इस दुर्भाग्य की कहानी लेखक ने बहुत निर्मम होकर लिखी है ; कहीं भी उसके प्रति जरा-सी दया नहीं दिखलायी। इस सामाजिक अभिशाप का भयंकर परिणाम है दो-दो परिवारों के समस्त प्राणियों का जीवन भर रोते रहना और उन्हें कराह-कराह कर 'बिसूरते' देख लेखक जरा भी दया दिखाने की आवश्यकता नहीं समझता। हाँ, बार-बार चिढ़ाने के लिए याद दिलाता है, अधेड़ अवस्था में विवाह करने के ये ही मजे हैं। निर्मला यही सोचती है, रुक्मिणी यही कहती है, वकील साहब यही सोचते हैं, उनके तीनों बच्चे बार-बार यही कहते हैं, कहारिन भुंगी और गली चलते लोग, जो भी इस परिवार की कथा सुनते हैं, सभी यही कहते हैं। वकील साहब का सुखी जीवन संतप्त और अशांत हो जाता है इस विवाह के कारण, उनका जवान बेटा मरता है इस विवाह के कारण, माता-तुल्य बहन से उनका मनमुटाव होता है इस विवाह के कारण, उनके दोनों छोटे पुत्र कलप-कलप कर घर छोड़ते हैं इस विवाह के कारण और स्वयं धनी-मानी वकील साहब पैसे-पैसे को मोहताज होकर गली-गली ठोकरें खाते हैं इस विवाह के कारण। स्वभाव का सहृदय और उदार लेखक इस उपन्यास के लिखते समय जो इतना निर्मम और कठोर हो गया है उसका कारण यह उद्देश्य ही है कि यदि इस परिवार के पाँच-सात प्राणियों के बलिदान से हमारे समाज की आँखें अब भी खुल सकें तो अच्छा है। दहेज की प्रथा जिस द्रुत गति से हमारे समाज में फैल गयी है, उससे एक-दो नहीं, पचासों परिवारों का इसी तरह नाश हो रहा है, और यह निश्चित है कि इसी रूप में इसके बढ़ते रहने पर प्राणियों के बलिदान का यह क्रम भी चलता रहेगा।

और दहेज की चाह कितनी भयंकर हो गयी है ! बाप पढ़ा है तो दहेज चाहिए, लड़का पढ़ा है तब तो कहना ही क्या ; बाप नौकर है तो दहेज देनी होगी, लड़का नौकर है तब तो सवाल ही नहीं उठता ; घर में जायदाद है तो दहेज जरूरी है और लड़के में कोई हुनर है तो वह अनिवार्य हो जाती है। नहीं चाहिए दहेज

सिर्फ उनके लिए जिनके या तो 'खानदान में कोई दाग' है या जिनकी पहली स्त्री मर चुकी है और पैंतीस-चालीस की अवस्था में तीन-तीन लड़कों का पालन करने के लिए जो एक ऐसी लड़की चाहते हैं जिससे 'एक पंथ दो काज' की कहावत सिद्ध हो सके। मुंशी तोताराम ऐसे ही वकील हैं जिन्हें कल्याणी ने किशोरी निर्मला के लिए चुना है और यह कह कर मन में संतोष कर लिया है, 'आयु कुछ अधिक है, लेकिन मरना-जीना विधि के हाथ है, पैंतीस साल का आदमी बुड्ढा नहीं कहलाता। अगर लड़की के भाग्य में सुख भोगना बदा है तो जहाँ जायगी, सुखी रहेगी ; दुख भोगना है तो जहाँ जायगी, दुख झेलेगी। हमारी निर्मला को बच्चों से प्रेम है ; उसके बच्चों को अपना समझेगी', अस्तु।

दहेज चाहनेवाले युवकों को भी अपनी लोलुपता का फल भोगना पड़ता है। वे डाक्टर सिनहा की तरह पाँच हजार दहेज में तो पा लेते हैं ; परंतु पत्नी मन की नहीं मिलती और बाद में जिस लड़की को दहेज न मिलने के कारण छोड़ दिया था उसके रूप-गुण की चर्चा सुनकर उन्हें हाथ मलकर और मन मसोसकर रह जाना पड़ता है। ऐसे युवकों को सचेत करने के लिए लेखक ने दंड भी बड़ा भयानक और कठोर दिया है। निर्मला को एक दिन एकांत में पाकर युवक-प्रवृत्ति की दुर्बलता के वशीभूत हो जब डाक्टर सिनहा अपनी मानसिक अस्थिरता का परिचय देता है, तब उसे विष खाकर आत्महत्या करने पर ही शांति मिलती है। लेखक का संकेत है कि इस युवक का यह दंड उसके अंतिम अपराध के लिए नहीं मिला है, प्रत्युत उसके पूर्व पाप का—'एक लाख रुपए की' दहेज के लोभ से अलभ्य रत्न को, घर आयी लक्ष्मी को ठुकरा देने का—प्रायश्चित है।

एक परोक्ष संकेत और है। अच्छी दहेज पाने की चाह निर्धन परिवार के लड़कों को उतनी नहीं होती जितनी धनवानों को। इन्हें ध्यान रखना चाहिए कि अपने जिस धन के मद में वे जमीन पर पैर नहीं रखते वह किसी भी दिन दैवी-मानवी आपत्तियों के कारण नष्ट हो सकता है। निर्मला के पिता वकील उदयभानु रईस हैं और उसके पति मुंशी तोताराम भी। एक दैवी आपत्तियों की भेंट होता है और दूसरा, मानवी की। दोनों वकील घराने देखते-देखते निर्धन हो जाते हैं। मानवी आपत्तियों की मार तो निर्मला के पति तीन-चार साल सह भी लेते हैं, परंतु दैवी आपत्ति का धक्का दिन के कुछ घंटों में ही उन्हें चौपट कर देता है। धनांध और मदांध युवक इस संकेत से यदि सचेत हो सकें तो उनका जीवन सुख-शांतिमय हो सकता है।

इस सामाजिक समस्या के सुधार का एक उपाय भी लेखक ने बतलाया है। दहेज के लोभ में निर्मला जैसी आदर्श बालिका को जिस डाक्टर सिनहा ने ठुकरा दिया था, वही पत्नी द्वारा प्रेरित किये जाने पर अपने छोटे भाई का विवाह उसकी बहन कृष्णा से करने के लिए धन-लोभी पिता को तैयार करता है। सिनहा का भाई जाग्रत भारत का खद्दर-प्रेमी युवक है जो गाँव-गाँव में जाकर उसका प्रचार करता है। लेखक ने यद्यपि इस ओर कोई संकेत नहीं किया है तथापि, बहुत संभव है, दहेज-प्रथा का विरोध इस युवक ने भी किया हो। जो हो, एक यही ढंग, लेखक की सम्मति में, ऐसा है जिसमें निर्धन या 'बिगड़े' परिवारों की कन्या-रत्नों का उद्धार हो सकता है। परंतु सुधार या उद्धार के उद्देश्य से लेखक दहेज-प्रथा के विरोध की आवश्यकता नहीं समझता। उसका संकेत है कि यदि अपना भावी जीवन सुखी बनाना चाहते हो, यदि अपनी भूल से निर्मला-जैसा अलभ्य रत्न खोकर बाद को पछताना नहीं चाहते और कृष्णा-जैसी स्वोद्देश्यानुगामिनी पत्नी, जो भावी पति के खद्दर-प्रेम की चर्चा सुनकर ही उसकी प्रसन्नता के लिए रात-रात भर चर्खा चलाना शुरू कर देती है, चाहते हो जिससे पारिवारिक जीवन प्रेममय, शांतिमय और सोद्देश्य हो सके, तो दहेज के वे थोड़े रुपए छोड़ दो—ठुकरा दो—जो विवाह के साज-सामान में, नाच-रंग में, खेल तमाशे में, दावत-ज्योनार में दो-चार दिनों में समाप्त हो जायँगे और सबके लिए व्यर्थ का पछतावा और पाप का बोझ छोड़ जायँगे। स्पष्ट है कि इस सामयिक समस्या को सुलझाने का इस उपन्यास में निर्देशित उपाय केवल सैद्धांतिक नहीं, क्रियात्मक है और आदर्श भी।

अब 'गबन' उपन्यास को लीजिए। स्वास्थ्य के नाम पर स्त्रियों की स्वतंत्रता का प्रश्न उठा कर भारतीय समाज को पाश्चात्य जीवन के अनुकरण के लिए आज का शिक्षित समाज प्रेरित कर रहा है। निश्चय ही स्वास्थ्य-रक्षा की समस्या जीवन में सबसे महत्वपूर्ण है और खुले संसार में घूमने देने से यदि उनका स्वास्थ्य सुधर सकता है तो हमारे समाज को हठ छोड़ कर यह बात माननी ही होगी, चाहे अभी माने या कुछ देर में, चाहे हँसकर माने या रोकर। वस्तुतः प्रश्न केवल खुले में घूमने का नहीं है। शिक्षित भारतीय युवतियाँ पाश्चात्य जीवन की वे सभी ऊपरी बातें अपनाना चाहती हैं जिनसे होनेवाले अनेक लाभों की आकर्षक कहानी सात समुद्र पार करके उन तक पहुँची हैं। ऊँची शिक्षा वे चाहती हैं और हमारा अनुमान है कि प्रत्येक समझदार व्यक्ति इसका समर्थन

करेगा ; परदा वे नहीं करना चाहतीं और हम समझते हैं कि इस कुप्रथा के प्रचलित होने का मूल कारण आज न रह जाने से इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं रह गयी है ; मनचीते युवकों-युवतियों से मिलने की पूरी स्वतंत्रता वे चाहती हैं और हमारी सम्मति में चरित्र और सतीत्व का मूल्य समझनेवाली युवतियों को इसके लिए रोकना नितांत अनुचित है ; अपने सौंदर्य को अधिक आकर्षक बनाने के लिए लिपस्टिक, पाउडर जैसी चीजों को वे काम में लाना चाहती हैं और हमें विश्वास है कि इस लालसा की नैसर्गिकता का ध्यान करके पुरुष-वर्ग इसका विरोध नहीं, स्वागत ही करेगा ; नाच-सिनेमा, सैर-सपाटा, खेल-कूद, ललित साहित्य का पठन-पाठन आदि के द्वारा वे अपना मनोरंजन करना चाहते हैं और हमें पूरी आशा है कि विश्राम की आवश्यकता समझने और एक न एक उपाय से अपना मनोरंजन करनेवाला समाज इसके लिए भी स्त्रियों का सहर्ष समर्थन करना चाहेगा।

आज की युवतियों की ये इच्छाएँ सर्वथा स्वाभाविक और उचित होते हुए भी पूरी नहीं हो सकीं और न निकट भविष्य में इनके पूर्ण होने की आशा ही है। इसके कई कारण हैं। सबसे प्रधान बात यह है कि नगरों में साठ प्रतिशत से अधिक व्यक्ति मध्यम श्रेणी के हैं जिनकी आय इतनी नहीं है कि फैशन, सजावट, मनोरंजन आदि के उन उपायों को अपना सकें जो विदेशों में अधिक सस्ते होते हुए भी भारत में अभी मँहगे पड़ते हैं। पाश्चात्य देशों में भी युवतियों के सामने एक दिन यह समस्या आयी थी। वहाँ स्वतः धन पैदा करने की अनुमति पाकर यह प्रश्न हल किया गया। भारत में भी इस या इससे मिलते-जुलते किसी उपाय का सहारा जब तक नहीं लिया जाता, तब तक मध्यम वर्ग के परिवार में यदि पाश्चात्य रहन-सहन का आकर्षक और उत्तेजक ढंग अपना लिया गया तो स्त्री-पुरुष, दोनों ही घाटे में रहेंगे। जालपा और रमनाथ का फैशन, रहन-सहन, मेल-मुलाकात, सैर-सपाटा, सभी-कुछ उनकी हैसियत से बढ़ कर है। युवावस्था की उन्मादभरी अदूरदर्शिता ने उनकी आँखों पर और भी परदा डाल रखा है। रमानाथ का छल, उसकी डींगें, उसका संकोच आदि चरित्र के दोष युवती जालपा को भी अंधकार में रखते हैं। फलस्वरूप आगे-पीछे की ओर से आँख मूँदे वे इतना आगे बढ़ जाते हैं कि जहाँ से लौटना रमा को असंभव प्रतीत होता है और अंत में वह घर से भाग खड़ा होता है।

इस प्रकार जालपा के आभूषण-प्रेम की एक वर्ग-सुलभ विशेषता को समस्या-

रूप में अपनाकर प्रेमचन्द कथा का विकास करते हैं। बाल्यकाल में यह आभूषण-प्रेम बालिका की सहज प्रकृति से संबंध रखता है; परंतु युवावस्था में अपने रूप को अधिक दीप्यमान दिखाने की लुभावनी लालसा विशेष प्रधान होकर सामने आती है। हाथ में पैसा है और दिल में जोश। खूब खुलखेली से काम किये जाते हैं। शृंगार के सारे सामान मौजूद हैं; नाच-रंग, खेल-तमाशा, सिनेमा-थियेटर, सब शुरू हो जाता है। शहर के नामी वकील की युवती पत्नी से मेल-जोल बढ़ता है; पार्टियां स्वीकारीं और दीं जाती हैं। यह सब किया जाता है ऊपर की उस आमदनी के सहारे जिसके बल पर कई आभूषण, घड़ी, साड़ी आदि वस्तुएँ उधार खरीदी गयी थीं। ऋण न चुकने पर तकाजे होते हैं, पिता को पता लगने पर फटकार पड़ती है। फिर भी सब बात अपनी स्त्री से खोलकर कहते उसे संकोच होता है। अंत में रमानाथ के सामने एक ही रास्ता खुला दिखायी देता है; वह उसी पर चल देता है और पीछे फिर कर देखने की उसकी चाह का गला लज्जा और भय ने इस तरह दबा रखा है कि लौटना तो दूर, चार-पाँच महीने तक वह एक पत्र भी लिखने का साहस नहीं करता।

जालपा का जो आभूषण-प्रेम पारिवारिक जीवन के लिए महान विपत्ति का कारण बनता है उसके लिए इस युवती को दोष देना युक्ति-संगत नहीं है। वस्तुतः गहनों की लिप्सा ने सर्वत्र नारी-समाज के हृदय में गहरी नींव का घर कर रखा है। 'गबन' के पहले ही परिच्छेद में मानकी चंद्रहार पाकर जीवन धन्य समझती है। बालिका जालपा अपनी माता से यही आभूषण-लिप्सा ग्रहण करती है। उसका परिचय रतन से होता है। इसे गहनों की इतनी चाह है कि तीन-तीन जोड़ी कंगनों के रहने पर भी जालपा के नये डिजायन पर रीझ जाती है। रमा की माता रामेश्वरी का नये आभूषण देखकर संयम खो देना उसके लिए स्वाभाविक ही समझा जायगा; क्योंकि बेचारी का लगभग पाँच हजार का चढ़ावा गृहस्थी के खर्च में ही समाप्त हो चुका है। देवीदीन की बुढ़िया का 'पेट भी गहनों से नहीं भरता', एक न एक गहना बूढ़ी होने पर भी वह बनवाती रहती है। देवीदीन के शब्दों में, 'सारांश यह कि सब घरों का यही हाल है। जहाँ देखो—हाय गहने, हाय गहने! गहने के पीछे जान दे दें, घर के आदमियों को भूखे मारें, घर की चीजें, और कहाँ तक कहूँ, अपनी आबरू तक बेंच दें। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, सबको यही रोना लगा हुआ है'—पृ० १४१।

सत्य ही पारिवारिक जीवन की शांति का मीठा रस पान करके गहनों की

विषैली लिप्सा जीवित रहती है। सास-ससुर धनी हैं, पर मेरे गहने न बनवा कर मेरी उपेक्षा करते हैं, केवल इस बात का मिथ्यानुमान करके आभूषणों के लिए लालायित जालपा उनका तिरस्कार करने को प्रस्तुत हो, कहती है—वे मेरे हैं कौन, उनसे बताया ही क्यों जाय कि तुम्हारी (रमानाथ की) नौकरी कितने की लगी है। हाँ, गहने पाने पर स्त्रियाँ प्रसन्न भी होती हैं। जालपा में, दो गहने पाकर सेवा-भाव का उदय होता है। वह पति के आगम की चिंता करती है; जिन चीजों के लिए रमा को घंटों भटकना पड़ता था, वे उसे तैयार मिलती हैं। वकील साहब की पत्नी रतन भी हार पाकर कृतज्ञता के भार से दब जाती है; पति बूढ़ा है; उसकी आवश्यकताएँ बहुत सीमित हैं; वह उनके लिए अच्छी-अच्छी चीजें बनाती है।

कथा-विकास में सहायक इस उपन्यान की दो प्रधान समस्याएँ हैं। एक, स्त्रियों का आभूषण-प्रेम और दूसरी, मध्यम श्रेणी के कम आयवाले नवदंपति की मनोरंजन के व्यय-साध्य साधनों में अनुभवहीन संलग्नता, उनका फैशन और विलास-प्रेम। देश की वर्तमान स्थिति में इन दोनों सामाजिक समस्याओं का कम महत्व नहीं है। प्रथम अर्थात् आभूषण-प्रेम का संबंध स्त्रियों के प्राचीन भारतीय रहन-सहन से है और द्वितीय का प्रचार अँगरेजी शिक्षा-प्रसार के साथ सारे भारत में हो गया है। जालपा का आभूषण-प्रेम उसकी बाल-प्रकृति से संबंध रखता है; क्योंकि वह ऐसे ही वातावरण में पली है जहाँ गहने ही स्त्रियों के सर्वस्व हैं और पिता उसके खेलने के लिए खिलौने न लाकर गहने ही लाते हैं। गाँव के संकुचित क्षेत्र से बाहर निकलकर जब वह प्रयाग जैसे प्रतिष्ठित नगर में रतन-सी स्वच्छंद और धनी नारी के सम्पर्क में आती है तब उसका पूर्व आभूषण-प्रेम, फैशन और विलासिता की अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और नवीन रुचि में, जिसका निकटतम सम्बन्ध अवस्था और शिक्षित-संस्कृत समाज से हैं, परिणत हो जाता है। यह परिवर्तन नितांत स्वाभाविक और सामयिक है। आज की सी स्थिति बनी रहने पर मध्यम श्रेणी के परिवार का संबंध एक शताब्दी के लगभग चतुर्थांश तक इस समस्या से अवश्य बना रहेगा। इस दृष्टि से, हम समझते हैं कि 'गबन' की प्रधान समस्या महत्वपूर्ण है।

मध्यम वर्ग की समस्या का एक दूसरा पहलू भी है। अपनी नियमित परंतु अपर्याप्त आय में कठिनता से परिवार का भरण-पोषण करके जीवन के दिन किसी प्रकार बिताना, स्वयं अच्छा खाने-पहनने की इच्छा तथा प्राणप्रिय संतान को,

बहुत छोटी-छोटी बातों के लिए जिन्हें मन मारना पड़ता है, खुश देखने की स्वाभाविक लालसा लिये मर जाना, इस जीवन की करुण कहानी के ऐसे दृश्य हैं जो हम अपने परिवार में, चाहे हम कितने ही धनीमानी क्यों न हों, प्रतिदिन देखा करते हैं। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इस वर्ग का घनिष्ठतम संबंध उस उच्च वर्ग से है, अधिकांश अवसरों पर जिसके सदस्य विद्या, योग्यता, बुद्धि, यहाँ तक कि चरित्र में भी हीन होने पर, केवल धनी होने के नाते ही, मध्यमवर्ग से ऊँचे समझे जाते हैं। कुछ तो इस संबंध की मर्यादा के लिए और कुछ अच्छा खाने-पहनने, सुख करने की स्वाभाविक मानवीय प्रकृति के फलस्वरूप उन्हें अपनी चादर से अधिक पैर फैलाने पड़ते हैं। सामाजिक शिष्टाचार का ध्यान, जिसका निबाहना नैतिक दृष्टि से प्रायः आवश्यक हो जाता है और वित्त से बाहर हो जाने पर भी जिसका विरोध करने का साहस हमें नहीं होता, उनकी स्थिति को और भी दयनीय बना देता है। मध्यमवर्ग का मनुष्य यह सब कुछ समझ-बूझ कर भी नासमझ की तरह अपने को सुखी समझता है—'चरै हरित तृन बलि पसु जैसे'। प्रेमचंद ने इस उपन्यास में अपने ही बनाये गढ़े में इस वर्ग के प्रतिनिधि के गिरने की करुण कहानी कही है।

मध्यवर्गीय समस्या-संबंधी एक और बात ध्यान देने की है। आज से पचास वर्ष पूर्व थोड़ी, पर नियमित, आय होने पर भी लोग संतुष्ट थे और इसलिए उनके जीवन में सुख का अभाव न था। रहन-सहन इनका सीधा-सादा था और आवश्यकताएँ सीमित थीं। आडंबर से इन्हें चिढ़ थी और संगठित परिवार में प्रेम तथा सहयोग से जीवन के दिन बिताया करते थे। बुजुर्गों के देखते-देखते उनके पुत्रों को अंग्रेजी शिक्षा ने नयी रोशनी का बना दिया। नयी चाल की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि निजी परिवारवालों के नाते को ठुकराकर परिचितों और मित्रों से संबंध जोड़ना, सहानुभूति दिखाना, प्रत्युत्तर की आशा करना और सैर-सपाटे, नाच-रंग, सिनेमा-थियेटर, चाय-पानी आदि के लिए निमंत्रित करना और होना अनिवार्य हो जाता है। परिवार के बड़े-बूढ़े भी, जो इन कामों को अपनी अर्थ-हीनता के कारण अनुपयुक्त समझते हैं, बड़े आदमियों से परिचय बढ़ जाने के लोभ से कभी-कभी इनका समर्थन करते हैं—बहुधा पार्टियों में सम्मिलित हो जाने में भी संकोच नहीं करते—और कुछ ऐसे परिचयों से लाभ उठाने की आशा लेकर इनमें भाग लेते हैं। सारांश यह कि मध्यमवर्ग के रहन-सहन में इस प्रकार के परिवर्तन का जो रूप हम व्यावहारिक जगत में

देखते हैं उसी की छाया प्रस्तुत उपन्यास में मिलती है। रमा और जालपा का काशी के प्रतिष्ठित वकील की पत्नी रतन से हेल-मेल बढ़ाना, इस प्रसिद्ध व्यक्ति से परिचय के लोभ से दयानाथ का पार्टी में सम्मिलित होना और सिफारिश कराने के उद्देश्य से रमेश बाबू का रमा को उत्साहित करना, आज के जीवन का नितांत सच्चा चित्र है।

नवीन सभ्यता के संबंध में दो अन्य संकेत भी लेखक ने किये हैं। प्रथम तो यह कि फैशन और विलासिता को जीवन का चरम लक्ष्य समझनेवाला पाश्चात्य रहन-सहन रतन जैसी उन नारियों के लिए है जिनका पति पर्याप्त धन कमा कर, मनमाने ढंग पर उड़ाने के लिए उन्हें दे सकता है और जो बिना किसी निश्चित उद्देश्य या कार्य के ही सब-कुछ खर्च करने के लिए तैयार रहती हैं। भारतवर्ष की वर्तमान परिस्थिति में दस हजार में संभवतः एक युवती को यह सौभाग्य प्राप्त होगा और शेष के लिए जीवन का यह रूप ईर्ष्या का ऐसा विषय बना रहेगा जिसकी प्राप्ति संभव नहीं है और जिसका अभाव, जो कुछ है, उसे भी सुख-शांति से भोगने के लिए उत्साहित न कर सकेगा।

प्रेमचंद जी का दूसरा संकेत भी इतना ही स्पष्ट है। घर के संकुचित क्षेत्र से बाहर आकर पुरुष-मात्र से निःसंकोच बात करने और स्थिति समझकर अवसरोचित काम करने का साहस आज की युवतियों को आधुनिक शिक्षा अथवा शिक्षित युवतियों का अनुकरण करने की स्वच्छंदता ने ही दिया है। रमा के भाग जाने पर जालपा का आफिस जाना, सब बात समझकर चौक में आभूषण बेचना और आफिस का रुपया जमा कर देना आदि ऐसी बातें हैं जो घर के दरबे में बंद रहनेवाली युवती से नहीं बन सकतीं।

हिंदू-समाज की वैवाहिक समस्याओं पर भी लेखक ने परोक्ष रूप से अपने विचार प्रकट किये हैं। निर्धन परंतु शिक्षित रमानाथ की माता जागेश्वरी सोचती है—कोई यहाँ क्यों आने लगा? न धन है, न जायदाद। लड़के पर कौन रीझता है। लोग तो धन देखते हैं—पृष्ठ ७। ऐसे विवाह में भाग्य पर विश्वास अधिक रहता है। 'प्रतिज्ञा' में प्रेमा की भाभी ऐसी स्थिति के विवाह की बुराई करती है। पढ़े-लिखे वर की खोज में सभी माता-पिता रहते हैं; परंतु जालपा की सहेली का पति, जो एम० ए० पास है, सदा रोगी रहता है। रोगी पति से स्त्री कैसे प्रसन्न रहेगी? शिक्षा और धन के संबंध की घनिष्ठता से प्रायः आचरण पर आँच आती है। जालपा की दूसरी सखी का पति जो विद्वान भी है और

धनी भी, वेश्यागामी है। रतन के मामा ने बूढ़े वकील के साथ उसको ब्याहा है। धन की रतन को कमी नहीं है। पति महोदय काशी के सबसे बड़े वकील हैं; इसलिए यह सम्मान और प्रतिष्ठा की बात है। परंतु उसके जीवन का भविष्य नितांत अंधकारमय है, शून्य है; जालपा-जैसी उस स्त्री से भी वह गयी-बीती है जिसका पति केवल तीस रुपया मासिक पाता है, घर से भाग गया है, घर में जिसका कोई आदर नहीं है और जिसके परिवार में धन-संपत्ति कुछ भी नहीं है। जालपा अपने पति से संतुष्ट है। वह मामूली पढ़ा-लिखा है, बहुत मामूली घर है। सब काम-काज अपने हाथ से करना पड़ता है। यह सब-कुछ होते हुए भी जालपा के संतोष का कारण यह है कि रमानाथ पत्नी से प्रेम करता है, सच्चरित्र है और स्वस्थ है। धन और विद्या न देखकर पुत्री के वर में केवल स्वास्थ्य और चरित्र ही देखा जाय, रमा और जालपा के वैवाहिक जीवन-परिचय से लेखक का यह संकेत मान सकते हैं।

अब आर्थिक समस्या को लीजिए। भारतीय समाज की वर्तमान अवस्था में सम्पत्ति-वितरण-संबंधी जो विषमता दिखायी देती है उनका एक दुःखद परिणाम परोक्ष रूप से इस उपन्यास में दिखाया गया है। जालपा एक सम्मिलित परिवार की वधू है जिसके पति की आमदनी थोड़ी है और जिसको खाने-पहनने की वे सभी सुविधाएँ और सुख प्राप्त नहीं हैं, युवती पत्नी और युवक पति को प्रमुदित करने के लिए, विलास और आनंद के स्तर से उतर कर जो आवश्यकता की सीमा में आ जाते हैं। दूसरा घर वकील साहब का है जहाँ धन आने के सभी द्वार खुले हैं और युवती पत्नी रतन को सब-कुछ इच्छानुसार खर्च करने की पूरी स्वतंत्रता है। संपत्ति के अभाव और आधिक्य, दोनों का दुष्परिणाम उपन्यास में दिखायी देता है, सुखों के प्रति असंतोष और संपत्ति का अभाव जालपा को पति-सुख से वंचित कर देता है। और रतन के लिए पति की मृत्यु के पश्चात् संपत्ति की अधिकता परिवारवालों को ऐसा भयानक जंतु बना देती है जो पति-शोक से पीड़ित विधवा के सुख-साधनों को जीवित ही हड़प कर जाने में जरा भी संकोच नहीं करता।

सामाजिक जीवन में आज एक खटकनेवाली बात यह है कि अपने को सुखी, संतुष्ट या सम्मान-योग्य वे तब समझते हैं जब विदेशीपन की नकल निभा ले जाने में सफल हो जायँ; कपड़े अच्छे पहनने का शौक होने पर हमें कोट-पतलून, टाई-नेकटाई चाहिए, अपने साज-शृंगार के लिए हेजलीन, वैसलीन,

क्रीम, स्नो और न जाने क्या-क्या चाहिए तथा घर के लिए मेज-कुर्सी-कोच टी-सेट जैसी चीजों की जरूरत होती है। काशी के प्रसिद्ध वकील साहब-से बड़े आदमी से भेंट होने का अवसर आने पर रमा, दयानाथ और रमेश, तीनों मकान को अँगरेजी ढंग से ही सजाने की बात सोचते, तय करते हैं और इस संबंध में लेखक का सुंदर व्यंग्य है कि यह सारा हौसला और शौक पूरा किया जाता है माँगे के सामान के बल पर। किराये के कपड़े पहनकर मर्यादा-निर्माण और निर्वाह का यह ढंग कितना हास्यास्पद है! और फिर भी हमारे समाज का मध्यम वर्ग सहर्ष इसे अपना रहा है, समझता है कि इसके बिना हमारा जीना असंभव है, हमारा जीवन खोखला है, व्यर्थ है।

सबसे अंतिम उपन्यास 'गोदान' है। इसकी रचना हुए अभी पंद्रह-बीस वर्ष हुए हैं। अतः जिन-जिन समस्याओं को लेकर इसके कथानक का संगठन किया गया है, वे स्वतंत्र भारत में जमींदारी प्रथा का अंत हो जाने के पश्चात् भी किसी सीमा तक सामयिक ही बनी हुई हैं। सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न जिस पर इसमें विचार किया गया है, ग्राम-समस्या का है। 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि', दोनों में, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्रेमचंद जी पहले भी इस विषय पर भली भाँति प्रकाश डाल चुके थे। परंतु, जिस प्रकार 'रंगभूमि' में 'प्रेमाश्रम' में वर्णित समस्या को छोड़कर, उसके विकसित रूप की विवेचना की गयी है; दूसरे शब्दों में, जैसे 'प्रेमाश्रम' में ग्राम-समस्या के पूर्वार्द्ध और 'रंगभूमि' में उत्तरार्द्ध पर प्रकाश डाला गया है, उसी प्रकार 'गोदान' में क्रमानुसार जैसा होना चाहिए था, 'रंगभूमि' की समस्या का विकसित रूप नहीं मिलता; प्रत्युत 'गोदान' की समस्या 'प्रेमाश्रम' में वर्णित विषय के ही अधिक समीप है। विशेषता इसमें केवल इतनी है कि उपन्यासकार ने अपने इस अंतिम उपन्यास ('गोदान') में यथावसर थोड़े परिवर्तन भी किये हैं। 'प्रेमाश्रम' की रचना के समय थोड़े से ही व्यक्ति ग्राम-समस्या के प्रश्न पर विचार कर रहे थे; परंतु वर्तमान समय में इसके विपरीत, जनता और काँग्रेसी सरकार, दोनों इस विषय में रुचि ले रहे हैं। यही बात 'गोदान' में भी मिलती है। सामाजिक और धार्मिक रचनाओं के विषय में भी यही सत्य है। परिणामस्वरूप 'गोदान' में एक ओर तो ग्रामों की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक स्थितियों की वर्तमान दशा का दिग्दर्शन कराया गया है और दूसरी ओर निकटतम संबंधित उन नागरिकों के आचार-विचार, रहन-सहन, वेश-भूषा और उद्देश्य-आदर्श का, जो नगरों में शान-शौकत से रहते हैं, सुख से जीवन बिताते हैं, और शहरों के

पचासों आदमियों को अपना गुलाम समझते हैं। राजनीतिक शब्दावली में इन नागरिकों को पूँजीपतियों के नाम से पुकारा गया है। वर्तमान समय में इनका जो विरोध किया जा रहा है, उसके संबंध में प्रेमचंद जी ने अधिक नहीं लिखा ; परंतु उन्होंने यह अवश्य दिखा दिया कि सुधार करने की इच्छा रखनेवाले अधिकांश पूँजीपति अपने शुभ प्रयत्न में किन-किन कारणों से असफल रहते हैं।

'गोदान' की प्रधान समस्या यह दिखलाना है कि भारतीय ग्रामीण और नागरिक जीवन में कितनी विषमता है। ग्राम-निवासी मनुष्यता के नाते अनेक गुणों से विभूषित होने पर भी कुछ तो स्वभाव की सरलता और निष्कपटता के कारण और कुछ अशिक्षा और कायदे-कानून के अज्ञान के कारण, जीवन भर पिसते ही रहते हैं और सबसे बड़ी विडंबना यह है कि प्राणी के जन्मसिद्ध अधिकार की बात तो दूर, वर्ष भर परिश्रम करके अनाज पैदा करने पर भी स्वयं उसकी ओर से कुछ दिन के लिए भी वे निश्चिन्त नहीं हो पाते। अपने टूटे-फूटे रूप में प्रचलित प्राचीन चातुर्वर्ण्य व्यवस्था ने उन्हें एक ओर लूट रखा है—पंडितों का मान रखते और सामाजिक मर्यादा निबाहते बेचारे पिसे जाते हैं और दूसरी ओर वर्तमान अर्थ-वितरण की विषमता ने उन्हें महाजनों के चंगुल में बुरी तरह फाँस रखा है। वर्तमान राजनीतिक प्रगति और अपने अधिकारों की अनभिज्ञता उन्हें सभी तरह के अमानुषिक अत्याचार सहने और फिर भी अपनी दयनीय स्थिति से संतुष्ट रहने के लिए प्रेरित करती रहती है।

'गोदान' के नागरिक पात्र, इसके विपरीत, शोषक वर्ग के हैं जिन्हें शोषित प्राणियों को तड़पते देख कर आनंद आता और इन्हें सताने से ही जिनका मनोरंजन होता है। किसानों-मजदूरों से उचित-अनुचित ढंग से उनकी मेहनत की कमाई वसूल करके यह वर्ग गुलछर्रे उड़ाता है, दावतें खाता है, सैर-सपाटे करता है, शिकार खेलता है और सब प्रकार के संघर्षों से निश्चिन्त होकर अधिकाधिक धन कमाने के लिए नयी-नयी योजनाएँ बनाता है। मिस्टर खन्ना और प्रोफेसर मेहता दोनों विभिन्न दृष्टियों से इस वर्ग के प्रतिनिधि हैं। खन्ना के पास बहुत अधिक धन है, इसलिए वह पक्का शोषक है ; अपने मित्रों से भी किसी तरह की रू-रियायत नहीं करता। पर डाक्टर मेहता की शिक्षा और संस्कार मनुष्यता से उन्हें इतना नहीं गिरने देते।

'गोदान' की दूसरी प्रधान समस्या पारिवारिक जीवन के सुख-शांति से संबंध

रखती है। खन्ना और गोविंदी का गार्हस्थ्य जीवन किसी तरह सुखी नहीं किया जा सकता। खन्ना कई लाख के आदमी और नयी शुगर मिल के मालिक होकर भी सुखी नहीं हैं, गोविंदी अनेक गुणों से युक्त होकर पति को प्रसन्न नहीं कर पाती। इधर मालती अपने रसिक-वर्ग में से मिस्टर मेहता की ओर झुकती है और वे दार्शनिक विवेचना में रत रहते हुए भी विवाह और प्रेम का प्रश्न आ जाने पर भावुकता और सहृदयताजनित सरलता छोड़कर कठोर परीक्षक के रूप में सामने आते हैं। उपन्यास के अतिमांश में लेखक ने इसी महत्वपूर्ण समस्या पर सभी दृष्टियों से विचार किया है। इधर के प्रायः सभी परिच्छेदों में घूम-फिर कर इसी विषय पर लेखक के आ जाने से ज्ञात होता है कि उसकी दृष्टि में यह समस्या बहुत महत्वपूर्ण है।

गार्हस्थ्य जीवन को सुखी बनाने के लिए पहला उपाय जो लेखक को सूझा है, वह है अधिक धन से छुटकारा पाना। पूँजीपति बन कर, लेखक का मत है, कोई व्यक्ति सच्चा सुखी नहीं हो सकता; क्योंकि इस वर्ग का सदस्य होने का सम्मान प्राप्त करते ही वातावरण के दोष चरित्र में आने लगते हैं और व्यक्ति के लिए प्राण या जीव से धन का मूल्य बहुत बढ़ जाता है। धन-लिप्सा तीव्र होने पर पूँजीपति वर्ग का प्राणी शारीरिक और मानसिक भोजन के लिए उत्तेजक पदार्थ जितनी रुचि से चाहता और अपनाता है, पौष्टिक खाद्य उतने चाव से नहीं। खन्ना का बार-बार चटक-मटक वाली तितली मालती की ओर लपकना इस कथन की सत्यता का प्रमाण है। परंतु इस वर्ग का व्यक्ति अपने प्रिय पात्रों से स्थायी संबंध नहीं रखना चाहता। ये उसके लिए विलास की अन्य सामग्रियों की भाँति हैं जिनका उपयोग करके वह क्षणिक सुख पाता है। अपना वह अपनी इन प्रेयसियों को कभी नहीं सकता; सभी ढंगों से प्रेम-प्रदर्शन द्वारा अपने प्रति उन्हें आकर्षित करने का प्रयत्न करके भी उनसे स्थायी संबंध स्थापित करना नहीं चाहता। रसिकप्रवर मिस्टर खन्ना भी मालती को 'प्यारा खिलौना' भर समझते हैं।

मेहता और मालती का स्वच्छंद प्रेम आज की तीसरी महत्वपूर्ण समस्या है जिसका संबंध उस शिक्षित समाज से है जिसने भारतीय तो कम, परंतु विदेशी वातावरण का अधिक व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया है, और पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करनेवाले समाज में जो प्रायः सरुचि विचरते हैं। मेहता और मालती ने इस जीवन में पदार्पण करनेवालों के दायित्व, कर्तव्य और योग्यता की विवेचना भर कर दी है।

यह स्वच्छंद प्रेम स्त्री-स्वतंत्रता-संबंधी आंदोलन का फल है। सामाजिक जीवन में स्त्री का पति के प्रति कर्तव्य ही मुख्य धर्म समझा जाता है। आज इस कर्तव्य को बंधन समझकर नारी-समाज स्वतंत्रता चाहता है। दूसरे शब्दों में, आज प्राचीन भारतीय और आधुनिक पाश्चात्य आदर्शों का संघर्ष हो रहा है। प्रेमचंद जी ने इस समस्या को बहुत अच्छी तरह समझा है। उनका 'गोदान' एक ऐसा रंगमंच है जहाँ इन दोनों आदर्शों से प्रभावित स्त्रियों का संघर्ष दिखाया गया है। मिस्टर खन्ना की स्त्री हमारी भारतीय नारी है जो पति से तिरस्कृत होकर भी पति-सेवा और पुत्र-प्रेम को जीवन का एक मात्र उद्देश्य समझकर अपनाये रहती है; संबंध-विच्छेद के लिए वह न्यायालय जाने की आवश्यकता नहीं समझती। दूसरी ओर मालती है जिसे हम आधुनिक पाश्चात्य रंग में रँगी फुदकती तितली के रूप में पाते हैं। हमारे मिस्टर खन्ना सरीखे शिक्षित और धनी-मानी सज्जन अपनी बीवी को 'दाल-भात' बताकर मिठाई चाहते हैं और रँगरेलियों में मस्त मालती-सरीखी 'कुमारियों' के तलुए चाटने में ही जीवन की सफलता समझते हैं। फलस्वरूप अपनी स्त्री का तिरस्कार करके उन्हें जैसी मानसिक अशांति होती है, उनकी दशा जैसी दयनीय हो जाती है, उसका परिचय हमें खन्ना की कहानी से मिल जाता है।

अशांति और निराशा-प्रदर्शन संबंधी इस कार्य में, सम्भव है, किसी को विचारों की संकीर्णता दिखायी दे। परंतु स्त्री-स्वतंत्रता-विषयक मिस्टर मेहता का व्याख्यान उस सत्य और सूक्ष्म विवेचना का परिचायक है जो भारतीय सामाजिक जीवन को सुखद और उन्नत बनाने तथा प्रचलित सामाजिक दोषों को दूर करने के लिए अत्यंत आवश्यक है। अपवाद-स्वरूप धनियों के, जिनकी संख्या भारत में कदाचित् एक प्रतिशत भी नहीं है, एकाध विवाह को छोड़कर हमें तो यह विदेशी बीज भारत की उर्वरा-फलवंत भूमि में भी फूलता-फलता नहीं दिखायी देता। यदि वैज्ञानिक ढंग से इस कार्य में कोई सफलता प्राप्त भी कर लेगा तो उसमें पाश्चात्य कृत्रिमता ही मिलेगी, भारतीय स्वाभाविकता नहीं।

प्रश्न हो सकता है कि क्या प्रेमचंद जी आधुनिक स्त्री-शिक्षा के विरोधी हैं। इसका सीधा-सदा उत्तर यही है कि शिक्षा का हमारा उद्देश्य स्त्री को उसका कर्तव्य समझाना और पति के कार्य में सहायता करने योग्य बनाना मात्र रहा है। प्रेमचंद जी इसी के पक्षपाती हैं। आधुनिक शिक्षित नवयुवतियों में जैसी लाजहीन उद्दंडता-स्वछंदता दिखायी देती है, उसे वे आदर की दृष्टि से

नहीं देखते। ध्यान रहे कि स्त्रियों के प्रति उनके हृदय में बड़ा सम्मान था, फिर भी मिस मालती मरीखी शिक्षित नवयुवतियाँ और उनका वाह्य आडंबरपूर्ण शृंगार उन्हें पसंद नहीं था। मिस मालती का चित्र देखिए—

दूसरी महिला जो ऊँची एड़ी का जूता पहने हुए हैं और जिनकी मुख-छवि पर हँसी फूटी पड़ती है, मिस मालती हैं। आप इँगलैंड से डाक्टरी पढ़ आयी हैं और अब प्रेक्टिस करती हैं। ताल्लुकेदारों के महलों में उनका बहुत प्रवेश है। आप नवयुग की साक्षात प्रतिमा हैं। गात कोमल, चपलता कूट-कूटकर भरी हुई, झिझक या संकोच का नाम नहीं, मेकअप में प्रवीण, बला की हाजिर जवाब, पुरुष - मनोविज्ञान की अच्छी जानकार, आमोद-प्रमोद को जीवन का तत्त्व समझनेवाली, लुभाने और रिझाने की कला में निपुण, जहाँ आत्मा का स्थान है वहाँ हाव-भाव, मनोद्गारों पर कठोर निग्रह, जिनमें इच्छा या अभिलाषा का लोप-सा हो गया है[1]।

यह है हमारी शिक्षिता, अविवाहिता, नवयुवती का चित्र। आधुनिक स्त्री स्वतंत्रता-संबंधी आंदोलन के पक्षपाती पुरुष भी बहुत हैं और स्त्रियाँ भी। अपने हृदय पर हाथ रखकर वे स्वयं सोचें—केवल मौखिक उपदेशों और व्याख्यानों से काम नहीं चलेगा—कि क्या वे अपनी पुत्री को उक्त मिस मालती बनाना चाहती हैं? क्या मिस मालती बनकर अपने गृहस्थ-जीवन में उनको कभी सुख मिल सकेगा?

आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा का जो सबसे भयंकर प्रभाव हमारी नवयुवतियों पर पड़ा है, वह हमारी सम्मति में यही है कि उन्होंने सम्भवतः भौतिकता को ही प्रधानता देकर गम्भीर अध्ययन, मौलिक विवेचन और सरल आचरणसंबंधी प्राचीन भारतीय आदर्श को सर्वथा भुला दिया है। फलतः हमारे पढ़े-लिखे युवकों को फैशनेबिल लेडियाँ, और शिक्षिता अविवाहिता नवयुवतियों को फैशनेबुल जेंटिलमैन ही पसंद आते हैं। यदि इस पसंद का कारण समता, प्रेम, भक्ति, त्याग आदि की नींव होती तो बड़ी सुन्दर बात थी; परंतु यदि इसका कारण क्षणिक भावावेश-सा अज्ञान ही है तब हम उनकी प्रशंसा नहीं कर सकते। प्रेमचंदजी के विचार भी यही हैं। 'गोदान' के मिस्टर खन्ना धनी हैं, सज्जन, शिक्षित, उदार, अधिकारी और जनता की दृष्टि में सभी-कुछ हैं; परंतु उनको अपनी सती-साध्वी स्त्री गोविंदी से प्रेम नहीं है; हाँ, उनका हृदयोद्यान मिस

---

१. 'गोदान', पृ० ८९-९०।

मालती के कृत्रिम कलरव से गूँज उठता है। प्रेमचंद की दृष्टि में मिस्टर खन्ना का इस प्रकार अपनी पत्नी से विश्वासघात करना सरासर मूर्खता है—घर आये नाग न पूजिए, बाँबी पूजन जाय—सा है। सारी परिस्थिति की आलोचना मिस्टर मेहता के मुँह से कराते हुए वे कहते हैं—

खन्ना अभागे हैं जो हीरा पाकर काँच का टुकड़ा समझ रहे हैं। सोचिए, (उनकी स्त्री में) कितना त्याग है और उसके साथ ही (पति से) कितना प्रेम है! खन्ना के कामासक्त मन में शायद उनके लिए रत्ती भर भी स्थान नहीं है। लेकिन आज खन्ना पर कोई आपत आ जाय, तो वह अपने को उन पर न्योछावर कर देगी। खन्ना आज अंधे या कोढ़ी हो जायँ तो भी उसकी वफादारी में फर्क न आयेगा। अभी खन्ना उसकी कद्र नहीं कर रहे, मगर आप देखेंगे, यही खन्ना एक दिन उसके चरण धोकर पियेंगे। मैं ऐसी बीबी नहीं चाहता जिससे मैं आइंसटीन के सिद्धांत पर बहस कर सकूँ, या जो मेरी रचनाओं के प्रूफ देखा करे। मैं ऐसी औरत चाहता हूँ, जो मेरे जीवन को पवित्र और उज्ज्वल बना दे, अपने प्रेम और त्याग से[1]।

अतः स्पष्ट है कि यद्यपि प्रेमचंद जी स्त्रियों के लिए शिक्षा की आवश्यकता समझते थे, परंतु सुप्रसिद्ध अँगरेजी लेखक जान रस्किन की तरह उनकी स्त्री-शिक्षा का उद्देश्य भी स्त्रियों को उनके पति-प्रेम का महत्व समझाना था, फैशन अथवा विलासप्रियता की वृद्धि करना नहीं, जिसे आज सभ्यता के अंतर्गत बतलाया जाता है। पाश्चात्य देशों की तरह स्त्रियों से वे पैसा नहीं पैदा कराना चाहते थे। इस बात का प्रमाण 'कायाकल्प' में उस स्थान पर मिलता है जब उसका नायक अपनी स्त्री के लेख के पारिश्रमिक संबंधी धन से लाये हुए कंबल को ओढ़ने की अपेक्षा सर्दी में ठिठुरते हुए रात काट देता है। कुछ लोग ऐसे कार्य को लकीर के फकीर का-सा बतलावेंगे। परंतु वस्तुतः इसका कारण यह है कि भारतीय समाज में स्त्री के भरण-पोषण का अधिकार पुरुष को है। स्त्री यदि स्वयं इसकी चिंता करेगी, स्वयं पैसा पैदा करने का प्रयत्न करेगी, तो भारतीय आदर्श के विपरीत, यह निश्चित है कि पति से स्वाधीन होने का विचार उसमें पैदा होगा, जो क्रमशः किसी न किसी समय, पारस्परिक विरोध का रूप धारण करेगा, इसका परिणाम अंततः कलह है। संभव है, साथ-साथ धन कमानेवाले दंपति में प्रेम, सहानुभूति और त्याग के सात्विक भाव भी हों; पर ऐसा प्रायः बहुत

---

१. 'गोदान', पृ० २४४।

कम होता है। कारण, दिन भर के हारे-थके पुरुष की सारी थकावट घर की स्वामिनी की एक मधुर मुस्कान से तो दूर हो सकती है, पर कमाऊ स्त्री के थके-माँदे प्यार से नहीं। एक शब्द में इसका आशय यही है कि प्रेमचंद जी स्त्री-शिक्षा के पक्षपाती होते हुए भी उसे घर की स्वामिनी बनाना चाहते हैं, बाहर के सार्वजनिक जीवन का ऐसा प्रतिद्वंदी नहीं जिसको हम जानते हैं कि कारण-विशेष से सदैव 'प्रिफ़रेंस' दिया जाता है।

अतः स्वतंत्रता-संबंधी आधुनिक स्त्री-आंदोलन के संबंध में प्रेमचंद जी की सम्मति है कि स्त्रियाँ स्वतंत्रता के लिए जो आंदोलन कर रही हैं, वह केवल इसलिए कि आज पुरुष-समाज उनका आदर नहीं करना चाहता ; उसमें वे गुण ही नहीं हैं और न है गुण-ग्राहकता। 'गोदान' की मिसेज खन्ना के मुँह से यही बात सुनिए—वास्तव में पुरुष अपना कर्तव्य भूला हुआ है कि नारी श्रेष्ठ है और सारी जिम्मेदारी उसी पर है। श्रेष्ठ पुरुष है और उसी पर गृहस्थी का सारा भार है। नारी में सेवा, संयम और कर्तव्य सब कुछ वही पैदा कर सकता है। अगर उसमें इन बातों का अभाव है तो नारी में भी रहेगा। नारियों में आज जो विद्रोह है, इसका कारण पुरुषों का इन गुणों से शून्य हो जाना है।

यह विचार अधिकांश में ठीक ही है। भौतिकवाद संबंधी पाश्चात्य आदर्श को जीवन का चरम लक्ष्य समझनेवाले नवयुवक, स्त्रियों को केवल मनोरंजन का ऐसा मुख्य साधन समझते हैं जो दैवी एवं मानुषी सामाजिक नियमों की सहायता से उन्हें उपलब्ध है। युवावस्था के आवेगपूर्ण आवेश में वे गार्हस्थ्य जीवन की शांति और सामाजिक उन्नति का विचार न कर नवयुवतियों के मुख्यतः वाह्य रूप और आकर्षण पर मुग्ध हो जाते हैं। परिणामस्वरूप रूप का वाह्य आकर्षण उनके आवेशपूर्ण उन्माद को उत्तेजित तो अवश्य करता है, परंतु संतुष्ट नहीं। उधर मानव-जीवन के समस्त संघर्ष का मूल कारण पूर्ण सुख-प्राप्ति संबंधी उद्योग है। फल यह होता है कि संतुष्ट न होकर अंत में उनका जीवन अशांतिपूर्ण हो जाता है। इस असंतोष और अशांति को दूर करके सुख-संतोष प्राप्त करना ही प्रेमचंद के स्त्री-समाज का प्रधान उद्देश्य है। इसका उपाय उन्होंने मिस्टर मेहता के व्याख्यान द्वारा बता दिया है। नवयुवतियों की शंकाओं का समाधान भी उन्होंने कर दिया है। अपने सामाजिक गृहस्थ-जीवन में जिस शांति और सुख-संतोष के लिए मनुष्य लालायित और प्रयत्नशील रहता है वही प्राप्त करना जिन्होंने अपना जीवनादर्श बना लिया है, या समझते हों, उन्हें

मिस्टर मेहता के उस व्याख्यान का सहृदयतापूर्वक अध्ययन करना चाहिए। स्त्रियों की आधुनिक समस्या भी---प्रत्येक प्रश्न को राजनीतिक दृष्टि से देखने वाले जिसे 'आंदोलन' के नाम से पुकारते हैं --उससे स्पष्ट हो जाती है और उसके पक्षपातियों की शंकाओं का समाधान करने में भी हम सफल हो सकते हैं।

इस संबंध में एक बात वे पुरुषों से भी पूछते हैं। हम क्यों ऐसा समझते हैं कि स्त्रियों का जीवन केवल भोग-विलास के लिए ही है? क्या, उनका हृदय ऊँचे और पवित्र भावों से शून्य होता है? वास्तव में हमीं ने उन्हें कामिनी, रमणी, सुंदरी आदि विलाससूचक नाम देकर वास्तविक वीरता, त्याग और उत्सर्ग से शून्य कर दिया है। अगर सभी पुरुष वासनाप्रिय नहीं होते तो सभी स्त्रियाँ वासनाप्रिय क्यों होने लगीं। ('कायाकल्प' पृ० ४३६)? सत्य ही इन बातों पर सहृदयतापूर्वक विचार करने से ही यह सामाजिक समस्या हल हो सकती है। हमारे सुधारक कोरी लेक्चरबाजी न करके समस्या अथवा आंदोलन के मूल कारणों की प्रेमचंद जी की ही तरह विवेचना करेंगे तभी उन्हें सफलता मिलेगी।

'प्रसाद' जी का 'चंद्रगुप्त'

ऐतिहासिक आधार—

प्रसाद जी के समस्त ऐतिहासिक नाटकों में कदाचित् 'चंद्रगुप्त' ही ऐसा है जिसके प्रायः सभी प्रमुख पुरुष पात्रों के नाम इतिहास में मिलते हैं। भारतीय पात्रों में नंद, राक्षस, वररुचि, शकटार, चंद्रगुप्त, चाणक्य, आंभीक और पर्व्वतेश्वर तथा यवनों में सिकंदर, सिल्यूकस, फिलिप्स, मेगस्थनीज, सभी इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। स्त्री-पात्रों में नंद और सिल्यूकस की एक-एक कन्या की चर्चा भी इतिहासों में मिलती है। प्रसाद जी ने इन्हें क्रमशः कल्याणी और कार्नेलिया नाम दिये हैं। इसी प्रकार इस नाटक की प्रमुख घटनाएँ भी इतिहास-सम्मत ही हैं।

प्रस्तुत नाटक की कथा के लिए 'प्रसाद' जी ने प्रायः वे ही घटनाएँ चुनी हैं जो या तो ऐतिहासिक सत्य के रूप में प्रचलित हैं या जिनके विषय में इतिहासकारों में मत-भेद है और 'प्रसाद' जी ने अपनी सम्मति देना आवश्यक समझा है। इतिहास-सिद्ध इन सब आधारों और विवादग्रस्त विषयों की चर्चा प्रसाद जी ने 'चंद्रगुप्त' की भूमिका में की है। इनमें से कुछ यहाँ संकलित हैं—

१—ईसा से आठ सौ वर्ष पहले भारत में एक धार्मिक क्रांति हुई जिसमें, जिन जातियों को अपने कुल की क्रमागत वंश-मर्यादा भूल गयी थी, वे तपस्वी और पवित्र ब्राह्मणों के (अर्बुदगिरि वाले महान्) यज्ञ से संस्कृत होकर चार जातियों में विभाजित हुईं। इनका नाम अग्निकुल हुआ। + + + धीरे-धीरे भारत के श्रेठ राजन्यवर्गों में इनकी गणना होने लगी। यद्यपि इस कुल की भिन्न भिन्न पैंतालीस शाखाएँ हैं पर सबसे प्रधान और लोक-विश्रुत मौर्य नाम की शाखा है। + + + मोरियों का नगर पिप्पलीकानन था और वहाँ के मौर्य-नृपति भी बुद्ध की शरीर-भस्म लेनेवालों में एक थे—पृ० ३।

२—हिंदू नाटककार विशाखदत्त ने चंद्रगुप्त को प्रायः 'वृषल' कहकर संबोधित कराया है, इससे तत्कालीन हिंदू-काल की मनोवृत्ति ही ध्वनित होती है। वस्तुतः 'वृषल' शब्द से तो उनका क्षत्रियत्व और भी प्रमाणित होता है। ········ ···········जो क्षत्रिय लोग वैदिक क्रियाओं से उदासीन हो जाते थे, वे धार्मिक दृष्टि से वृषलत्व को प्राप्त होते थे। वस्तुतः वे जाति के क्षत्रिय थे—पृ० १०।

३—इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है—यह अधिक संभव है कि नंदों और मौर्यों का कोई रक्त-संबंध न था—पृ० ११।

४—मैक्समुलर भी लिखते हैं—मौर्य की उत्पत्ति मुरा से हुई, यह कथन भी प्रमाणित नहीं किया जा सका—पृ० ११।

५—अर्द्धकथा, स्थविरावली, कथा-सरित्सागर और ढुंढि कहते हैं कि जब नंद बहुत विलासी हुआ तो उसकी क्रूरता और भी बढ़ गयी। प्राचीन मंत्री शकटार को बंदी करके वररुचि नामक ब्राह्मण को उसने अपना मंत्री बनाया। ···············शकटार जब बंदी हुआ तब वररुचि ने उसे छुड़ाया और एक दिन यही दशा मंत्री वररुचि की भी हुई। इनका नाम कात्यायन भी था···········पाणिनि के सूत्रों के यही वार्तिककार कात्यायन हैं—पृष्ठ १८।

६—जस्टिनस ने लिखा है—चंद्रगुप्त के व्यवहार से रुष्ट होकर नंद ने उसे बंदी बनाने की आज्ञा दी जिससे उसे प्राण बचाने के लिए भागना पड़ा—पृष्ठ २१।

७—ग्रीक इतिहास-लेखक भी सहमत हैं कि चंद्रगुप्त को राजक्रोध के कारण पाटलीपुत्र छोड़ना पड़ा—पृष्ठ २२।

८—कूटनीति-चतुर सिकंदर ने, जैसा कि ग्रीक-ग्रंथाकार कहते हैं, १००० टेलेंट (प्रायः अड़तीस लाख रुपया) देकर लोलुप देश-द्रोही तक्षशिलाधीश को अपना मित्र बनाया—पृष्ठ २३।

९—ग्रीक-ग्रंथकारों के द्वारा यह पता चलता है कि चंद्रगुप्त ने एक सप्ताह भी अपने को परमुखापेक्षी नहीं बना रखा और वह क्रुद्ध होकर वहाँ से (यवन-शिविर से) चला आया—पृष्ठ २३।

१०—जस्टिनस लिखता है—चंद्रगुप्त ने अपनी असहनशीलता के कारण सिकंदर को असंतुष्ट किया। वह सिकंदर का पूरा विरोधी बन गया। सिकंदर ने उसके वध की आज्ञा दी, पर चंद्रगुप्त भाग गया—पृष्ठ २४।

११—पुरु के युद्ध से जगद्विजयी सिकंदर को कहना पड़ा—'आज हमको बराबरी का भीम पराक्रमी शत्रु मिला और यूनानियों को तुल्य बल से आज युद्ध करना पड़ा।' इतना ही नहीं, सिकंदर का प्रसिद्ध अश्व 'बूका फेलस' इसी युद्ध में हत हुआ और सिकंदर स्वयं घायल हुआ—पृष्ठ २४।

१२—जस्टिनस कहता है—चंद्रगुप्त ने यवनों के पीठ फेरते ही उनके भारतीय प्रदेशवासियों को स्वतंत्र कर दिया और कुछ समय पश्चात् जिन्हें स्वतंत्रता प्रदान की थी, उन्हें अपने अधीन कर लिया—पृष्ठ २७, फुटनोट।

१३—इतिहासों से पता चलता है कि सिल्यूकस से चंद्रगुप्त का युद्ध सिंधु-तट पर हुआ—पृष्ठ ३४।

१४—बौद्ध-धर्म और पुराणों की कथाओं का अनुमान करने से जाना जाता है कि चाणक्य ही चंद्रगुप्त की उन्नति के मूल हैं—पृष्ठ ४८।

१५—जहाँ तक ज्ञात होता है चाणक्य वेद-धर्मावलंबी कूटराजनीतिज्ञ, प्रखर प्रतिभावान और हठी थे—पृष्ठ ५०।

इन तथा अन्यान्य ऐतिहासिक उल्लेखों के आधार पर 'प्रसाद' जी ने प्रस्तुत नाटक की रचना की है और जिन स्थलों पर प्राचीन जन-श्रुतियों या धार्मिक उल्लेखों से उनका मतभेद है उनकी विवेचना करना भी वे नहीं भूले हैं। इन उल्लेखों के आधार पर चंद्रगुप्त मौर्य का जो वृत्त इतिहास में मिलता है, वह इस प्रकार है—

ईसा की पाँचवीं शताब्दी पूर्व मोरिया जाति के क्षत्रियों का एक छोटा सा प्रजातंत्र राज्य वर्तमान गोरखपुर के पूर्वोत्तर में था। लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् शक्ति बढ़ने पर मगध ने उसे अपने अधिकार में कर लिया। चंद्रगुप्त मौर्य यहीं के किसी सरदार का जो संभवतः अपनी वीरता के कारण मगध का सेनापति नियुक्त किया गया था, पुत्र था। किशोरावस्था से ही चंद्रगुप्त स्वतंत्र राज्य-स्थापन के स्वप्न देखने लगा। इस समय तक उसका परिचय मगध के शासक नंद और उसके परिवार से हो चुका था और मगध की राजकुमारी उससे प्रेम भी करने लगी थी। शीघ्र ही चंद्रगुप्त को किसी शुभचिंतक के सुप्रयत्न से, यथोचित शिक्षाप्राप्ति के लिए अथवा अपने उक्त प्रयत्न में साधनहीनता के कारण असफल होने पर, पंचनद प्रदेश जाना पड़ा। यहाँ उसने तक्षशिला विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की।

पंजाब में उस समय अनेक छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य थे। प्रत्येक का शासक

वीरता और स्वाभिमान में दूसरे से बढ़कर था ; परंतु आपस में एकता न थी। नित्य ही पारस्परिक युद्ध उनकी शक्ति क्षीण किया करते थे। अवसर देख कर यूनानी सम्राट् सिकंदर ने भारत पर आक्रमण किया। गांधार-नरेश आंभीक ने, विभीषण बनकर उसे घर के भेद बताये और बदले में सिकंदर ने उसे झेलम और सिंधु के बीच की भूमि का शासक (क्षत्रप) बना दिया। आगे चल कर पौरव पर्व्वतेश्वर ने सिकंदर का सामना किया। यह भारतीय नरेश घर की फूट के कारण यद्यपि पराजित हुआ, तथापि इसकी वीरता, धीरता और साहस का सिकंदर पर बड़ा प्रभाव पड़ा। ऐसे वीर से मित्रता करने में उसने गौरव समझा और पौरव को उसने व्यास और झेलम के मध्यवर्ती प्रदेश का क्षत्रप नियुक्त कर दिया।

इस आक्रमण के समय चंद्रगुप्त पंजाब में ही था। विष्णुगुप्त नामक ब्राह्मण से, कल्पित नामधारी चणक का पुत्र होने के कारण जो आगे चलकर चाणक्य के नाम से विख्यात हुआ, चंद्रगुप्त की संभवतः तक्षशिला-विश्वविद्यालय में भेंट हुई, यद्यपि निवासी यह भी मगध का ही था। दोनों ने मिलकर विदेशी विजेता को पराजित करने के उद्देश्य से, भारतीयता और एकता की भावना का प्रचार करके, छोटे-छोटे राज्यों को संगठित करना चाहा। अनेक बाधाएँ इस मार्ग में आयीं ; परंतु अंत में सतत प्रयत्न के कारण इन्हें सफलता मिली।

मगध का शासन इस समय तक बहुत बिगड़ गया था। सिकंदर अपने प्रयत्न में सफल न हो जाय, इस आशंका से चाणक्य को मगध-दरबार में जाना पड़ा, जहाँ उसका अपमान ही हुआ। विदेशियों से छुट्टी पाकर मगध का शासन सुधारने की ओर चाणक्य ने ध्यान दिया। अपनी कुटिल नीति से, जिसके कारण उसका नाम कौटिल्य पड़ गया, उसे इसमें सफलता मिली। नंद के स्थान पर चंद्रगुप्त शासक बन गया और समस्त उत्तरी भारत पर विजय प्राप्त करके अपनी शक्ति उसने सुदृढ़ कर ली।

उधर सिकंदर का देहांत हो जाने पर उसके सेनापति सिल्यूकस ने भारत-विजय की इच्छा से पश्चिमोत्तर प्रदेश पर आक्रमण किया। प्रथम यवन-युद्ध को इस समय तक बीस-बाइस वर्ष बीत चुके थे। भारत की राजनीतिक स्थिति में इतने समय में बहुत परिवर्तन हो गया था। अतः सिल्यूकस को पूर्व की भाँति छोटे-छोटे क्षत्रपों से नहीं, चक्रवर्ती सम्राट् चंद्रगुप्त से लोहा लेना पड़ा। यवन-सेना इस युद्ध में बुरी तरह पराजित हुई और विजित प्रदेशों के साथ उसे

अपनी कन्या भी भारत-सम्राट् को सौंपनी पड़ी। पश्चात्, दोनों देशों में संधि हो गयी।

प्रधान कार्य और उसका विकास—

मुसलमानों के पैर भारत में ईसा की बारहवीं शताब्दी के पश्चात् जम सके। इसके पूर्व लगभग पाँच हजार वर्ष तक भारतीय स्वतंत्रता की कीर्ति बराबर उज्ज्वल बनी रही। बस, उस पर एक बहुत हल्का धब्बा है ग्रीकों की पंचनद-प्रदेशीय विजय का, पाश्चात्य इतिहासकारों ने अपने पक्षपात से, भारत पर बहुत पुरानी योरोपीय जीत सिद्ध करने के उद्देश्य से, जिसका सविस्तार और सांगोपांग वर्णन अपने ग्रंथों में किया है। उनके कथन का सारांश यह है कि यूनानी सेना का सामना भारतीय वीर किसी तरह न कर सके, अनेक बार उनसे ये पराजित हुए। विश्व-विजेता सिकन्दर का विचार इस विजय से उत्साहित होकर, समस्त भारत को पददलित करने का था, परंतु अन्त में अपने अति विस्तृत साम्राज्य में किसी आंतरिक विद्रोह की सूचना पाकर उसने यह विचार स्थगित कर दिया और स्थल-पथ से अपनी सेना भेजकर स्वयं जल-मार्ग से लौट गया।

परंतु इधर की ऐतिहासिक खोज से पता लगता है कि विदेशी इतिहासकारों का यह कथन नितांत पक्षपातपूर्ण और कल्पनाधारित ही है; तथा सिकंदर द्वारा भारत-विजय को स्थगित करने और इस प्रकार उसका विश्व-विजय का लुभावना स्वप्न भंग होने का मूल कारण यह था कि उसकी सेना पर भारतीय वीरता का आतंक बैठ गया था। यह बात पाश्चात्य इतिहासकारों ने भी स्वीकारी है कि पौरव पर्व्वतेश्वर की सेना ने यूनानियों का जिस वीरता से सामना किया था वह सिकंदर को भी अभूतपूर्व और अति उन्नत जान पड़ी थी तथा इसीलिए उसने पौरव वीर से संधि करना उचित समझा था। इस युद्ध में दाँत खट्टे हो जाने पर विजयी यूनानी सेना का साहस टूट गया। इसी समय उसे मगध की उस लक्षाधिक सेना के संगठित होने की सूचना मिली जो पौरव सेना से अधिक कुशल तथा शक्तिशालनी थी। सिकंदर ने इसका सामना करने के लिए अपनी सेना को सभी तरह से बार-बार समझाया; परंतु आगे बढ़ने के लिए वह किसी तरह तैयार न हुई। ऐसी स्थिति में, बहुत संभव है, हार खाने की आशंका से, जीवन भर विश्व-विजेता कहलाने के पश्चात् भारत में पराजित होने

के कलंक से बचने के लिए विवश होकर सिकंदर ने रावी तट तक आकर लौट जाना ही उचित समझा हो।

प्रस्तुत नाटक की रचना यही दूसरी बात सामने रखकर की गयी है। नाटककार इसमें सिद्ध करना चाहता है कि भारत में रावी तट तक सिकंदर के बढ़ आने का कारण था पंचनद-प्रदेश का उस समय छोटे-छोटे राज्यों में बँटा होना जिनमें पारस्परिक संगठन का अभाव था। परंतु पौरव पर्वतेश्वर की पराजय से चिंतित होकर, स्वदेश की स्वतंत्रता को संकट में जानकर, अनेक भारतीय युवक सचेत हुए और उन छोटी-छोटी शक्तियों को उन्होंने इस तरह संगठित किया कि यवन-सेना को लौटते समय पग-पग पर बाधाओं और विरोधों का सामना करना पड़ा ; अनेक प्रकार की क्षति उठानी पड़ी। स्वयं सिकंदर ऐसे ही एक युद्ध में घायल हुआ और कुछ इतिहासकारों का मत है कि इसी घाव के कारण बैबिलोनिया में उसकी मृत्यु हो गयी।

लगभग बीस वर्ष पश्चात् नये यूनानी सम्राट् सिल्यूकस ने अपने पूर्वाधिकारी के अधूरे कार्य को पूर्ण करने का पुनः साहस किया। भारत की स्थिति इस समय तक बदल चुकी थी और छोटे-छोटे राज्यों के स्थान पर मगध के चक्रवर्ती सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य का सुशासन था। सिल्यूकस इस परिवर्तन से पूर्णतः अवगत था और इसलिए उसके साहस की प्रशंसा करनी चाहिए। दो-चार छोटे-मोटे स्थानों को जीतने के बाद यूनानियों का सामना मगध की चतुरंगिणी सेना से हुआ। सिल्यूकस की वीर सेना ने शक्ति भर प्रयत्न किया ; परंतु भारतीयों के सामने उसके पैर उखड़ गये और चाणक्य की कूटनीतियुक्त दूरदर्शिता ने उन्हें भागने का रास्ता भी न दिया। अंत में सिल्यूकस को संधि करनी पड़ी और विजित प्रदेशों के साथ अपनी कन्या भी चंद्रगुप्त को सौंपने में उसने गौरव समझा।

सारांश यह कि दो बार यूनानियों को भारत में आगे बढ़ने से रोकना और पश्चात् अपने देश से उन्हें निकाल कर स्वतंत्र भारत की कीर्ति की उज्ज्वलता बनाये रखना, इस नाटक का महत्त्वपूर्ण कार्य है, चंद्रगुप्त और चाणक्य जिसकी सिद्धि के लिए प्रयत्नशील हैं तथा लेखक ने जिसके संबंध में नाटक के प्रथम दृश्य में ही संकेत कर दिया है।

कार्य की अवस्थाएँ—पाँच अंक के नाटक में विकसित होनेवाली कथा के पाँच अंग—आरंभ, विकास, चरम सीमा, उतार और समाप्ति—स्पष्ट रहते हैं।

प्रस्तुत नाटक चार अंक का है जिनमें दृश्यों की संख्या क्रमशः ग्यारह, दस, नौ और चौदह है। शास्त्रीय दृष्टि से आगे के अंकों की संख्या घटती जानी चाहिए। 'चंद्रगुप्त' के प्रथम तीन अंकों में इस नियम का पालन किया गया है। चौथे अंक के सबसे बड़े होने का कारण यह है कि आरंभ में लेखक ने दो अंकों में इसे विभाजित करना चाहा था; परंतु नाटक के आदि से ही कथा का विकास इस ढंग से हुआ कि केवल चार अंकों में ही उसका विभाजन हो सका। इन चारों में यवनों के दो आक्रमणों का वर्णन है—प्रथम यवन-सेना को भारतीय वीर आगे बढ़ने का विचार छोड़कर लौटने पर विवश करते हैं और दूसरी को पराजित करके संधि करने पर। दोनों आक्रमणों के अवकाश का समय मगध-शासन में आमूल परिवर्तन करने में लगता है। इस तरह नाटक की दो कथाएँ हो जाती हैं। एक, सिकंदर का भारतागमन जिसका 'आरंभ' यवन-आक्रमण से प्रथम अंक में होता है। इस कथा का 'विकास' अर्थात् यवनों का झेलम तट तक का प्रदेश जीत कर आगे बढ़ना, 'सीमा' अर्थात् पौरव पर्व्वतेश्वर को पराजित करके अपनी शक्ति का परिचय देना, और 'उतार' अर्थात् भयभीत यवन-सेना को स्वदेश लौटने के लिए विवश करना द्वितीय अंक के विषय हैं। इस प्रथम कथा की 'समाप्ति' तृतीय अंक में है; क्योंकि इसी में सिकंदर के भारत से जाने की बाकी कहानी है। इस अंक का शेषांश मगध-शासन-परिवर्तन द्वारा चंद्रगुप्त को साधन-संपन्न बनाने से संबंध रखता है जिसे द्वितीय यवनाक्रमण की 'प्रस्तावना' कह सकते हैं। कारण यह है कि मगध का सिंहासन पाने के पश्चात् ही भारत-विजय के यवनों के द्वितीय प्रयत्न को विफल करने में भारतीय वीर सफल हो सके।

चतुर्थ अंक में दूसरे यवनाक्रमण की पूरी कहानी है; कथा-विकास के पाँच अंग एक ही अंक में दिखाये गये हैं और इसी से दृश्यों की संख्या बढ़कर चौदह हो गयी है। सम्मिलित रूप से इस नाटक की सारी कथा का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—

आरंभ—सिकंदर का भारतागमन। पर्व्वतेश्वर से अपने 'बद्धमूल बैर का प्रतिशोध' लेने के लिए गांधारराज आंभीक उसका स्वागत करता है। फलस्वरूप यूनानी सेना की शक्ति बढ़ गयी और उसका कार्य सरल हो गया। सिकंदर का विरोध करने के लिए चंद्रगुप्त और चाणक्य तैयार हुए। वे सर्वथा साधन-हीन हैं, परंतु दांड्यायन की भविष्यवाणी सुनकर यवन-सम्राट् अपनी सफलता के

संबंध में निश्चित हो जाता है और पाठक के मन में उत्सुकतामय आशा का उदय होता है।

विकास और सीमा—द्वितीय अंक में सिकन्दर की यूनानी सेना झेलम तक पहुँच जाती है। पर्व्वतेश्वर उसका विरोध करता, पर पराजित होता है। इस भारतीय नरेश के साहस से प्रभावित होकर सिकन्दर ने उसके साथ नरपति-सा व्यवहार किया; स्वयं मैत्री का प्रस्ताव करके उससे संधि कर ली। यूनानी विजय की यह चरम सीमा है। इस युद्ध में सिकन्दर की सेना शिथिल हो जाती है। अवसर पाकर चंद्रगुप्त, 'पंचनद के सैनिकों से भी दुर्द्धर्ष कई लक्ष मगध के रणकुशल योद्धा शतद्रु-तट पर तुम लोगों की प्रतीक्षा कर रहे हैं और नंद के पास कई लाख सेना है' आदि बातों का प्रचार यूनानियों में करता है। परिणाम यह हुआ कि उन लोगों में आतंक छा गया; एक प्रकार का विद्रोह फैल गया और सम्राट् के बार-बार उत्साहित करने पर भी यूनानी-सेना ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। विवश होकर सिकन्दर को लौटना पड़ा। सेना का कुछ भाग उसने थल-पथ से वापस कर दिया और शेष के साथ वह स्वयं जल-मार्ग से लौटा जिसका उद्देश्य यह था कि लौटते समय तो कुछ प्रदेश जीत ही लिया जाय। इस उद्देश्य में भी उसे सफलता न मिल सकी। चंद्रगुप्त और चाणक्य के प्रयत्न से क्षुद्रक और मालव जातियों में संधि हो गयी; चन्द्रगुप्त उनकी सम्मिलित सेना का नायक बनाया गया और मगध से आये गुल्म भी उसी के अधीन रहे। इस भारतीय सेना ने यवनों का पथ-पथ पर विरोध किया और उसको बहुत क्षति पहुँचायी। इस प्रकार प्रथम यवन-आक्रमण विफल हुआ।

उतार—तृतीय अंक में नौ दृश्य हैं। पहले दो में भारतीयों के वीर कार्यों की चर्चा है और तीसरे में हँसता हुआ सिकन्दर नौका पर स्वदेश की ओर चल देता है। प्रथम यवनाक्रमण से इस प्रकार छुट्टी पाकर चाणक्य ने मगध के क्रूर शासन का अंत करने और इस प्रकार चंद्रगुप्त को भविष्य के लिए साधन-सम्पन्न बनाने की ओर ध्यान दिया। सिकदर को पराजित करने के लिए पहली बार मालवों और क्षुद्रकों की सहायता चंद्रगुप्त को माँगनी पड़ी थी। अब वह स्वयं शक्तिशाली है और यह आशा की जाती है कि यवनों के पुनः आक्रमण को विफल बनाने में इस बार वह सरलता से सफल हो सकेगा। इस तरह मगध-शासन-परिवर्तन-संबंधी यह घटना अंतिम यवनाक्रमण को विफल बनाने के लिए बिखरी हुई भारतीय शक्ति को संगठित करने का महत्वपूर्ण

प्रयत्न है जिससे आगामी संघर्ष में भारत के वीरों की विजय निश्चित हो जाती है।

समाप्ति—यवनों के नये सम्राट सिल्यूकस का भयानक आक्रमण। अब वह अपनी 'पश्चिमी राजनीति से स्वतंत्र हो गया है और सिकंदर के पूर्वी प्रांतों की ओर दत्तचित्त है'। स्पष्ट है कि इस बार यवनों का सेनापति अधिक निश्चित है और अंतिम संघर्ष के लिए तैयार है। भारतीय वीर उसका सामना करने के लिए बढ़ते हैं। घोर युद्ध में यवन-सेना पराजित होती है और चाणक्य की चाल से समस्त ग्रीक-शिविर बन्दी हो जाता है। मालव और तक्षशिला की सेना को हिरात के पथ पर खड़ी करके 'यवनों का लौटना भी उसने असंभव कर दिया है'। अंत में संधि होती है। 'आर्यावर्त्त की नैसर्गिक सीमा तक का प्रदेश' और साथ में अपनी कन्या देने के लिए सिल्यूकस को तैयार होना पड़ता है। विश्व-विजेता यवनों के दो प्रयत्नों को इस प्रकार विफल करके, भारतीय वीरता का गौरवपूर्ण प्रदर्शन करने के पश्चात्, नाटक की सुखद समाप्ति होती है।

सामयिक स्थिति का चित्रण—

तत्कालीन राजनीतिक स्थिति—ईसा के तीन सौ वर्ष पूर्व की स्थिति का इस नाटक में चित्रण है। देश में तब राजतंत्र और गणतंत्र, दोनों प्रकार की शासन-पद्धतियाँ थीं। वीरता का उस समय अभाव नहीं था; परंतु सामूहिक समस्याओं की उपेक्षा करके व्यक्तिगत वैमनस्य में राजा-प्रजा, दोनों फँसे थे और निजी मान-सम्मान का झगड़ा निबटाने के लिए विपक्षियों का विनाश विदेशियों द्वारा होते देखना चाहते थे। पंचनद-नरेश पर्व्वतेश्वर से विरोध के कारण क्षुद्र-हृदय आंभीक यवनों का स्वागत करता है। प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में तत्कालीन स्थिति के संबंध में इस प्रकार संकेत किया गया है—'आर्यावर्त्त का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रतारणा की लेखनी और मसी प्रस्तुत हो रही है; उत्तरापथ के खंड राज्य द्वेष से जर्जर हैं..............दस्यु और म्लेच्छ साम्राज्य बना रहे हैं और आर्य-जाति पतन के कगारे पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही है'। इसी अंक के पाँचवें दृश्य में चाणक्य सारी स्थिति समझाने का पुनः प्रयत्न करता है—'यवनों की विकट वाहिनी निषध पर्व्वतमाला तक

पहुँच गयी है। तक्षशिलाधीश की भी उसमें अभिसंधि है। संभवतः समस्त आर्यावर्त्त पादाक्रांत होगा। उत्तरापथ में बहुत से छोटे-छोटे राज्य हैं, वे उस सम्मिलित पारसीक यवन-बल को रोकने में असमर्थ होंगे'। चंद्रगुप्त भी इसी कथन का समर्थन करता है। यही नहीं, एकराष्ट्र की भावना पर प्रांतीय-प्रेम ने विजय प्राप्त कर ली थी और इसलिए वीरता तथा शक्ति में श्रेष्ठता का निबटारा करने के लिए चंद्रगुप्त चाणक्य से कहता है—'हम मागध हैं और यह सिंहरण मालव। अच्छा होता कि यहीं गुरुकुल में हम दोनों शक्ति की परीक्षा भी देते'। यह प्रांतीयता-प्रेम चंद्रगुप्त में ही नहीं, गांधार-राजकुमारी अलका में भी है। 'तुम्हारे देश के लिए तुम्हारा जीवन अमूल्य है'—अपने इस कथन के उत्तर में सिंहरण के मुँह से यह सुनकर—'मेरा देश मालव ही नहीं, गांधार भी है; यही क्या समग्र आर्यावर्त्त है'—अलका आश्चर्य से पूछ बैठती है—'क्या कहते हो'! इस विस्मय-बोधक वाक्य से स्पष्ट है कि यह संकुचित और हानिकारिणी भावना उस समय सारे उत्तरी भारत में फैल रही थी। संभवतः इसका कारण था बहुत से छोटे-छोटे राज्यों में देश का विभाजित होना। दूसरे शब्दों में, एक सर्वमान्य और सर्वशक्तिशाली सम्राट् के अभाव में देश की राष्ट्रीयता छिन्न-भिन्न होकर प्रांतीयता में बँट गयी थी और आगे चलकर यही शक्ति-विभाजन पंजाब में सिकन्दर की विजय का कारण हुआ। देश की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति से इस प्रकार पाठक को परिचित करा देना आवश्यक था और इसलिए 'प्रसाद' जी का यह प्रयत्न प्रशंसनीय समझना चाहिए।

राजतंत्र और प्रजातंत्र शासन-पद्धतियों में प्रजा की स्थिति कैसी थी, इसका अंतर भी नाटककार ने दो-एक स्थलों पर समझाया है। प्रथम अंक के चौथे दृश्य में तक्षशिला से लौटा हुआ एक ब्रह्मचारी स्नातक स्थिति की आलोचना करता हुआ कहता है—'गणतंत्रों में सब प्रजा वन्य वीरुध के समान स्वच्छंद फल-फूल रही है। इधर उन्मत्त मगध साम्राज्य की कल्पना में निमग्न है'। इस आलोचना में जिस मगध की आलोचना है, वह उस समय का सबसे शक्तिशाली साम्राज्य था। संभव है, सिद्धांतविहीन और विलासी नंद के शासन में प्रजा की स्थिति गणतंत्रों की तुलना में कितनी गिर गयी थी, उक्त कथन का उद्देश्य यही सूचित करना रहा हो, परंतु गणतंत्रीय शासन में प्रजा के अधिकारों की रक्षा राजतंत्रीय शासन से अधिक थी, उसकी सम्मति का मान भी अधिक था, इसकी पुष्टि भी मालव-गणतंत्र के अधिवेशन से हो जाती है।

राजनीति और विद्यार्थी—सिंहरण और चंद्रगुप्त यद्यपि नये स्नातक हैं, तथापि देश की स्थिति से वे अपरिचित नहीं प्रतीत होते। इससे प्रसाद जी का यह संकेत जान पड़ता है कि प्राचीन विश्वविद्यालयों में केवल पाठ्य-पुस्तकों की ही पढ़ाई नहीं होती थी, राजनीति की सामयिक समस्याएँ भी विद्यार्थियों के अध्ययन का प्रिय विषय थीं और इसके लिए राजनीति और अर्थशास्त्र के शिक्षक उन्हें सदा उत्साहित करते थे।

शासन-नीति—महापद्म के जारज पुत्र नंद और चंद्रगुप्त, दो सम्राटों के शासन-काल की कथा इस नाटक में है। दोनों के संबंध में नाटककार ने कुछ तथ्यपूर्ण संकेत किये हैं जिनसे दोनों का अंतर तो स्पष्ट होता ही है, यह भी पता चलता है कि प्रथम का अधिकार छिनते समय जरा भी रक्त-पात न होने का प्रमुख कारण क्या था।

प्रथम अंक के दूसरे दृश्य में नंद के स्वभाव के संबंध में लेखक ने स्पष्ट संकेत किये हैं। भरे समाज में वह स्वयं स्वीकार करता है—'मैं ब्रह्मास्त्र से भी अधिक इन सुंदरियों के कुटिल कटाक्षों से डरता हूँ। ×××। नागरिकों पर तो मैं राज्य करता हूँ ; परंतु मेरी मगध की नागरिकाओं का शासन मेरे ऊपर है'। पश्चात् चौथे दृश्य में पता चलता है कि अनाथ ब्राह्मण-कन्या सुवासिनी को उसने अपनी 'विलास-लीला का क्षुद्र उपकरण बना लिया है'। शासक की यह विलास-लिप्सा नागरिकों को भी पथ-भ्रष्ट कर दे और नंद उन्हीं का पक्ष लेकर उन्हें ही सारे अधिकार सौंप दे तो कोई आश्चर्य नहीं। यही होता भी है और इसी दृश्य में एक ब्रह्मचारी इसी नीति की आलोचना करता हुआ कहता है—'मगध को उन्माद हो गया है। वह जनसाधारण के अधिकार अत्याचारियों के हाथ में देकर विलासिता का स्वप्न देख रहा है'।

इसी चौथे दृश्य में नंद की शासन-नीति के दूसरे पक्ष पर उनकी पुत्री कल्याणी प्रकाश डालती है। अपनी सखी से वह कहती है—'महाराज के उद्यान में भी लताएँ ऐसी हरी-भरी नहीं, जैसे राज आतंक से वे भी डरी हुई हों। सच नीला, मैं देखती हूँ कि महाराज से कोई स्नेह नहीं करता, डरते भले ही हों। ××× मुझे इसका बड़ा दुख है। देखती हूँ कि समस्त प्रजा उनसे त्रस्त और भयभीत रहती है। प्रचंड शासन करने के कारण उनका बड़ा दुर्नाम है'। और राजकुमारी के इन वचनों से प्रेरित और आश्वस्त होकर नीला भी स्वीकारती है—'सखी, मुझ पर भी उनका कन्या सा ही स्नेह है ; परंतु मुझे (भी उनसे)

डर लगता है'। नंद की धर्म-नीति के संबंध में इसी दृश्य में दो ब्रह्मचारियों का वार्तालाप होता है। एक उत्तरापथ के गणतंत्रों के शासन की प्रशंसा करता है तो दूसरा कहता है—'वह सिद्धांत-नृशंस (नंद) कभी बौद्धों का पक्षपाती और कभी वैदिकों का अनुयायी बनकर, दोनों में भेदनीति चलाकर बल-संचय करता रहता है। मूर्ख जनता धर्म की ओट में नचायी जा रही है'। इस आलोचना से स्पष्ट होता है कि नंद की आस्था किसी धर्म पर नहीं है; प्रस्तुत वह प्रजा के धार्मिक अंध-विश्वास से, कूटनीतिज्ञ शासक की तरह, लाभ उठाता है। निश्चित है कि ऐसी कूट-नीति बहुत समय तक नहीं चल सकती। अंततः नंद का पतन होता है। और यह पतन भी कितना करुण है कि मगध का जो साम्राज्य उत्तरी भारत में सबसे अधिक शक्तिशाली था, उसी की राजसभा में, बिना किसी रक्त-पात के, सबके सामने उसकी हत्या कर दी जाती है और कोई उँगली भी नहीं उठाता।

राष्ट्रीयता की भावना—नाटक की कथा के लिए प्रसाद जी ने भारतीय इतिहास का वह भाग चुना है जब देश पर विदेशियों के आक्रमण होना आरंभ हुए थे और भारत की सम्मिलित शक्ति छिन्न-भिन्न होने के कारण शत्रुओं का सामना करने में असमर्थ थी। एक ओर ये आक्रमणकारी नित्यप्रति बढ़ते हुए अपने बाहुबल, बुद्धिबल और अर्थबल के बल पर उन्मत्त हो रहे थे और दूसरी ओर भारत आंतरिक विद्रोह, पारस्परिक कलह और हीन स्वार्थवृत्ति के कारण सशक्त होते हुए भी पराजित हो रहा था। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीयता की भावना का प्रचार प्रायः दो रूपों में किया जाता है—एक, जातीय अभिमान और गर्व-गौरव की महत्ता, स्वातंत्र्य की पुण्य भावना और पूर्वपुरुषों की वीरता के ओजमय गीत गाकर और दूसरे, संगठन के महत्व तथा तज्जनित सुखशांति की ओर उनका ध्यान आकर्षित करके। प्रसाद जी के नाटकों में, मुख्यतः 'स्कंदगुप्त' और 'चंद्रगुप्त' में, राष्ट्रीयता के दोनों रूप मिलते हैं; स्थिति को दोनों की आवश्यकता भी थी। इन दोनों नाटकों में स्वाभाविकता लाने के लिए दो-एक स्त्री-पुरुष-पात्रों को देश-भक्त बनाना अनिवार्य था। 'स्कंदगुप्त' में पर्णदत्त, बंधुवर्मा, भीमवर्मा, जयमाला और स्कंदगुप्त, सभी स्वतंत्रता के पुजारी हैं; उसकी रक्षा के लिए हँसते-हँसते मरमिटने को, देश-प्रेम की बलिवेदी पर चढ़ जाने को तैयार हैं। 'चंद्रगुप्त' में सिंहरण, अलका, चंद्रगुप्त, चाणक्य इत्यादि के हृदयों में देशभक्ति का अपूर्व स्रोत प्रवाहित हो रहा है और व्यक्तिगत सुखों को ठुकराकर वे स्वदेश की स्वतंत्रता रक्षा में प्राणों की बाजी लगा देते हैं।

भारतीय अभिमान और गर्व-गौरव की राष्ट्रीय भावना चंद्रगुप्त और सिंहरण में विशेष प्रबल है और विदेशियों से प्रत्येक संघर्ष में वे इसका सुंदर परिचय देते हैं। सिल्यूकस से चंद्रगुप्त का प्रथम परिचय कानन-पथ में होता है। यवन-सेनापति इसे मगध का निर्वासित राजकुमार समझ, 'कुछ विचारकर', अपने शिविर में चलने का निमंत्रण देता है, तब चंद्रगुप्त का उत्तर है—'धन्यवाद, भारतीय कृतघ्न नहीं होते। सेनापति! मैं आपका अनुगृहीत हूँ, अवश्य आपके पास आऊँगा'। दांड्यायन के आश्रम में चंद्रगुप्त के तेज से प्रभावित होकर सिकंदर पुनः उसे अपने शिविर में निमंत्रित करता है। और चंद्रगुप्त निर्भयता के स्वर में स्वीकारता है—'अनुगृहीत हुआ। आर्य लोग किसी निमंत्रण को अस्वीकार नहीं करते'।

यवनों से युद्ध में पौरव पर्व्वतेश्वर भी उन्हें यही बतलाना चाहता है कि 'भारतीय लड़ना जानते हैं'। मालव-दुर्ग के युद्ध में यवन-सम्राट् को घायल करके भी सिंहरण छोड़ देता और मालव-सैनिकों के विरोध करने पर समझाता है—'ठहरो मालव वीरो, ठहरो! यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर ऋण था; पर्व्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है'। इसी प्रकार चंद्रगुप्त भी यवन-सेनापति सिल्यूकस को घेर कर पुनः यह कह कर—'जाओ सेनापति, मुझ पर कृतज्ञता का बोझ है—तुम्हारा जीवन'—छोड़ देता है। यवन सम्राट् को भारत से विदा करते समय चाणक्य कहता है—'तुम वीर हो सिकंदर! भारतीय सदैव उत्तम गुणों की पूजा करते हैं। तुम्हारी जल-यात्रा मंगलमय हो। हम लोग युद्ध करना जानते हैं, द्वेष नहीं'।

द्वितीय यवनाक्रमण में चंद्रगुप्त सिल्यूकस का स्वागत जिन शब्दों से करता है, उनसे भी भारतीयता की भावना स्पष्ट होती है—'स्वागत सिल्यूकस! अतिथि की-सी तुम्हारी अभ्यर्थना करने में हम विशेष सुखी होते, परंतु क्षात्र-धर्म बड़ा कठोर है। आर्य कृतघ्न नहीं होते, प्रमाण यही है कि मैं अनुरोध करता हूँ कि यवन-सेना बिना युद्ध के लौट जाय'। यवन-सेना को पराजित करने के पश्चात् भी सिल्यूकस को बंदी न बनाकर चंद्रगुप्त कहता है—'यवन-सम्राट्! आर्य कृतघ्न नहीं होते। आपको सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देना ही मेरा कर्त्तव्य था। सिंधु के इस पार अपने सेना-निवेश में हैं आप; मेरे बंदी नहीं। मैं जाता हूँ'। और भारतीय कृतज्ञता का यह अद्भुत उदाहरण देखकर यवन-सम्राट् सिल्यूकस के मुख से स्वतः निकल जाता है—'इतनी महत्ता'!

चाणक्य और अलका, दोनों राष्ट्रीय भावना के प्रचार और संगठन का दूसरा कार्य करते हैं। चाणक्य मगध-नरेश नंद को, यवनों का सामना करने को प्रस्तुत पर्व्वतेश्वर की सहायता करने की सम्मति देता है और समझाता है कि यवनाक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मणों का भेद न रखेंगे। आगे चलकर यवन-सम्राट् सिकंदर के सहायक देशद्रोही आंभीक को भी वह सचेत करता है—'तुम्हारी भूल ने कितना कुत्सित दृश्य दिखाया, इसे संभवतः तुम न भूले होगे'। और आंभीक जब अपनी भूल स्वीकारता है तब चाणक्य ने समझाया—'चंद्रगुप्त का साम्राज्य मगध का नहीं है, यह आर्य-साम्राज्य है। उत्तरापथ के सब प्रमुख गणतंत्र मालव, शूद्रक, यौधेय आदि सिंहरण के नेतृत्व में इस साम्राज्य के अंग हैं। केवल तुम्हीं अलग हो'। और आंभीक सहमत होकर कहता है—'व्यर्थ का अभिमान अब मुझे देश के कल्याण में बाधक न सिद्ध कर सकेगा। ....मैं केवल एक बार यवनों के सम्मुख अपना कलंक धोने का अवसर चाहता हूँ'। इसी प्रकार चाणक्य ने मालव की युद्ध-परिषद् के सदस्यों में भी भारतीयता की भावना, एक व्याख्यान देकर, जाग्रत की है और संगठन का अपेक्षित महत्त्व बतलाया है।

अलका प्रथम यवनाक्रमण के अवसर पर सिंहरण से प्रतिज्ञा करती है—'मैं भी आर्यावर्त्त की बालिका हूँ। ....मैं आंभीक के पतन को शक्ति भर रोकूँगी'। पिता गांधार-नरेश के सामने उत्तेजित स्वर में उसने कहा है—'कुल पुत्रों के रक्त से आर्यावर्त्त की भूमि सिंचेगी। दानवी बनकर जननी जन्मभूमि अपनी संतान को खायगी। महाराज! आर्यावर्त्त के सब बच्चे आंभीक जैसे नहीं होंगे। वे इसकी मान-प्रतिष्ठा और रक्षा के लिए तिल-तिल कट जायँगे। स्मरण रहे, यवनों की विजयवाहिनी के आक्रमण को प्रत्यावर्तन बनानेवाले यही भारत-संतान होंगे। तब बचे हुए क्षात्रवीर गांधार को, भारत के द्वार-रक्षक को, विश्वासघाती के नाम से पुकारेंगे और उसमें नाम लिया जायगा मेरे पिता का! उसे सुनने के लिए मुझे न छोड़िए, दंड दीजिए—मृत्युदंड'।

इतने ओजस्वी शब्द भी देशद्रोहियों को प्रभावित करने में असफल देख 'आर्यावर्त्त की राजलक्ष्मी' अलका समस्त गांधार में विद्रोह मचाती फिरती है। द्वितीय यवनाक्रमण के समय भी उसका यही जीवनोद्देश्य है। अपने देशवासियों को संबोधित कर उसने कहा है—'तक्षशिला के वीर नागरिको! एक बार, अभी-अभी सम्राट् चंद्रगुप्त ने इसका उद्धार किया था। आर्यावर्त्त—प्यारा देश—

ग्रीकों की विजय-लालसा से पुनः पददलित होने जा रहा है; तब तुम्हारा शासक तटस्थ रहने का ढोंग करके पुण्यभूमि को परतंत्रता की शृंखला पहनाने का दृश्य राजमहल के झरोखों से देखेगा। तुम्हारा राजा कायर है और तुम'? अलका को वीर नागरिकों से अपने प्रश्न का अभीष्ट उत्तर ही मिलता है— 'माँ! हम लोग प्रस्तुत हैं'; परंतु इससे महत्तर सफलता उसे तब मिलती है जब अलका को 'हिमाद्रितुंग शृंग से' वाला गीत गाते सुनकर देशद्रोही आंभीक चाणक्य से प्रतिश्रुत होता है और अलका से स्वच्छ और निष्कपट हृदय से वीरोचित स्वर में कहता है—'बहन? तू छोटी है, पर मेरी श्रद्धा का आधार है। ....मैं देशद्रोही हूँ! नीच हूँ। तूने गांधार के राज-वंश का मुख उज्ज्वल किया है'।

प्रसाद जी के इस नाटक की एक विशेषता यह है कि इसके विदेशी पात्र भी भारतीय महत्व स्वीकारने में अपना गौरव समझते हैं। विश्व-विजय का स्वप्न देखनेवाला सिकंदर चंद्रगुप्त के सामने अपनी असफलता के पहले कहता है— 'भारत आज तक कभी विजित नहीं हुआ'। और विदा होते समय उसके गद्गद् कंठ से निकले उद्गार ये हैं—'आर्यवीर! मैंने भारत में हरक्युलिस, एचिलिस की आत्माओं को भी देखा और देखा डिमास्थनीज को। संभवतः प्लेटो और अरस्तू भी होंगे। मैं भारत का अभिनंदन करता हूँ।............मैं तलवार खींचे हुए भारत में आया, हृदय देकर जाता हूँ। विस्मय-विमुग्ध हूँ'। यवन सेनापति सिल्यूकस भी समय-समय पर भारतीय वीरों की प्रशंसा करता है और उसकी पुत्री कार्नेलिया तो भारतीय रंग-ढंग में इस तरह रँगी हुई है कि यदि उसका नाम और परिचय ज्ञात न हो तो उसके कथन और उद्गार सुनकर कोई भी उसे यवन-बालिका नहीं मान सकता। आज से लगभग चौबीस सौ वर्ष पहले जिन विदेशियों ने भारत पर आक्रमण करने का साहस किया था, उन्हीं के सम्राट् तथा अनुयायियों का इस प्रकार भारतीय गरिमा और महिमा का सहज स्वाभाविक स्वर से गान करते-करते गद्गद् हो जाना निश्चय ही नाटककार के अभिनंदनीय राष्ट्रीयता-प्रेम का परिचायक है।

सामाजिक स्थिति—चातुर्वर्ण्य व्यवस्था हमारे सामाजिक संगठन का मूल आधार कही जा सकती है। बौद्ध-धर्म के प्रादुर्भाव के साथ-साथ वह व्यवस्था छिन्न-भिन्न होने लगी थी और जिस समय की कथा को लेकर यह नाटक लिखा गया है, उस समय तक चारों वर्णों में पारस्परिक अविश्वास और वैमनस्य बहुत

बढ़ चुका था। सभी अपने-अपने गर्व में चूर थे। क्षत्रिय आंभीक चाणक्य से अपने प्रश्न का उत्तर न पाकर सक्रोध कहता है—'बोलो ब्राह्मण, मेरे राज्य में रहकर, मेरे अन्न से पलकर, मेरे ही विरुद्ध कुचक्रों का सृजन'! ब्राह्मणत्व में चूर चाणक्य जलद-गंभीर स्वर में उपेक्षा से उत्तर देता है—'राजकुमार, ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है; स्वराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है। वह तुम्हारा मिथ्या गर्व है। ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी स्वेच्छा से इन माया-स्तूपों को ठुकरा देता है। प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है'। आंभीक इस पर उपहास और तिरस्कार के साथ कहता है—'वह काल्पनिक महत्व मायाजाल है। तुम्हारे प्रत्यक्ष नीच कर्म उन पर पर्दा नहीं डाल सकते'। चाणक्य इस पर अत्यंत खीझकर उसे 'अविश्वासी क्षत्रिय' कहकर संबोधित करता है। तात्पर्य यह कि तक्षशिला का क्षत्रिय राजकुमार ब्राह्मणत्व के प्रति सम्मान दिखाने को प्रस्तुत नहीं है और ब्राह्मण चाणक्य को उसके क्षत्रियत्व पर प्रत्यक्ष अविश्वास है।

मगध के शासक नंद को चाणक्य शूद्र कहता है, क्योंकि उसको ब्राह्मणों से चिढ़ है। ब्राह्मण शकटार और चणक का वह सर्वनाश कर चुका है और बौद्ध धर्मावलम्बी होने के कारण ब्राह्मणों के शत्रु-रूप में प्रसिद्ध है। चाणक्य के परिचय रूप में 'ब्राह्मण' शब्द सुनते ही वह बहुत खीझकर कहता है—'ब्राह्मण! ब्राह्मण!! जिधर देखो, कृत्या के समान इनकी ज्वाला धधक रही है'। आगे चलकर जब नंद चाणक्य का प्रत्यक्ष अपमान करता है तब चाणक्य सक्रोध कहता है—'समय आ गया है कि शूद्र राजसिंहासन से हटाये जायँ और सच्चे क्षत्रिय मूर्धाभिषिक्त हों'। तात्पर्य यह है कि मगध की समस्या गांधार से भिन्न है। प्रश्न शासन का है जिसका अधिकारी क्षत्रिय है। शूद्र ने जब उसका अधिकार हस्तगत किया तब तक तो ब्राह्मण शांत रहा, परन्तु जब वह उसका अपमान करने पर उतर आया तब सच्चे क्षत्रिय की आवश्यकता का अनुभव पुनः चाणक्य को होता है; और उसकी सम्मति में वह क्षत्रिय गांधार-कुमार से भिन्न प्रकृतिवाला अर्थात् ब्राह्मणों का सम्मान करनेवाला होना चाहिए।

पंचनद-प्रदेश के क्षत्रिय शासक पौरव पर्व्वतेश्वर की राजसभा में ब्राह्मण चाणक्य का अपमान होता है। मगध के शासन का अंत करने के लिए चाणक्य, पर्व्वतेश्वर से सैनिक सहायता चाहता है जिससे वह चंद्रगुप्त मौर्य को सिंहासन

पर बैठा सके। वह प्रलोभन देता है कि मगध का उद्धार होने पर वहाँ की लक्षाधिक सेना आगामी यवन युद्ध में पौरव की पताका के नीचे युद्ध करेगी। पर्व्वतेश्वर व्यंग्य करता है—'मौर्य भी तो वृषल हैं; उनको सिंहासन दीजिएगा' ? उत्तर में चाणक्य, वशिष्ठ द्वारा पल्लव, दरद, कंबोज आदि के क्षत्रिय बनाये जाने की बात कहता है। पौरव फिर व्यंग्य करता है—'वह समर्थ ऋषियों की बात है।' चाणक्य इस पर खीझ जाता है और भरी सभा में तिरस्कार के साथ कहता है—'भविष्य इसका विचार करेगा कि ऋषि किन्हें कहते हैं। क्षत्रियाभिमानी पौरव तुम इसके निर्णायक नहीं हो सकते'। पर्व्वतेश्वर भी उसी के स्वर में उत्तर देता है—'शूद्र-शासित राष्ट्र में रहनेवाले ब्राह्मण के मुख से यह बात शोभा नहीं देती'। चाणक्य तब भविष्यवाणी-सी करता है—'आसन्न गांधार युद्ध में, शौर्य-गर्व से तुम पराभूत होगे। यवनों के द्वारा समग्र आर्यावर्त पादाक्रांत होगा। उस समय तुम मुझे स्मरण करोगे'। इस कथन से तिलमिलाकर पर्व्वतेश्वर बहुत खीझकर कहता है—'केवल अभिशाप-अस्त्र लेकर ही तो ब्राह्मण लड़ते हैं। मैं इससे नहीं डरता। परंतु डरानेवाले ब्राह्मण ! तुम मेरी सीमाओं के बाहर हो जाओ'। और तब क्षत्रिय पर्व्वतेश्वर द्वारा अपमानित ब्राह्मण चाणक्य अपने 'पददलित ब्राह्मणत्व' को जलने की आज्ञा देता हुआ जाता है।

यह तो हुआ ब्राह्मण-क्षत्रिय और ब्राह्मण-शूद्र का संघर्ष। इसके अतिरिक्त क्षत्रिय और शूद्र के पारस्परिक द्वेष की ओर भी लेखक ने संकेत किया है। पंचनद-प्रदेश का शासक पर्व्वतेश्वर क्षत्रिय है जो प्राच्य देश के बौद्ध और शूद्र राजा की कन्या से (प्रस्ताव आने पर भी) परिणय नहीं करना चाहता। मगध-जैसे शक्तिशाली राष्ट्र का इस प्रकार पर्व्वतेश्वर जब अपमान करता है तब सम्मिलित पारसीक यवनाक्रमण की सूचना पाकर भी उसकी सहायता को नंद प्रस्तुत नहीं होता। इस प्रकार यदि क्षत्रिय राजा को जातीय अभिमान है तो शूद्र राजा व्यक्तिगत अपमान के सामने राष्ट्रीय पराधीनता की बात नहीं सोचता। और इस प्रकार सचेत किये जाने के बाद भी कि यह आगन्तुक आपत्ति पंचनद प्रदेश तक ही न रह जायगी, आसन्न गांधार-युद्ध में कल्याणी के ससैन्य जाने के प्रस्ताव पर अमात्य राक्षस व्यंग्य मात्र करके चुप हो जाता है।

इसी प्रकार क्षत्रिय का क्षत्रिय से भी बैर है। विदेशी सिकंदर के आक्रमण करने पर गांधारराज उसे जिन कारणों से आश्रय देने को प्रस्तुत होता है, उनमें एक यह भी है कि उसका पंचनद-प्रदेश के क्षत्रिय राजा पर्व्वतेश्वर से

'बद्धमूल वैर' है। इसका कारण यह है कि इसने आंभीक का अपमान किया है। गांधार-नरेश ने अपने पुत्र आंभीक से पर्व्वतेश्वर की बहन के विवाह का प्रस्ताव भेजा था जिसके उत्तर में इसने कहलाया कि कायर आंभीक से मैं अपने लोक-विश्रुत कुल की कुमारी का ब्याह न करूँगा। आंभीक इस उत्तर से बहुत चिढ़ गया। इस प्रकार यहाँ भी व्यक्तिगत वैर ने राष्ट्रीयता की भावना को दबा दिया है।

धार्मिक स्थिति—बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों का संघर्ष इस नाटक में स्थान-स्थान पर चित्रित है। धर्म का मूल उद्देश्य भूल कर दोनों धर्मानुयायी एक दूसरे के कट्टर विरोधी हो गये। उनका दृष्टिकोण यहाँ तक संकुचित हो गया था कि मगधामात्य राक्षस तक्षशिला-जैसे विश्वविख्यात विद्यालय की शिक्षा की अनावश्यकता बताते हुए कहता है 'केवल सद्धर्म की शिक्षा ही मनुष्यों के लिए पर्याप्त है और वह तो मगध में ही मिल सकती है'। ब्राह्मण चाणक्य इस पर व्यंग्य करता है 'परंतु बौद्ध धर्म की शिक्षा मानव-व्यवहार के लिए पूर्ण नहीं हो सकती, भले ही वह संघ-विहार में रहनेवालों के लिए उपयुक्त हो'। यह कथन राजनीति की दृष्टि से, किसी सीमा तक ठीक हो सकता है; परंतु कुछ देर बाद ही, धर्मावेश में जब वह कहता है 'राष्ट्र का शुभचिंतन केवल ब्राह्मण ही कर सकते हैं'—तब हम इस दूरदर्शी व्यक्ति की भी दूरदर्शिता के विषय में संदेह में पड़ जाते हैं; क्योंकि उसका यह वाक्य संकुचित मनोवृत्ति का ही अधिक परिचायक जान पड़ता है। आगे चलकर चाणक्य, राक्षस को समझाता है—'यवन आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मण का भेद न रखेंगे'। इस सत्य की इतिहास में अनेक बार आवृत्ति हुई है, परंतु हमारी धर्मांधता ने हमें कभी सचेत न होने दिया और हम आज भी संकीर्ण विचारों को त्यागने में पूरी तौर से सफल नहीं हो सके हैं।

इस धार्मिक संघर्ष से मगध का शासक नंद सदैव लाभ उठाता है। प्रथम अंक के तीसरे दृश्य में प्रतिवेशी से हमें सूचना मिलती है, 'नंद को ब्राह्मणों से घोर शत्रुता है और वह बौद्ध धर्मानुयायी हो गया है।' ब्राह्मण शकटार और चणक पर उसके अत्याचारों की कथाएँ इस कथन की पुष्टि करती हैं। परंतु वास्तविकता का पता लगता है चौथे दृश्य में धर्मपालिका के इस कथन से—'वह सिद्धांत-विहीन नृशंस (नंद) कभी बौद्धों का पक्षपाती, कभी वैदिकों का अनुयायी बनकर दोनों में भेद-नीति चलाकर बल-संचय करता रहता है। मूर्ख जनता धर्म की ओट में नचायी जा रही है'।

प्राचीन शिक्षा—आज के युग में शिक्षा ने एक प्रकार से व्यापार का रूप धारण कर लिया है। जिसमें पूँजी लगाने की जितनी अधिक सामर्थ्य है, वह उतनी ही उपाधियाँ प्राप्त करके पत्र-योग्यता के बल पर ऊँचे से ऊँचा पद पा सकता है। परंतु निर्धन युवक साधन-हीनता के कारण, इच्छा रहते हुए भी मनचाही शिक्षा नहीं पा सकता। इसके विपरीत, प्राचीन विश्वविद्यालयों में धनहीनों को भी अच्छी शिक्षा पाने की सुविधा थी। विद्यालयों का शुल्क या गुरु-दक्षिणा चुकाने के लिए उन्हें कुछ समय के लिए अध्यापन-कार्य करना होता था। तक्षशिला के गुरुकुल में निर्धन चाणक्य इसी प्रकार शिक्षा प्राप्त करके गुरु-ऋण से मुक्त होता है। सिंहरण से वह कहता है—'इस वर्ष के भावी स्नातकों को अर्थशास्त्र का पाठ पढ़ाकर मुझ अकिंचन को गुरु-दक्षिणा चुका देनी थी'।

चरित्र-चित्रण और पात्र—

साधारण जनसमाज जिन व्यक्तियों में असाधारण गुण देखता है, स्वभावतः उनका सम्मान करने लगता है, उनके आगे श्रद्धा से मस्तक झुकाने में अपना गौरव समझता है। समाज में उनके चरित्र की विशेषताओं की चर्चा बड़े चाव से होती है। धीरे धीरे उनकी महान विशेषताएँ अतिरंजित रूप में प्रसिद्ध हो जाती हैं। उनका एक-एक सूत्र अपनाकर अनेक प्रकार की किंवदंतियाँ अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार लोग गढ़ लेते हैं। इतिहास-प्रसिद्ध ऐसे ही व्यक्तियों को नाटककार अपनी रचनाओं के प्रमुख पात्र बनाता है जिनके चरित्र मानव-हृदय को स्पर्श करने की क्षमता रखते हों। यह प्रयत्न वीर-पूजा का एक सुन्दर रूप है और इससे हमें नाटककार के राष्ट्रीयता के प्रति प्रेम का परिचय मिलता है।

'प्रसाद' जी भारत के प्राचीन गौरव पर गर्व करनेवाले, राष्ट्रीयता के चटक रंग में रँगे ऐसे ही कुशल नाटकार हैं जिन्होंने भारतीय इतिहास के उस उन्नत हिंदू-काल की प्रमुख घटनाओं को अपने ग्रंथों के लिए चुना है जिस पर कोई भी देश गर्व कर सकता है। इतिहासप्रसिद्ध घटनाओं से घनिष्ठतम रूप में संबंधित पात्रों के प्रति अपने ग्रंथों में उन्होंने प्रेमीजनोचित श्रद्धा दिखायी है, उनके गौरव और महान कार्यों का सविस्तार वर्णन किया है। किसी व्यक्ति के गुण-

दोष की चर्चा यदि उससे संबंधित व्यक्ति द्वारा ही करायी जाय तो वह विशेष चमत्कारपूर्ण और प्रभावशालिनी नहीं होती। इसीलिए परोक्षरूप से अपने पात्रों के गौरव-गान का कलापूर्ण प्रयत्न 'प्रसाद' जी ने यह किया है कि प्रतिष्ठित भारतीय पात्रों की महत्ता से चमत्कृत होकर समकालीन विपक्षी—विदेशी वीर, नायक और विदेशी यात्री—मुक्त कंठ से उनके असाधारण गुणों की चर्चा करें। 'राज्यश्री' में चीनी यात्री हुएनसाँग और 'स्कंदगुप्त' में सिंहलकुमार धातुसेन अनेक बार हर्ष से क्रमशः सम्राट हर्ष और युवराज स्कंदगुप्त की महत्ता से चकित होकर अपने प्रशंसात्मक उद्‌गार व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत नाटक में पौरव पर्व्वतेश्वर, चंद्रगुप्त, चाणक्य और अलका की प्रशंसा नाटककर ने जगद्विजेता सिकंदर, यवन-सेनापति सिल्यूकस, मगध-अमात्य राक्षस इत्यादि के द्वारा करायी है। चंद्रगुप्त के मुख का तेज इतना असाधारण है कि उसे हारे-थके और शिथिल रूप में भी देखकर सिल्यूकस के मुख से निकल जाता है—'यह तो कोई बड़ा श्रीमान् पुरुष है'? दांड्यायन के आश्रम में सिकंदर भी चकित होकर पूछता है—'यह तेजस्वी युवक कौन है'? इसी तरह पौरव (पर्व्वतेश्वर) की वीरता की प्रशंसा सिकंदर करता है। अलका के साहस पर प्रसन्न होकर उसने उसे भी देखने की इच्छा प्रकट की है। चाणक्य की नीति और दूरदर्शिता से अमात्य राक्षस बार-बार चकित होता है और सम्राट् होने पर यवन-सेनापति सिल्यूकस कहता है 'उस बुद्धिसागर, आर्य साम्राज्य के महामंत्री, चाणक्य को देखने की बड़ी अभिलाषा थी'।

परंतु इस नाटक में एक बात बहुत खटकती है। राष्ट्रीयता के भक्त होने के नाते, प्राचीन भारतीय गौरव की रक्षा करने के उद्देश्य से, विदेशी महत् चरित्रों को विशेषतारहित रूप में चित्रित करना और इस प्रकार अपनों के प्रति पक्षपात दिखाना, किसी भी उदार साहित्यिक के लिए प्रशंसा की बात नहीं है और फिर सहिष्णु तथा निर्लेप भारतीय संस्कृति और गौरव पर गर्व करनेवाले लेखक के लिए तो कदापि नहीं है। 'चंद्रगुप्त' नाटक के सभी विदेशी वीर कुछ ऐसी गुणरहित प्रकृति के चित्रित किये गये हैं कि उनके प्रति हम जरा भी आकर्षित नहीं होते। जिस जगद्विजेता सिकंदर ने भारतीय वीर पर्व्वतेश्वर के साहसपूर्ण शौर्य पर मुग्ध होकर अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया था, वह इस नाटक में लूट, हत्या और भय द्वारा आतंक फैलानेवाले हृदयहीन योद्धा के रूप में सामने लाया गया है। और उसकी बुद्धिहीनता सिद्ध करने

के लिए आंभीक, फिलिप्स, एनिसाक्रिटीज इत्यादि के सामने यवन-सेनापति सिल्यूकस 'अविवेकी' कहकर उसकी भर्त्सना करता है। लूट में मिली दारा की कन्या को उसने जबरदस्ती अपनी स्त्री बनाकर नृशंस लुटेरा होने का ही परिचय दिया है; तभी तो 'वह देवकुमारी-सी सुन्दर बालिका सम्राज्ञी कहने से तिलमिला जाती है'।

यवन-सम्राट की तरह ही यूनानी सेनापति सिल्यूकस का चरित्र भी विशेषता-रहित है—विशेषतारहित ही क्यों, उसे तो 'प्रसाद' जी ने बिलकुल कायर और मूर्ख ही बना दिया है। सिंहरण के सामने से वह भाग निकलता है और मालव के युद्ध में यह पूछे जाने पर कि तुम युद्ध चाहते हो या संधि, उत्तर देता है कि हम दोनों के लिए तैयार हैं जिसका संकेत यह हुआ कि युद्ध टल जाय और प्राण-भिक्षा मिल जाय तो अति उत्तम। मूर्ख वह इतना है कि अलका के लिए सिंहरण द्वारा दो बार 'राजकुमारी' का संबोधन सुनकर भी गांधार-नरेश के सामने काँपते हुए स्वर में कहता है—'मुझे नहीं मालूम था कि ये राजकुमारी हैं'। दांड्यायन के आश्रम में जब सिकंदर उससे पूछता है—'तुम्हारा चंद्रगुप्त से परिचय कब हुआ'—तब सिल्यूकस का निरर्थक उत्तर है—'मैं इन्हें पहले से जानता हूँ'।

यवनों का दूसरा सेनापति फिलिप्स भी इसी प्रकार एक निर्लज्ज लंपट के रूप में हमारे सामने आता है जो एकांत में कार्नेलिया को पाकर, इधर-उधर देखकर, जबरदस्ती उसका कर चूमना और इस प्रकार अपने उस प्रणय का परिचय देना चाहता है, जिसे उसका हृदय पहचानता है। परंतु इसी क्षण जब चंद्रगुप्त आकर, उसे गर्दनिया देकर धकियाता है, तो चुपचाप नतमस्तक वह चला भी जाता है। ऐनिसाक्रिटीज और मेगस्थनीज के चरित्र भी अनाकर्षक ही हैं। सारांश यह कि विश्व के इस महान विजेता और उसके निकटतम सहायकों को इस रूप में चित्रित करना कहाँ तक उचित था, वह विचारणीय है।

अन्य सामान्य बातें—

नायक कौन—शास्त्रीय दृष्टि से नाटक का नायक कहलाने का अधिकारी होता है वह व्यक्ति आदि से अन्त तक जिसका घनिष्ठतम संबंध प्रमुख- कार्य से बना रहे। आरंभ में कार्य-संपादन की इच्छा लेकर जो पात्र सामने आता है,

साधन जुटाकर कर्मवीर की तरह अपने पथ पर अग्रसर होता है, मार्ग में सफलता-असफलता की आशा-निराशा से आँख-मिचौनी खेलता हुआ अबाध और अविश्रांत गति से जो आगे बढ़ता जाता है और अंत में विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त करके सफलता का सुस्वादु फल चखता है, नाट्यशास्त्र में उसी को नायक मानने की बात कही गयी है। इस दृष्टि से चंद्रगुप्त को प्रस्तुत नाटक का नायक मानना चाहिए। भारत में यवनों के पैर जमने न देने और इस प्रकार विश्व-विजयोन्माद में मत्त अलक्षेंद्र के आक्रमण को व्यर्थ कर भारतीय स्वतन्त्रता की उज्ज्वलता को विशुद्ध बनाये रखने का प्रण जिस वीर ने किया है, सर्वथा साधनहीन होने पर भी अदम्य उत्साह, अनुपम धैर्य और अनुकरणीय अध्यवसाय के बल पर मार्ग में आनेवाली समस्त बाधाओं पर विजय और अपने इस महान कार्य में पूर्ण सफलता पाकर अंत में मगध का ऐश्वर्य-सम्पन्न साम्राज्य और यवन-राजकुमारी का पूर्व स्मृति की मधुरिमा से युक्त प्रेम जो वीर प्राप्त करता है, वह चन्द्रगुप्त ही नाटक का नायक होने योग्य है। ग्रन्थ का नामकरण उसी के नाम पर किये जाने से लेखक का स्पष्ट संकेत भी यही जान पड़ता है।

परन्तु संकट के प्रत्येक अवसर पर चाणक्य की दूरदर्शिणी बुद्धि का चमत्कार देखकर कभी-कभी दर्शक सोचने लगता है कि अपने शिष्य का भाग्यविधाता यह अद्भुत व्यक्ति क्यों न इस महत्वपूर्ण पद का अधिकारी समझा जाय? युवावस्था का अदूरदर्शी और आवेशपूर्ण उत्साह लेकर प्रथम दृश्य में ही चन्द्रगुप्त की चपलता जब दर्शकों की दृष्टि में उसे गिराने को होती है, तब चाणक्य का ही उत्साहवर्द्धक वात्सल्य उसकी सहायता करता है। आगे चलकर भी कार्य की सारी गति-विधि का निर्माण, संचालन, यहाँ तक कि इच्छानुकूल अंत भी चाणक्य की ही प्रेरणा और प्रयत्न से होता है। सारांश यह कि नाटक के प्रधान कार्य की सिद्धि के लिए यदि चन्द्रगुप्त की शक्ति आवश्यक थी तो चाणक्य की बुद्धि की आवश्यकता उसमें किसी दृष्टि में कम नहीं है।

यह सब होते हुए भी चन्द्रगुप्त को ही नाटक का नायक स्वीकारने का प्रधान कारण यह है कि चाणक्य भी स्वयं परदे के पीछे रहकर चन्द्रगुप्त को सामने रखना चाहता है। मस्तिष्क को यदि शक्ति का सहारा न मिले तो कोरी कल्पना इस प्रत्यक्ष जगत में कुछ नहीं कर सकती। चाणक्य का मस्तिष्क चन्द्रगुप्त-सी शक्ति पाकर ही अपने प्रयत्न में सफल होता है। चाणक्य के त्याग के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त में नायकोचित सभी सात्विक गुण वर्तमान हैं और एक समय तो चाणक्य तथा

सिंहरण के न रहने पर भी उसका उत्साह-सूर्य पूर्ण तेज से चमकता है। भयानक विपत्ति के इस अवसर पर चन्द्रगुप्त की आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास दिखाकर नाटककार संभवतः संकेत करता है कि अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति उसमें पर्याप्त है और चाणक्य के मस्तिष्क की सहायता से वंचित रहने पर भी अपने कर्म-पथ पर वह सोत्साह बढ़ सकता है।

रस—भारतीय नाटक-रचना-प्रणाली में सबसे प्रधान तत्व रस माना गया है। अन्य तत्वों की सार्थकता यही है कि रस की पूर्ण निष्पति में सहायक हों। विरोध, संघर्ष और युद्ध-प्रधान नाटक में केवल वीर रस की प्रधानता हो सकती है और यही चन्द्रगुप्त का प्रधान रस माना जा सकता है। शृंगार रस-पूर्ण कुछ स्थल भी इस नाटक में हैं, परंतु यह रस गौण पद का ही अधिकारी है।

खटकने वाली दो बातें—पात्र-पात्रियों को संकट की विकट स्थिति में डालकर दर्शक को उत्सुकता बढ़ाना नाटकीय कुशलता का एक अंग है; परन्तु संकटों से पात्रों की रक्षा करते समय ध्यान रखने की बात यह है कि जिन उपायों का सहारा नाटककार ले वे स्वाभाविकता-सरलता का विरोध करनेवाले और बनावटी न हों; ऐसा न जान पड़े कि लेखक ने बरबस किसी पात्र को इस कार्य के लिए यहाँ भेज दिया है। प्रस्तुत नाटक में कई बार ऐसे स्थल आये हैं कि विपत्ति का आभास होते ही संकटापन्न व्यक्ति की रक्षा करनेवाला पात्र उचित अवसर पर इतनी शीघ्रता से पहुँच जाता है जैसे वह पर्दे के पीछे खड़ा देख रहा था कि कब उस पर संकट पड़े और कब मैं दौड़ूँ। प्रथम अंक, चौथे दृश्य में नन्द का अहेरी चीता पिंजड़े से निकल भागता है। मंच पर कल्याणी और उसकी सखियाँ उसे अभी देख भी नहीं पातीं कि एक तीर मारकर धनुष हाथ में लिये चन्द्रगुप्त प्रवेश करता है जैसे एहसान जताने आ गया हो। इसी अंक के छठे दृश्य में राजकुमारी अलका से मानचित्र छीनने के लिए यवन ज्यों ही हाथ बढ़ाता है, त्योंही सिंहरण प्रवेश करता है और राजकुमारी की जान में जान आती है। इसके बाद वाले सातवें दृश्य में अमात्य राक्षस चाणक्य को अंधकूप में भेजने की बात सोचता ही है कि प्रहरियों को मार कर चन्द्रगुप्त प्रवेश करता है। कार्नेलिया, कल्याणी, सुवासिनी, पर्व्वतेश्वर आदि अन्य पात्र-पात्रियों के सामने भी इसी तरह के अवसर आते हैं जब उनका संबंधी पात्र—प्रायः उनका प्रिय पात्र—एक क्षण का बिलंब किये बिना ही आ उपस्थित होता है।

खटकने वाली बात ऐसे स्थलों पर यह है कि इस व्यावहारिक जगत में

विपत्तियाँ तो पग-पग पर मिलती हैं, पर उनसे प्राण की रक्षा करनेवाला शायद ही कभी दिखायी देता हो; और अपवाद-स्वरूप अवसरों को छोड़कर मनुष्य को स्वयं ही सदैव संकट झेलने पड़ते हैं। आकस्मिक और अनुमानित, दोनों प्रकार की विपत्तियों से संकट में पड़े व्यक्ति की सहायता के लिए ठीक अवसर पर दूसरे व्यक्ति का—और ऐसे व्यक्ति का जिससे उसका धनिष्ठ संबंध है, प्रवेश कराना निस्संदेह दर्शक के चित्त को चमत्कृत नहीं करता। बार-बार इसी तरह संकटापन्न पात्रों की रक्षा होते देख दर्शक का कौतूहल भी नहीं बढ़ता; क्योंकि ज्योंही किसी पात्र पर विपत्ति आती है, वह उसका ध्यान छोड़कर नेपथ्य की ओर देखने लगता है कि इसे बचाने कौन आ रहा है और उसने इतनी देर कहाँ और क्यों लगायी है।

खटकने वाली दूसरी बात नाट्यकथा के समय से संबंध रखती है। यवनकुमारी कार्नेलिया सिकंदर के आक्रमण के समय पिता के साथ भारत आयी है। द्वितीय अंक के आरंभ में हमारा उससे प्रथम परिचय होता है। इस समय उसकी अवस्था लगभग बीस वर्ष की है। सिकंदर की मृत्यु के पश्चात् सिल्यूकस ने भारत पर आक्रमण किया। इतिहास में यह घटना यवनागमन से बीस-बाइस वर्ष बाद की है। युद्ध में भारत सम्राट् चंद्रगुप्त ने सिल्यूकस को बुरी तरह हराया। इसी समय यवन-साम्राज्य पर ऐंटिगोनस की चढ़ाई और परिणामस्वरूप भारी विप्लव की आशंका सिल्यूकस को विचलित कर देती है। चाणक्य इस अवसर से पूरा लाभ उठाता है और संधि का मुख्य प्रस्ताव यह सामने रखता है कि राजकुमारी कार्नेलिया का सम्राट चंद्रगुप्त से परिणय करके स्थायी संधि कर ली जाय। सिल्यूकस इस प्रस्ताव को 'असंभव और घोर अपमान-जनक' समझता है। परंतु चंद्रगुप्त और राजकुमारी के पूर्व परिचय की बात जानकर दूसरे ही क्षण उसे स्वीकार भी कर लेता है। इस प्रकार लगभग चालीस वर्ष की अवस्था की कार्नेलिया का विवाह सम्राट चन्द्रगुप्त से होता है।

प्रश्न यह है कि यवन-सम्राट सिल्यूकस ने अपनी पुत्री को इन बीस वर्षों तक अविवाहित क्यों रखा? क्या कार्नेलिया भी चालीस वर्ष की अवस्था तक अविवाहित इसलिए रही कि उसका विवाह चंद्रगुप्त से हो जाय? प्रसाद जी ने कार्नेलिया के हृदय में प्रेम की पूर्व स्मृति के संबंध में यद्यपि संकेत किया है कि उसने चंद्रगुप्त के विरुद्ध पिता के आक्रमण की सूचना पाकर अनेक बाधाएँ उपस्थित कीं, तथापि युवावस्था के स्वर्णकाल में उसके अविवाहित रहने का यह स्पष्ट और यथार्थ कारण नहीं कहा जा सकता।

अभिनय के मंच पर सैकड़ों कोसों के व्यवधान का कोई मूल्य नहीं होता, यह कहकर अवस्था के इस अंतर पर भी ध्यान न देने का तर्क, संभव है, इस आक्षेप के उत्तर में उपस्थित किया जाय, और इस दृष्टि से किसी सीमा तक यह ठीक भी होगा कि पचीस-तीस वर्ष का समय अन्य पात्रों के जीवन पर कोई प्रभाव नहीं डालता—बालक, युवक, प्रौढ़ और वृद्ध, सभी इतना समय बिताने के पश्चात् अंत तक अपनी पूर्वावस्था के ही बने रहते हैं; परंतु इतने लंबे समय में समाप्त होने वाली कथा अपनाना भी निश्चय ही दोष है और इसलिए इस तर्क से कार्नेलिया की अवस्था-संबंधी खटकने वाली बात के दोष का परिहार नहीं होता। काल की दृष्टि से भी चंद्रगुप्त के प्रति कार्नेलिया के मन में प्रेममयी स्मृति बसा देना विशेष आकर्षक और चमत्कारपूर्ण नहीं बन सका है। हाँ, इससे यवन-सम्राट सिल्यूकस के गौरव की थोड़ी-बहुत रक्षा हुई मानी जा सकती है; क्योंकि एक क्षण पहले जिस प्रस्ताव को मेगस्थनीज के मुँह से सुनकर घृणा से वह कहता है—'अधम ग्रीक, तुम इतने पतित हो' !—उसी को कार्नेलिया के हृदयाकर्षण की बात सुनकर, वात्सल्य की प्रेरणा से दूसरे ही क्षण स्वीकार कर लेता और सहर्ष कहता है—'तू सुखी हो बेटी! तुझे भारत की सीमा से दूर न जाना होगा। तू भारत की साम्राज्ञी होगी'।

❀ समाप्त ❀